CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1.3 VHP

ान निबन्ध रत्नावली

3964

लेखक:-
श्री मिलापचन्द्र कटारिया
श्री रतनलाल कटारिया
केकड़ी, अजमेर

प्रकाशक
श्री वीर शासन संघ
२९ इन्द्र विश्वास रोड, कलकत्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत 'रत्नावली' में विद्वान् लेखकों के उन निबंधों का संग्रह है जिनसे जैन साहित्य, संस्कृति एवं समाज के संबंध में प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ग संख्या..... प्राप्ति-संख्या.....

ग्रन्थ-कार्ड

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम जैननिबन्ध रत्नावली

लेखक मिलाप चंद कटारिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन निबन्ध रत्नावली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन निबन्ध रत्नावली

[शोध खोज पूर्ण मौलिक निबन्ध]

लेखक
श्री मिलापचन्द्र कटारिया
श्री रतनलाल कटारिया

प्रकाशक
श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक :
मंत्री, श्री वीरशासन संघ
कलकत्ता.

प्रथम संस्करण
अप्रैल १९६६
मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
बी० २०/४४ भेलूपुर, वाराणसी–१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

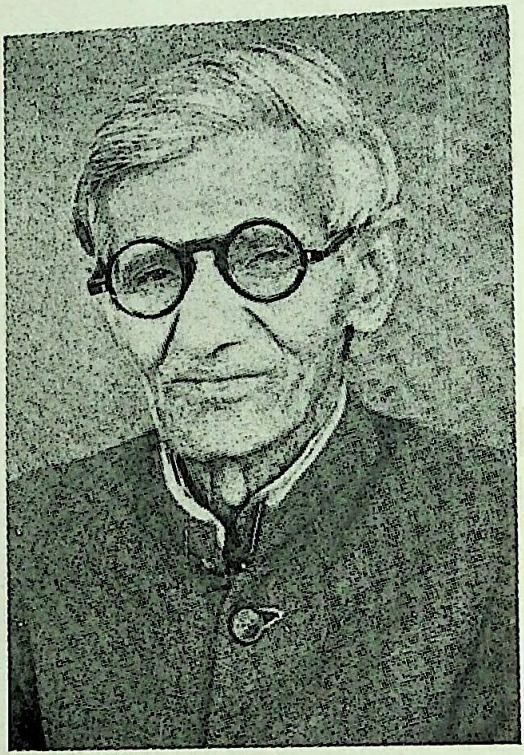

श्री पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• त्वदीयं वस्तु हे विज्ञ ! तुभ्यमेव समर्प्यते •

समर्पण

•

शास्त्र मर्मज्ञ, निर्भीक वक्ता, कुशल लेखक, मार्मिक-समालोचक, निष्पक्ष विचारक, शुद्धाम्नाय परिपोषक, सन्मार्ग प्रदर्शक, सद्धर्म प्रचारक, शास्त्रसभा संचालक, साहित्यरसिक, सुकवि, शोधखोज प्रेमी, गुणिजनानुरागी, सज्जनोत्तम, विद्वद्रत्न, संस्कृत साहित्य विज्ञाता, अनेक शिष्य निर्माता, धर्मग्रंथ प्रणेता, पंडित प्रवर

श्रीमान् चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ

(आचार्य–श्री जैन संस्कृत कालेज, जयपुर)

की सेवा में

यह विद्वज्जनमनरंजनी ज्ञाननिधि-महान् मौलिक कृति

सादर समर्पित

•

—मिलापचन्द्र रतनलाल कटारिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय वक्तव्य

वीरशासन संघ कलकत्ता की ओर से "जैन निबन्ध रत्नावली" प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष होता है। इस 'रत्नावली' में समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० मिलापचंदजी कटारिया, एवं उनके सुपुत्र श्री रतनलाल जी कटारिया, केकड़ी (राजस्थान) के उन निबंधों का संग्रह है जो समय-समय पर जैन पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं किन्तु अब सुलभ नहीं हैं। कुछ निबंध पहली बार भी दिए जा रहे हैं।

श्री कटारिया-द्वय व्यवसाय में लगे रहते हुए भी आगमानुकूल साहित्य सृजन करने के लिए यथावसर समय निकालते रहते हैं जो उनकी आगम के प्रति रुचिका द्योतक है।

जैसे दिगम्बर जैन समाज में अनेक उत्तरकालीन ग्रंथ कुंदकुंद उमास्वामी आदि मान्य आचार्यों के नाम पर मढ दिए गए हैं वैसे ही अनेक मिथ्यात्वपोषक एवं अनावश्यक क्रियाकाण्ड भी जैन संस्कृति के अंग बताए जाने लगे हैं एवं तत्समर्थक त्रिवर्णाचार, चर्चासागर, उमास्वामी श्रावकाचार आदि साहित्य भी रच डाला गया है या प्राचीन साहित्य का अर्थ एवं विवेचन अपने मनोनुकूल पक्ष के पोषण के लिए किया गया है। इन सब से न केवल साधारण ज्ञानवाले श्रावक अपितु विद्वान् भी दिग्भ्रम हो जाते हैं। वे वास्तविकता जानना चाहते हैं किन्तु उनके लिए भारी भरकम पोथे उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि उनके पास न तो इतना समय है और न हो बुद्धि कि वे उनको भली प्रकार अवगाहन कर यथार्थता जान सकें। ऐसे पाठकों को विशेष लक्ष्य में रखते हुए प्रस्तुत 'रत्नावली' प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया है। इन निबंधों में विद्वान् लेखक अपने विभिन्न आचार्यों एवं उनकी रचनाओं, अनेक क्रियाकांडों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्राचीन ग्रन्थों से खोज युक्त साधार सामग्री प्रस्तुत की है जो हमारी मिथ्या धारणाओं का निरसन करते हुए हमें शास्त्रानुकूल सच्चे मार्ग की ओर ले जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशा है कि इस 'रत्नावली' से जैन समाज लाभ उठायेगा तथा मिथ्यात्व पोषक एवं अनावश्यक क्रियाकाण्डों व रूढियों को छोड़कर, अपने ज्ञान का विकास कर भगवान वीर के सच्चे अनुयायी बनते हुए अपना कल्याण करेगा इसी पुनीत भावना से प्रेरित होकर इस 'रत्नावली' का प्रकाशन सच्चे दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए किया गया है।

लेखक द्वय ने अपने लेखों के प्रकाशन की स्वीकृति दी है, वे प्रूफ संशोधन भी करते रहे हैं उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। जैन समाज के प्रमुख विद्वान् माननीय पं० कैलाशचंदजी शास्त्री ने मेरे अनुरोध से इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर 'रत्नावली' की उपयोगिता में वृद्धि की है जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

वर्तमान में दिगम्बर जैन समाज में शिथिलाचार और मिथ्यात्व पोषक रूढ़ियों का निरसन करने में श्री पं० चैनसुखदासजी सा० का प्रमुख हाथ है। अनेके व्यक्ति उनके लेखों एवं भाषणों से प्रभावित होकर मिथ्यात्व छोड़ने में सफल हुए हैं ऐसे युग स्रष्टा विद्वान् को 'रत्नावली' समर्पित कर लेखक द्वय ने स्तुत्य कार्य किया है। मुझे आशा ही नहीं, विश्वास है कि जैन समाज दीर्घ काल तक ऐसे महान् विद्वान् से पथ-प्रदर्शन पाती रहेगी।

अंत में पुस्तक के मुद्रक महावीर प्रेस का भी आभार प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ जिनके सत्प्रयत्नों से पुस्तक सुन्दर रूप में प्रस्तुत की जा रही है।

मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी
कलकत्ता
१६-१-६६

—छोटेलाल जैन

नोट—श्रद्धेय बाबूजी ने मृत्यु शैय्या पर पड़े-पड़े भी उक्त मंतव्य लिखाया था। यही उनका अंतिम वक्तव्य समझना चाहिए।

—बंशीधर शास्त्री एम० ए०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन निबन्ध रत्नावली पर

सम्मति

It has been a pleasure for me to peruse the various articles included in the Nibandharatnāvalī. Some of them are from the pen of Shri Ratanlal Kataria and Some from that of his revered father. Such a continuity of critical study in the family is indeed rare in these days. The articles have a special reference to Jainological studies; and the topics covered therein are literary, cultural and socio-religious. On the whole the themes are discussed in a critcal manner with a sense of balance: everywhere there is an earnesestness to reach the truth in the light of the evidence available. For this approach the writers deserve our congratulations. Some of the articles have an abiding value; and they bring out fresh material useful for further studies. I welcome the publication of these articles in a handy volume, and expect more such study from Shri Kataria.

Dhavalā
VIII, Rajarampuri,
Kolhapur 12-1-66 (a. n. upadhye)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी अनुवाद

निबन्धावली के विभिन्न निवन्धों को सावधानता पूर्वक पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। उनमें से कुछ निबन्ध श्री रतनलाल कटारिया की लेखनी से प्रसूत हुए हैं तो कुछ निबन्ध उनके पूजनीय पिता की लेखनी से लिखे गये हैं। एक वंश में तुलनात्मक अध्ययन की ऐसी परम्परा आज के समय में सचमुच दुर्लभ है। निबन्ध मुख्यरूप से जैन विज्ञानविषयक अध्ययन से सम्बद्ध हैं। और उनका विषय साहित्य संस्कृति और सामाजिक धर्म है। उनमें विषयों की तुलनात्मक समीक्षा बहुत ही सन्तुलित रीति से की गई है। सर्वत्र प्राप्त प्रमाणों के प्रकाश में सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न ही परिलक्षित होता है। इस सत्प्रयत्न के लिये लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं। कुछ निवन्ध अपना स्थायी मूल्य रखते हैं उनसे ऐसी नवीन सामग्री प्रकाश में आई है जो विशेष अध्ययन के लिये उपयोगी है। मैं इन निबन्धों के पुस्तकरूप में प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और श्री कटारिया से इस प्रकारके और भी अधिक अध्ययन की आशा करता हूँ।

—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निबंध-सूची

१. प्राकृत भाषा के प्रति हमारी उपेक्षा (दिगम्बर जैन वर्ष २८ शिक्षांक "जैनमित्र" माघसुदो ११ वीर सं० २४६१) १

२. देवनन्दि और गुणभद्र के अभिषेक पाठ (जैन संदेश शोधांक ११, १२ सन् १९६१) ५

३. त्रिवर्णाचारों और संहिता ग्रंथों का इतिहास (जैन संदेश, शोधांक ७ अप्रैल ६०) २५

४. क्या ऋषि मंडल स्तोत्र दिगंबर परंपरा का है ? (जैन संदेश, शोधांक ८ जुलाई ६०) ३१

५. भास्करनन्दि और श्रीपालसुत डड्ढा (जैन संदेश, शोधांक १९ अगस्त ६४) ३६

६. देवसेन का भावसंग्रह (महावीर जयंती स्मारिका, जयपुर सन् १९६२) ३९

७. जयसेन प्रतिष्ठापाठ की प्रतिष्ठा विधि का अशुद्ध प्रचार (अनेकांत वर्ष १५ कि० १ अप्रैल १९६२) ६५

८. जैनधर्म और हवन (जैन संदेश, शोधांक २० नवम्बर ६४ ७९

९. आशाधर प्रतिष्ठा पाठ में नवग्रहों का अद्भुत वर्णन (जैन संदेश, शोधांक १० फरवरी ६१) ९०

१०. श्रमण का भिक्षाधर्म (श्रमणोपासक, वर्ष २ अंक १३ जनवरी ६५) ९८

११. मंगलोत्तमशरण पाठ (अनेकांत, वर्ष २ कि० ३ अगस्त ६२) १०६

१२. समाधिमरण : जीवन सुधार की कुंजी (जैनमित्र, शांतिसागर जी स्मारक विशेषांक मार्च' ५६) ११३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३. जैन संघ और जैन संदेश (जैन संदेश, रजत जयंती विशेषांक अप्रैल १९६२) ११७
१४. तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण (महावीर जयन्ती स्मारिका जययुर सन् १९६२) १२९
१५. कर्म ग्रंथ त्रय (जैन संदेश, शोधांक ४ जुलाई ५९) १४६
१६. काव्यों के अंक (जैन संदेश शोधांक ७ अप्रैल ६०) १५१
१७. टोड़रमल श्रावकाचार (जैन संदेश, शोधांक ८ जुलाई ६०) १५७
१८. तेष्यगिरि नहीं तक्षकपुर (जैन संदेश १ दिसम्बर ६०) १६१
१९. नेमिप्रभु की बारात (जैन संदेश, १ सितम्बर ६०) १६४
२०. यह अष्टमूलगुण प्रतिपादक श्लोक किसका है ? (जैन संदेश जनवरी ५८) १६९
२१. नौ बलदेवों के नाम और पद्मचरित (जैन संदेश १५ सितंबर ६०) १७२
२२. 'पद्मचरित' में गंधर्व देवादि का मद्यपान (जैन संदेश सन् १९६०) १७७
२३. 'तिलोयपण्णति और दिगंबर पुराण' पर विचार (जैन संदेश २३-३० अगस्त ५६ तथा ३० मई ५७ से जुलाई ५७) १८६
२४. रात्रि भोजन त्याग छट्ठा अणुव्रत (अनेकांत, वर्ष १५ कि० १ अप्रैल ६२) २०५
२५. 'दर्शन' का अर्थ 'मिलना' (अनेकांत वर्ष १५ कि० २ जून ६२) २१८
२६. चमर (जैन संदेश, २ अप्रैल ५९) २२१
२७. उत्तम त्याग धर्म (जैन संदेश, २५ सितम्बर ५८) २२५
२८. धरणेन्द्र पद्मावती (जैनमित्र भादवा सुदो ५ वि०सं० २४८३) २३२
२९. वसुनन्दि और उनका प्रतिष्ठासार संग्रह (जैनमित्र, ९ जुलाई ५३) २३६
३०. प्रतिष्ठाशास्त्र और शासनदेव (जैन संदेश, ११ सितम्बर, ५८) २४१
३१. जिन प्रतिमा का माप (जैन संदेश, ११ जून '५९) २४७
३२. दश दिग्पाल (जैन संदेश, १९,२६ जून ५८) २५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३३. इसे भक्ति कहें या नियोग ? (जैन संदेश, ८ जनवरी' ५९) २५८
३४. पंचोपचारी पूजा (जैनमित्र, माघ सुदी ४ वीर सं० २४८४) २६२
३५. देवसेन का नयचक्र (जैन संदेश, १४ नवंवर '५७) २६७
३६. जीवतत्व विवेचन (मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ सन् १९६५') २७१
३७. भरतैरावत में वृद्धि ह्रास किसका है ? (दिगंवर जैन विशेषांक वर्ष २२ वि० सं० १९८५) २८४
३८. उपलब्ध जैन ग्रंथोंमें ज्योतिषचक्र की व्यवस्था (दिगंवर जैन, विशेषांक वर्ष २६ वि० सं० १९८९) २९१
३९. गोत्र कर्मका संक्रमण (जैनदर्शन, मासिक १ सितंबर' ३६) ३०१
४०. चौवीस यक्ष यक्षियां (जैन संदेश, २३ अक्टूबर '५८) ३०७
४१. जैन तिथि और व्रततिथि (जैन दर्शन, पाक्षिक १६-१-३६) ३१४
४२. व्रततिथि निर्णय ग्रंथ का निरीक्षण (जैन संदेश, १९ नवंवर '५९) ३२६
४३. भक्तामर स्तोत्र (जैनमित्र, चैतसुदी १ वीर सं० २४८५) ३३४
४४. तेरा पंथ और बीसपंथ (जैन संदेश, २० मार्च '५८) ३४३
४५. पंचास्तिकाय की १११ वीं गाथा प्रक्षिप्त है (जैन संदेश, १६ मार्च ६१) ३४६
४६. तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है ? (जैन संदेश, २८ अप्रैल '६०) ३५२
४७. कल्याणक रास और कल्याणमाला (नया निवंध) ३५९
४८. कुछ श्लोकोंके अर्थ पर विचार (जैन संदेश, २४ मार्च—१ मई '५८) ३६९
४९. 'विधा' का 'आहार' अर्थ पर (जैन संदेश, १२ जून ३० अक्टूबर १६ नवंवर सन् १९५८) ३७५
५०. मूलसंघ में पंचामृताभिषेक का अभाव (नया निवंध) ३९३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्म-निवेदन

बाह्याभ्यंतरभेदेन द्विविधेऽपि तपोविधौ।
अज्ञानप्रतिपक्षत्वात् स्वाध्यायः परमं तपः ॥६९॥ सर्ग १

—हरिवंशपुराण

(अर्थः—बाह्य और आभ्यंतर दो प्रकार के तप में अज्ञान का विरोधी होने से स्वाध्याय ही उत्कृष्ट तप है।)

निरस्तसर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः।
प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषास्वाध्यायतोऽन्योऽस्ति ततो न योगः ॥८७॥

—अमितगतिश्रावकाचार, परिच्छेद १३।

(अर्थः—जिससे प्राणी समस्त इन्द्रिय विषय और कषाय की प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करता है और जो जन्मसंतति के अंकुर को शुष्क करने में सूर्य के समान है ऐसे स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई योग नहीं है।)

यह प्रस्तुत विद्वद्भोग्य 'निबन्धरत्नावली' भी वर्षों के निरन्तर स्वाध्याय का ही विशिष्ट फल है। इसमें कुल ५० निबन्ध हैं जिनमें दो नये लिखे गये हैं बाकी सब पहले जैनपत्रों में प्रकाशित हुए हैं। कौन निबंध कब किस पत्र में प्रकाशित हुआ है यह निबंध सूची में प्रदर्शित किया गया है।

पूर्व प्रकाशित इन निबंधों में आवश्यक संशोधन और परिवर्द्धनादि किया गया है। इस तरह इनको काफी परिष्कृत कर अत्यन्त प्रमेयबहुल बनाया गया है।

इनमें अनेक निबंध परस्पर संबद्ध है अतः विद्वान् पाठकों से प्रार्थना है कि उनको कहीं कोई शंकास्पद स्थल प्रतीत हो तो पहले धैर्यपूर्वक समग्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रंथ का अध्ययन कर लें या बहुश्रुताभ्यासियों से पूछ लें फिर भी किसी शंका का समाधान न हो तो वे हमें पत्र लिख कर पूछ सकते हैं सहर्ष हम उसका समुचित उत्तर देंगे। विना ऐसा किये जैन पत्रों में किसी विषय पर वाद-विवाद प्रारम्भ कर वातावरण को दूषित करना योग्य नहीं है।

इन निबंधों में—सिद्धांत, इतिहास, आचार, दर्शन, भाषा, साहित्य, भूगोल, ज्योतिष, संहिता, पूजन, प्रतिष्ठा और मूर्त्तिनिर्माणादि विविध विषयों पर अनेक मौलिक विचार ज्ञानसूत्र नूतन तथ्य; सरल सुबोध रुचि-कर भाषा में ग्रथित किये गये हैं। इस प्रकार जनसाधारण और विशेषकर शोध-खोज प्रेमियों एवं डॉक्टरों (विद्वानों) के लिए ज्ञान की विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है।

इन निबंधों में—

(१) "आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्"।

इस सूत्र के अनुसार अनेक लेखक-विद्वानों त्यागियों की विविध गलतियों, शास्त्रवाक्यों पर उनकी अनुचित आपत्तियों का समीक्षापूर्वक निरसन और समाधान करके शास्त्र-संगतता प्रदर्शित की गई है और अनेक मार्मिक बातें प्रकट की गई हैं।

(२) "को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे"।
"दोषा वाच्या गुरोरपि"।

इन सूत्रद्वय के अनुसार प्राचीन अर्वाचीन अनेक ग्रंथकारों के पूर्वा-चार्यों से असम्मत, सिद्धांत-विरुद्ध कतिपय असंगत कथनों को एवं जैनधर्म की मूल प्रकृति—वीतरागता अहिंसा एवं अपरिग्रहता से बाधित कुछ प्ररू-पणाओं को प्रकट किया गया है जो गंभीरता पूर्वक निष्पक्ष भाव से मननीय है।

जो कुछ हमने समीक्षण किया है उसे उस तक ही सीमित रखना योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन ग्रंथों और ग्रंथकारों को हमने अमान्य बताये हैं उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि—हम उन ग्रंथों को जैनधर्म से बहिष्कृत कर रहे हैं हमारे लिखने का इतना ही अभिप्राय लेना चाहिए कि—उन ग्रंथों में जो कथन मूलसंघ के अनुसार नहीं हैं उन्हें न माना जावे।

इस विषय में हमारी दृष्टि भगवतीआराधना की निम्नांकित गाथा के अनुसार है।

गिहिदत्थो संविग्गो अत्थुवदेसे ण संकणिज्जो हु।
सो चेव मंदधम्मो अत्थुवदेसम्मि भयणिज्जो ॥३५॥

अर्थः—गृहीतार्थ कहिये जिसने आगम के अर्थ को प्रमाण नयनिक्षेप से, गुरु परिपाटी से एवं स्वानुभव प्रत्यक्ष से भली प्रकार ग्रहण किया है और जो संविग्न कहिये संसार-देह भोगों से विरक्त है, पापों से भयभीत है ऐसा सम्यग्ज्ञानी आगमार्थ के उपदेश में शंका करने योग्य नहीं है। किन्तु जो इससे विपरीत मंद आचार विचारवान् है उसका तत्त्वोपदेश भजनीय है—अर्थात् समीचीन आगम से सम्मत कथन हो तो माननीय और प्रामाणिक है अन्यथा नहीं।

जो ग्रंथ या ग्रंथकार मूलसंघ का नहीं है कहीं-कहीं उसका भी प्रमाण हमने अपने वक्तव्य की पुष्टि में दिया है उसका यह अर्थ नहीं है कि—हमने उसे प्रमाण कोटि में मान लिया है। प्रतिपक्षी उसे प्रमाण मानते हैं इस अपेक्षा से हमने उसे प्रमाण में पेश किया है। जैसे हमने पद्मपुराण-हरिवंशपुराण की अमान्यता में इन्द्रनंदि के नीतिसार का प्रमाण दिया है तो इसका मतलब यह नहीं है कि—हम नीतिसार को प्रमाण मानते हैं। नीतिसार में तो सोमदेव को भी मान्य ग्रंथकार माना है जब कि हमने उन्हें मूलसंघ का नहीं बताया है। इस विषय में हमारी नीति वही समझनी चाहिए जैसे कि एक जैनी वैदिकों के समक्ष जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए कहता है कि—वेदों में भी हमारे जैन तीर्थंकरों के नाम लिखे मिलते हैं इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनी वेदों को प्रमाण मानते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचामृताभिषेकादि पर स्वर्गीय पं० पन्नालाल जी संघी ने 'विद्वज्जन-बोधक' में बहुत उत्तम ढंग से विवेचना की है और उस विवेचना में उन्होंने मान्य ग्रंथों की सूची प्रस्तुत करके यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि—इन मान्य ग्रंथों में पंचामृताभिषेकादि का विधान नहीं है किन्तु इस पर यह सवाल बराबर उठता आ रहा था कि उनकी उस सूची के अलावा जिन अन्य जैनग्रंथों में पंचामृताभिषेक लिखा है उन ग्रंथों को क्यों नहीं माना जावे, नहीं मानने का भी कोई हेतु होना चाहिए। उनकी उसी कमी को दूर करते हुए हमने अन्तिम निबंध में सप्रमाण बताया है कि वे ग्रंथ अमुक-अमुक कारणों से मूलसंघ के नहीं हैं इसलिये वे अमान्य हैं।

भगवान् वीर को २५०० वर्ष हो गए हैं इतने दीर्घकाल में अनेक विषम परिस्थितियों के कारण और विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव से जैनधर्म के आचार एवं विचार दोनों में शनैः शनैः विविध विकार प्रविष्ट हुए हैं और कालदोष से एक ही जैनसंघ के अनेक संप्रदाय-आम्नाय संघ गण गच्छ पंथादि भेदोपभेद हो गए हैं।

'दर्शनसार' में देवसेनाचार्य ने अनेक जैनसंघों को उत्सूत्रगामी और जैनाभास करार दिया है। आज उनमें से बहुत से (द्राविड़, यापनीय, काष्ठादि) संघ विलीन हो गए हैं किन्तु उनके द्वारा निर्मित और उत्तरोत्तर प्रभावित अनेक शास्त्र अभी भी चले आ रहे हैं जिन्हें आज हम बिना किसी भेदोपभेद की कल्पना किये सर्वांश में वीर-वाणी समझे हुए हैं किन्तु यह ठीक नहीं है शास्त्रोंमें संघभेद, आम्नाय-भिन्नता और छद्मस्थता आदि से अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं और इसीलिए आचार्य वीरसेन ने सिद्धांतग्रन्थों की धवला जयधवला टीकाओं में उत्तरा प्रतिपत्ति एवं दक्षिणा प्रतिपत्ति के कथन-भेदों का उल्लेख किया है और कहीं-कहीं उत्तरा प्रतिपत्ति को ही श्रेष्ठ बताया है। उन्होंने आचार्यों के विविध मान्यता भेदों का भी अनेक जगह प्रदर्शन किया है और किसी-किसी को अयुक्त भी सिद्ध किया है। ५-६ठी शताब्दी के आचार्य सिद्धसेन ने भी अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"सन्मति सूत्र" के काण्ड २ गाथा १८ तथा ग्रथान्त में एतद्विषयक अनेक संकेत दिये हैं।

इसी तरह इन्दनंदि ने अपने नीतिसार में और पं० आशाधरजी ने महर्षिपर्युपासन में अपनी दृष्टि से प्रामाणिक ग्रन्थकारों की नामावली दी है।

शास्त्रमर्मज्ञ पंण्डित प्रवर टोडरमलजी सा० ने भी मोक्षमार्ग-प्रकाशक के ८वें अध्याय के अंत में लिखा है :—

ऐसे विरोध लिए कथन कालदोष ते भए हैं। इसकाल विषे प्रत्यक्ष-ज्ञानी वा बहुश्रुतनि का तो अभाव भया अर स्तोकबुद्धि ग्रन्थ करने के अधिकारी भये, तिनको भ्रमते कोई अर्थ अन्यथा भासे ताकों तैसे लिखे अथवा इस काल विषे केई जैनमत विषे भी कषायी भए हैं सो तिनने कोई कारण पाय अन्यथा कथन लिखा है ऐसे अन्यथा कथन भया ताते जैनशास्त्रनिविषे विरोध भासने लगा। जहाँ विरोध भासे तहाँ इतना करना कि—इस कथन के करनेवाले बहुत करि प्रामाणिक हैं या इस कथन के करनेवाले बहुत प्रमाणीक हैं ऐसा विचार करि बड़े आचार्यादिकनि का कथन प्रमाण करना बहुरि जिनमत के बहुत शास्त्र हैं तिनकी आम्नाय मिलावनी जो परंपरा आम्नायतें मिले सो कथन प्रमाण करना।

.....बहुरि कालदोषते जिनमतविषे एक ही प्रकार करि कोई कथन विरुद्ध लिख्या है सो यह तुच्छ बुद्धिनि की भूल है किछु मत विषे दोष नांही।

इस सब से यह सिद्ध है कि जो पीला पीला है वह सभी सोना है। आधुनिक युग में भी सूक्ष्म परीक्षक इतिहासमर्मज्ञ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी "जैनाचार्यों का शासनभेद" ग्रन्थपरीक्षा ४ भाग तथा अनेक लेख लिखकर शास्त्रों के विषय में हमारी बुद्धि को प्रांजल किया है और सदसद्विवेक को जागृत किया है।

इन्हीं सब के कार्यों को हमने भी अपनी इस निबंधावली के द्वारा और भी वृद्धिगत करने का प्रयत्न किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन निबंधों में हमने जो कुछ लिखा है वह सदाशयता को लेकर ही लिखा है अतः उसी भाव से उन्हें ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान की मंदता के कारण संभव है विविध चर्चाओं में हम भी कहीं चूके हों, अगर कहीं किसी को कोई गलती नजर आवे तो सूचित करने की कृपा करें इसके लिए हम उनके आभारी होंगे।

अंत में विज्ञ पाठकों से एक निवेदन और है कि—

जो आचार-विचार जैनधर्म की मूल प्रकृति—वीतरागता अहिंसा अपरिग्रहतादि के जितने सन्निकट हों उन्हें ही अपनायें–प्राथमिकता दें; यह नहीं कि—पक्षवाद में पड़कर उन्हें तो दबायें और जो मूल से दूर हों उल्टा उन्हें प्रश्रय दें। अगर इतना भी विवेक हम नहीं रखेंगे तो अच्छी बातों से तो हम हाथ धो बैठेंगे और विकृत बातें, निष्प्राण क्रियाकांड हमारे पल्ले पड़ जायेंगे। अतः सदा समीचीन शुद्धमार्ग को ही अंगीकार करें और उसी के प्रसार में दत्तचित्त रहें।

इस निबंधावाली में—

१ से १०, २८ से ४२ और अंतिम निबंध इस तरह कुल २६ निबंध मिलापचन्द कृत हैं और बाकी निबंध रतनलाल कृत हैं।

आभार-प्रदर्शन

ये निबंध सर्वप्रथम—'जैनसंदेश' (साप्ताहिक) और उसके 'शोधांक', अनेकांत (द्वैमासिक), जैनमित्र (साप्ताहिक), दिगंबर जैन (मासिक), श्रमणोपासक (पाक्षिक), महावीर जयंती स्मारिका (वार्षिक), अस्तंगत 'जैनदर्शन' (मासिक-पाक्षिक) पत्रों में और मुनि हजारीमल स्मृतिग्रंथ में प्रकाशित हुए थे अतः इस अवसर पर उनके मान्य संपादकों का हम आभार प्रकट करते हैं।

इन निबंधों के निर्माण में पं० दीपचन्दजी पांड्या का हमें समय-समय पर काफी सहयोग मिला है। उनसे अनेक विषयों पर ऊहापोह कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम अपने चिंतन को दृढ़ कर पाये हैं, इस सब के लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। प्रायः कोई ऐसा दिन नहीं गया है जिस दिन वे हमारी दुकान या घर पर आकर घंटा दो घंटा किसी विषय पर विचार विमर्श नहीं कर पाये हों। पण्डितजी ज्ञान के जीवंत कोष हैं; संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशादि भाषाओं के अधिकारी विद्वान् हैं, और बहुश्रुताभ्यासी हैं। कोई भी ग्रंथ हो वे दो चार गलतियां तो उसमें अनायास ही निकाल देते हैं—यह उनको सरस्वती की एक देन ही है।

इन निबंधों में अधिकांश 'जैनसंदेश' में प्रकाशित हुए हैं। जैनसंदेश के उद्भट संपादक पांडित्यविभूति, प्रतिभामूर्त्ति, विद्वत्-सम्राट् श्रीकैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणसी ने हमारे इन निबंधों को जाते ही तत्काल बिना किसी टिप्पणी और काट-छांट के अविकल प्रकाशित कर हमारा उत्साह प्रवर्धित किया था इस अवसर पर इसके लिए हम उनके भी अतीव आभारी हैं।

इन निबंधों से प्रसन्न होकर और इनको महत्त्वपूर्ण समझ कर इनका यह उपयोगी संग्रह—श्रेष्ठिवर्य्य दानवीर उदारचरित गुणिजनानुरागी श्रुतसेवक सन्मार्ग-पोषक सद्धर्मप्रचारक सत्सुधारक प्रवुद्धचेता श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी जैन (अध्यक्ष श्री वीर शासन संघ कलकत्ता) ने प्रकाशित किया है—साहित्यरसिक कलाप्रेमी बाबू सा० ने अच्छी धनराशि व्यय कर यह प्रकाशन उत्तम कागज और सुन्दर छपाई के साथ तैयार कराया है—इस सब के लिए हम उनके भी परम आभारी हैं।

बाबू सा० ने लाखों रुपया जैन साहित्य के प्रकाशन में और जैन-साहित्य संस्थानों एवं साहित्यकारों की विशिष्ट सहायता में खर्च कर अपने द्रव्य का महान् सदुपयोग किया है। स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में उनका यह कार्य जिनशासन की महान् प्रभावना को लिये हुए है :—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१७॥

—रत्नकरंडश्रावकाचार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—प्ररूढ़ अज्ञानांधकार को (सत्साहित्य के निर्माण और प्रकाशनादि द्वारा) यथायोग्य दूर कर जिनशासन की महत्ता ख्यापित करना 'प्रभावना' है।

इस प्रकार इस ग्रंथ के 'उत्पाद' में पं० दीपचन्द जी और 'व्यय' (लेख-प्रकाशन) में पं० कैलाशचन्द जी तथा 'ध्रौव्य (पुस्तकाकार)' में बाबू सा० छोटेलाल जी परम सहायक हुए हैं इस तरह ये तीनों इस ग्रंथ के जीवन रूप (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्) हैं और यही इस ग्रंथ की संक्षिप्त कथा (सद्द्रव्यलक्षणं) है।

प्रूफ संशोधन और सुन्दर मुद्रणादि की व्यवस्था के लिए हम बाबूलाल जैन फागुल्ल के अनुगृहीत हैं। उन्होंने खूब परिश्रम किया है।

इन सबके सिवा और भी जो कोई विस्मृत रह गये हों उन सब प्रत्यक्ष परोक्ष सहायकों के भी हम आभारी हैं।

क्षमा-याचना

समीक्षा और उत्तर रूप में किन्हीं महानुभावों के प्रति न चाहते हुए भी उन्हीं की भाषा के प्रवाह में आकर अगर कहीं कोई व्यंग्योक्ति या कटु-शब्द लिखने में आ गया हो तो हम उसके लिए हृदय से क्षमा प्रार्थी हैं।

तथा किन्हीं विशिष्ट पुरुषों के विषय में भी कहीं कोई अशिष्ट वाक्य लिखने में आगया हो तो उसके लिए भी क्षमा-प्रार्थी हैं।

अंत में विज्ञ पाठकों से निवेदन है कि—इस ग्रंथ की विशिष्ट अशुद्धियों का 'संशोधन' ग्रंथांत में दिया गया है अतः अध्ययन के पहिले ग्रंथ को शुद्ध कर लें ताकि कोई अर्थ-भ्रांति न हो।

केकड़ी (अजमेर)
माघ शुक्ला ५ वि०सं०२०२२
वसंत पंचमी

निवेदक
मिलापचन्द रतनलाल, कटारिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राक्कथन

मेरी स्मृति के अनुसार स्व० श्री नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा लिखित और हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई के द्वारा विक्रीत 'जैन साहित्य और इतिहास' जैन साहित्य और इतिहास से सम्बद्ध हिन्दी लेखों का प्रथम संकलन था। उसके पश्चात् श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के ऐतिहासिक निबन्धों का संकलन 'जैन साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुआ। फिर उनके सामाजिक निबन्धों का संकलन 'युगवीर निबन्धावली' नाम से प्रकाशित हुआ। इन दो विशिष्ट साहित्यिक महारथियों के निबन्ध संग्रहों के पश्चात् यह 'जैन निबन्ध रत्नावली' प्रकाशित हो रही है। इसका अपना वैशिष्ट्य जुदा है और वह वैशिष्ट्य विषयगत भी है और लेखकगत भी।

लेखकगत प्रथम वैशिष्ट्य यह है कि इस रत्नावली में संकलित लेखों के लेखक पिता पुत्र हैं। दूसरा वैशिष्ट्य यह है कि दोनों व्यापारी हैं। तीसरा वैशिष्ट्य यह है कि दोनों ने न तो समाज के किसी विद्यालय या महाविद्यालय में अध्ययन किया है और न किसी स्कूल या कालिज में। न वे शास्त्री या आचार्य हैं और न बी० ए०, एम० ए०। फिर भी दोनों पण्डित और विद्वान् हैं। दोनों ने ही हिन्दी भाषा के द्वारा ग्रन्थों का स्वाध्याय करके वैदुष्य अर्जन नहीं किया है किन्तु संस्कृत और प्राकृत भाषा में निबद्ध मूल ग्रन्थों का अनुशीलनपूर्वक वैदुष्य उपार्जन किया है। और उनका अध्ययन बहुत विस्तृत और तलस्पर्शी है। इसीसे उनका विषय पर जितना अधिकार है संस्कृत और प्राकृत भाषा पर भी उतना ही अधिकार है। दोनों की दृष्टि बड़ी पैनी है और अशुद्धियों को पकड़ने में तो कमाल है। मेरे अनुमान के अनुसार तो जैन साहित्य का कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशन ऐसा नहीं है जिसका अध्ययन इन पिता-पुत्र ने नहीं किया। हम विद्या का व्यवसाय करनेवालों को जिन बातों का पता नहीं, उनकी पूर्ण जानकारी इन पिता-पुत्र को है। ये बातें मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ। यद्यपि पं० मिलापचन्द जी कटारिया को मैंने आज तक नहीं देखा और उनके पुत्र पं० रतनलाल जी कटारिया से केवल एकवार साक्षात्कार हुआ था। दुबला पतला शरीर, नाटा कद, हँसता हुआ चेहरा। यदि मैं उनके वैदुष्य से पूर्व परिचित न होता तो उन्हें देखकर किसी के कहने पर भी शायद ही इस बात पर विश्वास कर सकता कि यह पच्चीस वर्ष का दुबला पतला मारवाड़ी युवक विद्वान् है। किन्तु मैं उनके लेखों का पाठक रहा हूँ। उनसे मेरा साहित्यिक पत्र व्यवहार भी है उन्हीं के आधार पर मैंने उनके सम्बन्ध में जो यथार्थ अनुभव प्राप्त किया है वही मैं लिख रहा हूँ। उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। विज्ञ पाठक उनके निबन्धों को पढ़कर इसका निर्णय कर सकेंगे।

प्रस्तुत निबन्धावली में संगृहीत निबन्ध जैन साहित्य के विविध विषयों से सम्बद्ध हैं। कुछ निबन्ध शुद्ध साहित्यिक हैं तो कुछ निबन्ध जैन साहित्य में चर्चित विषयों से सम्बद्ध हैं। दि० जैन परम्परा में प्रचलित पन्थमूलक पूजा प्रतिष्ठा विधि तथा उससे सम्बद्ध साहित्य की समीक्षापरक निबन्ध इस संग्रह की विशेषता है। जैन साहित्य के इन अंगों पर समीक्षात्मक रूप से लिखे गये लेखों का कोई संकलन अभी तक मेरे देखने में नहीं आया है। इन निबन्धों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि लेखकद्वय ने पूजा प्रतिष्ठा विषयक साहित्य का भी अच्छा अनुगम किया है और इस विषय के भी वे पंडित हैं।

दि० जैन समाज में जो पन्थभेद हुआ वह मूलतः पूज्य, पूजा सामग्री और पूजाविधि को ही लेकर हुआ है। अतः उनपर गम्भीरता से विचार की आवश्यकता है।

वैदिक धर्म या ब्राह्मण धर्म मूलतः मूर्तिपूजक नहीं था। उनका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ थे। यज्ञों में आहुति देकर वे अपने भौतिक देवताओं को प्रसन्न करते थे और उनसे अन्न पशु आदि की माँग करते थे। अग्नि देवताओं का मुख है अतः उसमें क्षेपण किया हुआ द्रव्य देवताओं को पहुँच जाता था। ऋग्वेद का पहला मंत्र है—अग्निमीडे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारम् रत्नधातमम्।' अतः वैदिक-धर्म क्रियाकाण्डी धर्म था। यज्ञ तत्काल निर्मित मण्डप में किये जाते थे। उनके लिये मन्दिर की तरह किसी स्थायी स्थान की आवश्यकता नहीं थी। अतः विद्वानों का मत है कि वैदिकधर्म में उत्तरकाल में जो यज्ञों के स्थान में मन्दिर पूजा का प्रचलन हुआ वह अवैदिक संस्कृति का प्रभाव है।

डा० भण्डारकरने लिखा है—'जैन और बौद्धधर्म की स्थापना उन मनुष्यों ने की थी जो परमात्मा माने जाते थे। अतः उनके स्मारकों की पूजा तथा उनकी मूर्तियों का आदर करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। यह पूजा प्रचलित हुई और सर्वत्र भारत में फैल गई। अतः राम, कृष्ण, नारायण, लक्ष्मी और शिव-पार्वती की मूर्तियाँ तैयार की गईं और पूजा के लिये सार्वजनिक स्थानों में स्थापित की गईं।'—(कलक्टेड वर्क्स आफ डा० आर० जी० भण्डारकर पूना)

इस तरह मूर्तिपूजा जैनों तथा अनार्य जातियों से वैदिकधर्म में पहुँची। किन्तु मूर्तिपूजा को अपनाने के पश्चात् जब वैदिकधर्म ने धीरे-धीरे आधुनिक हिन्दू धर्म का रूप लिया तो यज्ञ तो तिरोहित हो गये और उनका स्थान मन्दिरों और मूर्तियों ने ले लिया। वैदिक धर्म के पुरस्कर्ता ब्राह्मण वर्ग की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि उसने जिस वस्तु को भी अपनाया उसे इस तरह अपनाया कि मानों मूलतः वह वस्तु उन्हीं की थी। जैसे यज्ञकाल में यज्ञविषयक साहित्य और क्रियाकाण्ड का इतना विकास हुआ कि वह अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँचा, उसी तरह मन्दिर और मूर्तियों को अपनाने के पश्चात् पूजा विधि विषयक साहित्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का भी बहुत विकास हुआ और पूजा विधि में भी नये-नये तत्त्व रीति रिवाज प्रविष्ट होते गये। उनको पूजा का उद्देश्य वही रहा जो यज्ञों का था। देवताओं को प्रसन्न करके उनसे लौकिक अभ्युदय की याचना करना। देवता भी प्रायः उसी जाति के थे। यद्यपि अवतारवाद के फल-स्वरूप कुछ देवताओं को भगवान के अवतार के रूप में माना जाता था। किन्तु उन देवताओं के भक्त देवताओं की भी कमी नहीं थी और उन्हें भी भगवान का भक्त या गण मानकर भगवान की तरह ही पूजा जाता था। इन सबके बढ़ते हुए प्रभाव से जैनधर्म भी अछूता नहीं रह सका। जैनधर्म मूलतः क्रियाकाण्डी धर्म नहीं है। वह भाव प्रधान धर्म है। क्रिया-काण्ड को उसमें भाव के ही अंगरूप से स्वीकार किया गया है। यदि क्रिया से भाव को पृथक् कर लिया जाये तो वह व्यर्थ हो जाती है। इसी-लिये उसमें ऐसी भी स्थिति स्वीकार की गई है जिसमें द्रव्य के विना केवल भाव पूजा ही मान्य है। उपवास के दिन गृहस्थ के लिये स्नान करने का भी निषेध है अतः उस दिन धार्मिक कृत्य पूजा का विधान करते हुए सागारधर्मामृत में कहा है—

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत्।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥४१॥ अ० ४।

उपवास के दिन गृहस्थ को भावमयी पूजा से ही पूजा करनी चाहिये। अथवा प्रासुक द्रव्यमयी पूजा से पूजना चाहिये। और राग के अंगों को एकदम छोड़ देना चाहिये।

वस्तुतः इस देश में प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो परम्परायें वैदिक काल में भी प्रचलित थीं, प्रवृत्ति परम्परा को देव परम्परा या ब्राह्मण परम्परा कहते थे। यज्ञ विधि उसी का अंग थी। निवृत्ति परम्परा को मुनि परम्परा कहते थे। श्रमण विधि उसकी विशेषता थी। निवृत्ति-मार्गीय श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय महावीर भगवान और बुद्ध देव से भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्व विद्यमान थे। उन्हीं में जैनधर्म भी था। शायद ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशनमुनि उसी के पूर्वज थे। सिन्धु घाटी में उपलब्ध एक नग्न मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है। स्व० श्री रामप्रसाद चन्दा ने इस मूर्ति को तथा वहाँ से प्राप्त मोहरों पर अंकित मूर्तियों को नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्रा के आधार पर ऋषभ तीर्थंकर की मूर्ति बतलाया था। प्रसिद्ध विद्वान् डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी 'हिन्दू सभ्यता' नामक पुस्तक में लिखा है—'श्री चन्दा ने ६ अन्य मुहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृति मोहें जोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अंकित मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। (हिन्दू सभ्यता पृ० २३–२४)।

अतः जैनधर्म निवृत्तिवादी परम्परा का प्रतीक है। इसी से जैनधर्म के उपदेशक आचार्यों के लिये यह आदेश था कि उन्हें अपने उपदेशों में मुनिधर्म का ही सर्व प्रथम उपदेश देना चाहिये। जो ऐसा नहीं करेगा वह निग्रह स्थान का भागी होगा। आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रारम्भ में इस प्रकार का निर्देश पाया जाता है। उसमें लिखा है—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि संप्रवृत्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो अल्पबुद्धि मुनिधर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, जिनागम में उसे निग्रहस्थान का भागी कहा है। क्योंकि मुनिधर्म को छोड़कर गृहस्थ धर्म का उपदेश करने से अति उत्साहित शिष्य भी गृहस्थ धर्मरूपी अपद में ही सन्तुष्ट होकर रह जाता है। और इस तरह वह उस दुर्बुद्धि उपदेशक के द्वारा ठगाया जाता है।

अतः प्रथम मुनिधर्म का उपदेश करने की ही प्राचीन परिपाटी है मुनिपद ही वास्तविक पद है, गृहस्थ का पद तो अपद है। किन्तु जब श्रोता अपनी असामर्थ्य बतलाकर गृहस्थधर्म के उपदेश करने की प्रार्थना करता था तब उसे गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया जाता था। यही बात पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कही है—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

जो बारम्बार मुनिधर्म का उपदेश देने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता है उसे इसी बीज के द्वारा गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इसी प्राचीन परिपाटी का पालन किया गया है। उन्होंने अपने प्रवचनसार में तथा पाहुड़ों में मुनिधर्म को लक्ष्य में रखकर ही कथन किया है। श्रावक धर्म का तो थोड़ा सा निर्देश चारित्र-प्राभृत में किया है। जब दिगम्बर परम्परा में मुनिधर्म का ह्रास हो चला और अवशिष्ट बचे मुनियों में भी वनवास के स्थान में चैत्यवास चल पड़ा तब श्रावकाचार को लेकर स्वतंत्र ग्रन्थ रचना की प्रवृत्ति हुई। श्रावक के आचारविषयक जितना भी स्वतंत्र साहित्य है वह प्रायः दसवीं शताब्दी से रचा गया है। केवल रत्नकरंडश्रावकाचार अपवाद है। आचार्य कुन्द-कुन्द के समय में ग्यारह प्रतिमा, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रत ये सम्पूर्ण श्रावकाचार था। रत्नकरंड में भी इसी प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया गया है। चारित्रप्राभृत में प्रथम सम्यग्दर्शन के आठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंगों के नाम मात्र गिनाये हैं। रत्नकरंड में प्रत्येक अंग का स्वरूप बतलाया है। उसके बाद पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का कथन करके ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहा है। अन्तर इतना है कि कुन्दकुन्द ने दिग्व्रत देशव्रत को एक गिना है और उस कमी की पूर्ति सल्लेखना को शिक्षाव्रत में लेकर की है। रत्नकरंड में दिग्व्रत देशव्रत को अलग-अलग गिना है और सल्लेखना का पृथक् कथन किया है। चारित्र-प्राभृत में अतिथि पूजा है, रत्नकरंड में वैयावृत्य है और वैयावृत्य का अर्थ अतिथि पूजा ही किया गया है। एक विशेषता और है कि उसमें श्रावक के अष्टमूलगुण भी बतलाये हैं। इतना ही प्राचीन श्रावकाचार है।

आचार्य जिनसेन (नौवीं शताब्दी) के महापुराण की रचना से श्रावकधर्म का विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। पाक्षिक नैष्ठिक साधक उसके भेद हुए, पूजा के विविध प्रकार हुए। प्राचीन षट्कर्म थे सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोसर्ग। मुनि और गृहस्थ दोनों इनका पालन करते थे। उनके स्थान में देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कर्म हो गये। और इनमें भी पूजन को विशेष महत्त्व मिलता गया।

पूजन तो अभिषेक पूर्वक होता है। विमलसूरि के पउमचरिउ का रूपान्तर रविषेण ने पद्मचरित के रूप में किया। इस रूपान्तर से पउमचरिउ का पञ्चामृताभिषेक दिगम्बर परम्परा में घुस बैठा। विमलसूरि की आम्नाय यापनीय हो सकती है। दिगम्बर परम्परा के तो वह नहीं थे। रविषेणाचार्य के उल्लेख का महापुराण के रचयिता भगवज्जिनसेन पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने महापुराण के प्रारम्भ में रविषेण का स्मरण भी नहीं किया। किन्तु हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने उन्हें अपना पूर्व पुरुष मानकर अपने पुराण के प्रारम्भ में रविषेण का स्मरण भी किया और पञ्चामृताभिषेक को पूर्वाचार्य कथित मानकर अपना लिया। बस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्परा चल पड़ी। सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन में सभी फलों के रसों से भगवान का अभिषेक करा दिया।

सोचने की बात है कि दुनिया जल से स्नान करती है। साक्षात् जिन का अभिषेक भी क्षीर समुद्र के जल से ही हुआ था। फिर उनकी मूर्ति का अभिषेक रसों से करने की क्या तुक है। दूसरे निवृत्ति प्रधान जैनधर्म में घी दूध दही आदि को अमृत कहीं भी नहीं बतलाया है। इनकी गणना तो विकृतियों में की गई है। इनके सेवन से विकार पैदा होता है अतः रस परित्याग में इनका त्याग कराया जाता है। ये तो हिन्दू धर्म में ही अमृत माने गये हैं। उन्हीं के यहाँ इन पञ्चामृतों से मूर्ति का अभिषेक होता है उन्हीं का प्रभाव हम पर भी पड़ गया है यह निश्चित है।

इसी तरह जैनधर्म में पूज्य केवल पञ्चपरमेष्ठी हैं क्योंकि उनमें रत्नत्रय का एकदेश या सर्वदेश पाया जाता है। जिनमें रत्नत्रय की पात्रता भी नहीं है वे जैनधर्म में पूज्य नहीं माने गये हैं। वैदिक धर्म में एक समय इन्द्र का बड़ा प्राधान्य था। जैनधर्म में उसी इन्द्र को जिनेन्द्र का सेवक बतलाया गया है। समवसरण में यक्ष यक्षिणियों को भगवान के ऊपर चमर ढोरने वाला बतलाया है। किन्तु बहुदेवतावादी हिन्दू संस्कृति के प्रभाव से जैनधर्म में इन यक्ष यक्षिणियों को शासन का रक्षक मानकर पूजने की परम्परा भट्टारक युग में चल पड़ी।

जैन आगम के अनुसार जैनधर्म में भट्टारक कोई पद नहीं है। शंकराचार्य ने बौद्ध और जैनधर्म के विरुद्ध जो अभियान शुरू किया था उससे बचने के लिये शंकराचार्य के द्वारा स्थापित मठों की तरह ही जैनधर्म में भी मठों और मठपतियों-भट्टारकों की परम्परा प्रवर्तित हुई। उससे जैनधर्म की रक्षा भी हुई। किन्तु हिन्दू मठपतियों से प्रभावित जनता के संरक्षण के लिये उनकी कुछ प्रक्रियाओं को भी अपनाना पड़ा। श्री पी० वी० देसाई ने अपनी 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' नामक पुस्तक में तमिल प्रान्त में यक्षी संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि तमिल में जैन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म को शैव और वैष्णव धर्म से टक्कर लेनी पड़ी। शैव और वैष्णव धर्म में पार्वती और लक्ष्मी पूजा का प्राधान्य था। क्योंकि ये दोनों शिव और विष्णु की अर्धांगिनी थीं। उधर जैनधर्म में तीर्थङ्करों की कोई स्त्री नहीं थी। अतः भक्त जनों के मन को आकृष्ट करने के लिये जैन यतियों ने अपने धर्म में यक्षी पूजा का आविष्कार किया।

जैन प्रतिष्ठाविधि में देवताओं का आह्वान वलिग्रहण, पूजन विसर्जन आदि सब हिन्दू धर्म के प्रभाव की देन है। यह तांत्रिक-मांत्रिक युग बौद्ध-धर्म को तो खा ही गया। जैनधर्म को वह खा तो नहीं सका किन्तु उसे उसने निवृत्तिवादी धर्म से प्रवृत्तिवादी धर्म बना दिया, उसीका प्रभाव है कि निवृत्तिवादी मुनिमार्ग भी प्रवृत्तिवाद पर उतर आया है। वह भी श्रावक-धर्म सम्बन्धी क्रियाकाण्ड का पुरस्कर्ता वन गया है, उसे भी प्रतिदिन पञ्चा-मृताभिषेक देखे बिना चैन नहीं पड़ती। कहाँ कुन्दकुन्द का मार्ग और कहाँ अपने को कुन्दकुन्दान्वयी मानने वालों का मार्ग? दोनों में कितना अन्तर पड़ गया है।

प्रस्तुत निबन्धावली के अनेक निबन्ध इन देवताओं की यथार्थता पर प्रकाश डालने वाले हैं और वे ही संग्रह की लेखगत विशेषता के लिये उल्लेखनीय हैं। अभीतक किसी भी विद्वान् ने जैन क्रियाकाण्ड में प्रविष्ट इस अंग पर आलोचनात्मक रूप से प्रकाश नहीं डाला था। दोनों विद्वानों ने शास्त्राधारपूर्वक इस विषय पर प्रकाश डाला है।

श्री पं० मिलापचन्द जी कटारिया का 'जैनधर्म और हवन' शीर्षक लेख भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अग्नि में आहुति देकर देवताओं को तृप्त करने की वैदिकविधि इसके मूल में है। वैदिक धर्म में अग्नि को देवताओं का मुख कहा है। किन्तु जैनधर्म में तो अग्नि न तो स्वयं कोई देवता है और न देवताओं का मुख है। वह तो एक भस्म कर देने वाली जड़ वस्तु है। अतः उसमें आहुति देकर किसी को तृप्त करने का वहाँ कोई प्रश्न नहीं है। पूजन तो अग्नि में क्षेपण बिना भी संभव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्हीं सब प्रवृत्तियों का विरोध उत्तरभारत में एक समय लहर के रूप में फैला। और वह तेरहपन्थ कहलाया। उस पन्थ ने पूज्य के स्थान में केवल पञ्चपरमेष्ठी को मान्य किया, पूजन में शुद्ध जलाभिषेक पूर्वक प्रासुक द्रव्य को अपनाया। मूर्ति पर किसी भी प्रकार का लिम्पन या पुष्पारोहण को अमान्य किया क्योंकि उससे वीतराग छवि में दूषण लगता है।

एकीभावस्तोत्र में वादिराज आचार्य ने कहा है —

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणां यश्च शक्यः।
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषांम्
तत्किं भूषावसनकुसुमैः किञ्च शस्त्रैरुदस्त्रैः॥

हे जिन! जो स्वभाव से अमनोरम–असुन्दर होता है वह अपनी ऊपरी सजावट से दूसरों को आकर्षित करता है। जो वैरियों के वश में आने योग्य होता है वह सदा शस्त्र लिये रहता है। हे जिन! तुम तो सर्वाङ्ग सुन्दर हो, दूसरों के वश में भी आने योग्य नहीं हो, तब तुम्हें आभूषण, वस्त्र और फूलों से तथा अस्त्र-शस्त्र से क्या प्रयोजन है।

यहाँ पुष्प का भी निषेध किया गया है।

इस पन्थ का नाम तेरापन्थ था या तेरहपन्थ था? यह भी एक चर्चनीय विषय है। पं० पन्नालालजी का 'तेरहपन्थ खण्डन' नाम का ग्रन्थ है। यह जयपुरी गद्य में है। इसके प्रारम्भ में लिखा है—

'दिगम्बरम्नाय है सो शुद्धम्नाय है। या विषै भी तेरहपन्थी को अशुद्ध अम्नाय है सो याकी उत्पत्ति तथा श्रद्धा ज्ञान आचरण कैसे हैं ताका समाधान—पूर्वरीतिकूं छांड़ि नई विपरीत आम्नाय चलाई तातैं अशुद्ध है। पूर्वरीति तेरह थीं तिनकौं उठा विपरीत चले, तातैं तेरापंथी भये, तेरह पूर्व किसी, ताका समाधान—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दसदिकपाल उथापि १, गुरूचरणां नहि लागै २ ।
केसरचरणां नहि धरै३, पुष्पपूजा फुनि त्यागै ॥ ४ ॥
दीपक अर्चा छांड़ि ५, आसिका ६ माल न करही ७ ।
जिन न्हावण ना करै ८, रात्रिपूजा परिहरही ॥ ९ ॥
जिन शासनदेव्यां तजी १०, रांध्यौ अंन चहौड़ैं नहीं ११ ।
फल न चढ़ावैं हरित पुनि ९२, बैठिर पूजा करैं नहीं ॥१३॥
ये तेरै उरधारि पंथ तेरै उरथप्पे ।
जिनशासन सूत्र सिद्धांतमांहि ला वचन उथप्पे ॥

अर्थात्—दस दिग्पालों की पूजा, भट्टारकों की पदवन्दना, भगवान के चरणों में केसर चढ़ाना, पुष्प पूजा, दीपक पूजा, आसिका, माल, जिनाभिषेक, रात्रिपूजा, शासनदेवता, रांधे हुए अन्न का चढ़ाना, हरितफल चढ़ाना, बैठकर पूजा करना ये तेरह बातों को छोड़ देने से तेरह पन्थ कहलाया ।

इसके आगे पद्धडीछन्द में कामां से सांगानेर की लिखी हुई एक चिट्ठी दी है । कामां से लिखनेवाले हैं—हरि किसन, चिन्तामणि, देवीलाल और जगन्नाथ । और सांगानेरवालों के नाम है—मुकुंददास, दयाचन्द, महासिंह, छाज, कल्ला, सुन्दर और विहारीलाल । सांगानेरवालों से आग्रह किया गया है कि हमने इतनी बातें छोड़ दी हैं सो आप भी छोड़ देना—जिनचरणों में केसर लगाना, बैठकर पूजा करना, चैत्यालय में भण्डार रखना, प्रभु को जलौट पर रखकर कलश ढोलना, क्षेत्रपाल और नवग्रहों की पूजा करना, मन्दिर में जुआ खेलना और पंखे से हवा करना, प्रभु की माला लेना, मन्दिर में भोजकों को आने देना, भोजकों द्वारा बाजे बजवाना, रांधा हुआ अनाज चढ़ाना, थालोड़ी (?) करना, मन्दिर में जीमन करना, रात्रि को पूजन करना, रथयात्रा निकालना, मन्दिर में सोना आदि । यह चिट्ठी फागुन सुदी १४ सं० १७४९ को लिखी गई बतलाई है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कथन तो तेरापन्थ के विरोधियों का है।

जोधराज गोदीका ने अपने प्रवचनसार भाषा के अन्त में लिखा है—

कोई देवी खेतपाल बीजासनि मानत हैं,
केई सती पित्र सीतलासौं कहै मेरा है।
कोई कहै सावलौ, कबीर पद कोई गावै,
केई दादूपन्थी होई परै मोह घेरा है॥
कोई ख्वाजै पीर मानै, कोई पंथी नानक के
केई कहैं महाबाहु महारुद्र चेरा है।
या ही बारा पंथ में भरमि रह्यौ सबै लोक,
कहै जोध अहो जिन तेरापंथ तेरा है॥

अर्थात् सारे लोग सती, क्षेत्रपाल आदि के बारह पन्थों में भटक रहे हैं परन्तु जोध कवि कहता है कि हे जिन देव, उक्त बारह पन्थों से अलग तेरापन्थ तेरा है।

तेरापन्थ के विरोधियों और अनुयायियों के उक्त कथन से तेरापन्थ और तेरहपन्थ दोनों ही नाम प्रमाणित होते हैं। किन्तु बीसपन्थ नाम से तो यही प्रतीत होता है कि तेरहपन्थ नाम के प्रतिपक्ष में ही बीसपन्थ नाम रखा गया था। जैसे बीस संख्या परक है वैसे ही तेरह भी संख्या परक होना चाहिये। विषम से बीस की उत्पत्ति समझ में नहीं आती। हाँ, तेरापन्थियों ने बीस का विषम बना दिया हो यह संभव है। जैसे दस्सों से ऊँचे बीसा होते हैं। वैसे ही तेरह से ऊँचे बीस हैं सम्भवतया यही प्रकट करने के लिये बीसपन्थ नाम रखा गया होगा। अस्तु, जो कुछ हो, किन्तु पूजाविधि को लेकर झगड़ने की बात समझ में नहीं आती। और मुनिराजों को तो गृहस्थों के इस विवाद में पड़ना ही नहीं चाहिये। उनके लिये तो द्रव्यपूजा ही विधेय नहीं है तब सचित्त और बहुआरम्भी पूजा का विधान वे कैसे कर सकते हैं?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म का लक्ष्य पूर्ण वीतरागता है अतः राग को घटाना ही विधेय है। शुद्ध जलाभिषेक में अल्प आरम्भ होने से अल्पसावद्य है, पञ्चामृताभिषेक में बहुत आरम्भ होने से सावद्य भी विशेष है इसी तरह सचित्तपूजा से अचित्तपूजा में अल्पसावद्य है, हिंसा कम है। फिर भी जिन गृहस्थों को वही पसन्द हो वे करें, किन्तु मुनिमहाराजों को उसका आग्रह होना उचित नहीं है। आज उन्हींके आग्रहवश यह पन्थ विवाद जोर पकड़ रहा है। अस्तु,

इस निबन्धावली में कुछ लेख शुद्ध साहित्यिक भी हैं। जैसे देवसेन का भावसंग्रह और देवसेन का नयचक्र। प्रथम लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है उसमें भावसंग्रह का पर्यवेक्षण करते हुए उसे सारान्त ग्रन्थों के रचयिता देवसेन की कृति माने जानेका जो निषेध किया है वह सबल है। हमने भी भावसंग्रह को तुलनात्मक दृष्टि से देखा है। हमें भी वह गोमट्टसार जीवकाण्ड के पश्चात् ही रचा गया प्रतीत होता है। जीवकाण्ड को सामने रखकर उसकी रचना हुई है। भावसंग्रह में केवल १४ गुणस्थानों की चर्चा है। १४ गुणस्थानों का नाम बतलाने वाली दोनों गाथाएँ जीवकाण्ड की हैं केवल दूसरी गाथा के अन्तिम चरण में 'चउदस जीवसमासा' के स्थान में 'ए चउदस गुणठाणा' पद कर दिया गया है। प्राकृत पंचसंग्रह के अन्तर्गत जीवसमास में भी ये दोनों गाथाएँ हैं। वहाँ भी 'चोद्दस गुणठाणाणि' पाठ है। अतः यह भी संभावना की जा सकती है कि भावसंग्रह के कर्ता ने उन गाथाओं को जीवकाण्ड से न लेकर प्राकृत पञ्चसंग्रह से लिया होगा। किन्तु प्राकृत पञ्चसंग्रह में मिथ्यात्व के पांच भेदों और उनको मानने वाले मतों की चर्चा नहीं है। यह कथन जीवकाण्ड में है और भावसंग्रह में भी है। भावसंग्रह में भी जीवकाण्ड की तरह ही ब्रह्म को विपरीत मिथ्यादृष्टि, बुद्ध को एकान्त मिथ्यादृष्टि, तापस को वैनयिक मिथ्यादृष्टि, इन्द्र (श्वेताम्बरों को) संशय मिथ्यादृष्टि और मस्करी को अज्ञान मिथ्यादृष्टी बतलाकर उनके मतों का विस्तार से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरूपण और खण्डन किया है जैसा सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में किया है।

जीवकाण्ड की गाथा १२ भावसंग्रह में ३६० वीं गाथा है। भावसंग्रह की गाथा ३१३ जीवकाण्ड की गाथा ५७३–५७४ का एक-एक अर्ध लेकर रची गयी है। किसी-किसी गाथा पर द्रव्यसंग्रह की भी छाया प्रतीत होती है। यथा—

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसंजुदो देहमित्तो।
कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई ॥२८६॥

भावसंग्रह की इस गाथा को पढ़कर द्रव्यसंग्रह की नीचे लिखी गाथा का स्मरण होता है—

जीवो उवओगमओ अमुक्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

दोनों के अन्तिम चरण विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं।

३४५ गाथा का चरण 'जहकालेण तवेण य' द्रव्यसंग्रह की गाथा ३६ का 'जहकालेण तवेण य' का बरवस स्मरण कराता है।

देवसेन ने भावसंग्रह में कौलधर्म की भी आलोचना की है। यह एक वाम मार्ग था जो दसवीं शताब्दी में भारत में फैला हुआ था, सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में भी उसकी चर्चा की है। उसी समय के राजशेखर ने अपनी कर्पूरमंजरी में भी कौलधर्म की चर्चा की है। कर्पूरमंजरी और भावसंग्रह के निम्न पद्य समानता की दृष्टि में उल्लेखनीय हैं—

रण्डा चण्डा दिक्खिआ धम्मदारा
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा
कालो धम्मो कस्सणो भाइ रम्मो ॥

—कर्पूरमंजरी १–२३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रंडा मुंडा थंडी सुंडी दिक्खिदा धम्मदारा।
सीसे कंता कामासत्ता कामिया सा वियारा॥
मज्जं मंसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जीवसोक्खं च
कउले धम्मे विसये रम्मे तं जि हो सग्गमोक्खं ॥१८२॥

—भावसंग्रह।

इन तथा प्रस्तुत संग्रह के लेख में प्रदर्शित युक्तियों के प्रकाश में भावसंग्रह के रचयिता देवसेन सारान्त ग्रन्थों के रचयिता देवसेन से भिन्न ही सिद्ध होते हैं। हां, नयचक्र की स्थिति विचारणीय है। देवसेन कृत जिस नयचक्र का उल्लेख माइल्लधवल ने किया है वह संस्कृत नयचक्र तो नहीं हो सकता क्योंकि उसके रचने पर नयचक्र पर आलापपद्धति रचने की आवश्यकता नहीं रहती, संस्कृत नयचक्र में आलापपद्धति का भी उपयोग किया गया है ऐसा तुलना से प्रतीत होता है। आलापपद्धति की रचना में जो वैदुष्य और शालीनता है, संस्कृत नयचक्र में वह सब नहीं है। जो प्राकृत नयचक्र देवसेन के नाम से मुद्रित है वह प्रायः माइल्लधवल के द्रव्यस्वभाव प्रकाश में समाया हुआ है। संभव है माइल्लधवल ने अपने गुरु के नयचक्र को वेष्ठित करके ही अपना ग्रन्थ रचा हो। इस विषय में अभी अनुसन्धान की आवश्यकता है।

'कुछ श्लोकों के अर्थ पर विचार' करते हुए विद्वान् लेखक ने 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' अनेक युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया है। वह मननीय है। उससे यह भी प्रकट होता है कि आचार्य प्रणीत ग्रन्थों में आगत शब्दों का अर्थ करते समय सावधानी की कितनी अधिक आवश्यकता है। और उसके लिये शास्त्रीय व्युत्पत्ति के साथ सामयिक स्थिति के भी परिशीलन की आवश्यकता है।

अधिकांश जैन विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक आचार्य प्रणीत प्रत्येक ग्रन्थ का प्रत्येक शब्द सर्वज्ञ कथित है। साथ ही वे अपनी विचार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारा के साथ भी उसका मेल बैठाना चाहते हैं। उचित तो यह है कि ग्रन्थ के अनुसार अपनी विचारधारा को बनाया जाये और यदि समन्वय शक्य न हो तो तत्कालीन उस सामयिक स्थिति का पर्यवेक्षण किया जाये जिसमें रहकर ग्रन्थकार ने ग्रन्थ रचना की है। क्योंकि प्रत्येक बहुमूल्य रचना केवल उस परम्परा का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती जिस परम्परा से उसका सम्बन्ध होता है किन्तु अपने समय का भी प्रतिनिधित्व करती है। जो समय का प्रतिनिधित्व नहीं करती वह रचना रचना हो नहीं है। प्रत्येक दृष्टिसम्पन्न ग्रन्थकार ग्रन्थ रचना करते समय लोक में प्रवर्तित सामयिक विचारों के अनुकूल या प्रतिकूल कुछ न लिखे यह सम्भव नहीं है। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, अमृतचन्द्र, प्रभाचन्द्र, सोमदेव आदि की कृतियाँ इसके साक्षी हैं। कुन्दकुन्द के सामने वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध और वेदान्त की विचारधारा थी। समन्तभद्र और सिद्धसेन के सामने षड्दर्शनों के व्याख्याकार थे। अकलंक के सामने प्रख्यात बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति और मीमांसक कुमारिल थे। इन सबकी कृतियाँ तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओं की आलोचना-प्रत्यालोचना से भरी हुई हैं। दार्शनिक उथल-पुथल के साथ धार्मिक उथल-पुथल का होना भी स्वाभाविक है। जिनसेनाचार्य का महापुराण इसका साक्षी है। उसमें तत्कालीन ब्राह्मणवाद का पूरा चित्र अंकित है। लोक वित् सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू भारतीय साहित्य का अनमोल रत्न है। उसमें तत्कालीन भारतीय संस्कृति की इतनी सामग्री भरी हुई है कि उस सबका अवगाहन कर सकना भी कठिन है।

सोमदेव जैन विचारधारा के कट्टर अनुयायी थे किन्तु उदार भी थे। उनकी वह उदारता थी परम्परा के संरक्षण के लिये। उनकी यह उक्ति जैन परम्परा के संरक्षण के लिये स्वर्णिम संदेश है—

'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी जैनों को वह लोकाचार प्रमाण है जिससे सम्यक्त्व में हानि न आती हो और न व्रत में दूषण लगता हो।

उन्होंने जो सत् शूद्र को दान का अधिकारी बतलाया है वह आज कुछ विद्वानों को इसलिये अयुक्त लगता है कि आज शूद्र जल त्याग का नया धर्म प्रवर्तित कर दिया गया है। किन्तु जैनधर्म में सत् शूद्र की वही स्थिति नहीं थी जो मनुस्मृति में प्रतिपादित है। उसे अमुक सीमा तक धर्म सेवन का अधिकार था।

इसी तरह सोमदेव ने ब्रह्माणुव्रत के लक्षण में वधू की तरह वित्तस्त्री (वेश्या) की भी छूट दे दी है। यह सामयिक प्रभाव है। इसे न समझकर कुछ नासमझ लोगों को 'वित्तस्त्री' का अर्थ वेश्या करने पर आपत्ति है किन्तु उनकी वह आपत्ति भावनामूलक है। वित्तस्त्री का वेश्या के सिवाय दूसरा अर्थ होता ही नहीं।

सोमदेव का 'नीतिवाक्यामृत' शुद्ध अर्थशास्त्र का ग्रन्थ है। जैन दृष्टिकोण से उसका मूल्य आँकना ही नहीं चाहिये। वह तो लौकिक ग्रन्थ है। लोकधर्म को लेकर लिखा गया है। सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में लिखा है—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥

गृहस्थ के दो धर्म होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म-लोक के आश्रय से चलता है और पारलौकिक धर्म आगम के अनुसार चलता है।

अतः नीतिवाक्यामृत उसी लोकाश्रय धर्म का प्रतिपादक है और उपासकाध्ययन में प्रतिपादित धर्म पारलौकिक धर्म है। परलोक के लिये उसी का अनुसरण करना चाहिये। यद्यपि उसमें ऐसा भी कथन है जो शिथिलाचार का पोषक है किन्तु ग्रन्थकार की भावना दूषित नहीं है। उसके मूल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में भी धर्म प्रेम है। उसके कारण सोमदेव जैसे महान् ग्रन्थकार का अनादर नहीं होना चाहिये, इतना ही हमारा अभिप्राय है।

अन्त में इस संकलन के सम्बन्ध में हम इतना कह देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि लेखों का चुनाव और क्रम सन्तुलित नहीं है। उसमें परिवर्तन की आवश्यकता थी। अखबारी दुनिया और पुस्तकीय संसार में भेद है। पहली में सब चल जाता है किन्तु दूसरी में नहीं। अतः यदि उनमें तदनुकूल परिवर्तन कर दिया जाता तो उचित होता।

इस संग्रह के प्रकाशक बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता एक गुणग्राही व्यक्ति हैं। साहित्य और साहित्यकारों के प्रति उसके चित्त में बहुमान है। उन्होंने इस संग्रह को प्रकाशित करके अपनी गुणग्राहकता का ही परिचय दिया है। किन्तु खेद है कि इन पंक्तियों के लिखे जाने के बाद ही २६ जनवरी सन् १९६६ को उनका स्वर्गवास हो गया और वे अपने इस प्रकाशन की एक झलक भी नहीं देख सके।

अन्त में मैं लेखक और प्रकाशक दोनों का ही आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे अपने भाव प्रदर्शित करने का अवसर दिया।

ऋषभ निर्वाण दिवस
बी० नि० स० २४९२

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन निबन्ध रत्नावली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत भाषा के प्रति हमारी उपेक्षा

अनेक भाषाओं में प्राकृत भी एक भाषा है। इस भाषा के विशेषज्ञों का कहना है कि अति प्राचीनकाल में इस देशके आर्य लोगोंकी यह बोल-चाल की भाषा थी। आज भी भारत के अनेक प्रदेशों में बोली जाने वाली भाषाओं में इस भाषा के प्रचुर शब्द पाये जाते हैं। अन्य अनेक भाषाओं का उद्गम इसी भाषा से हुआ है। वस्तुतः प्राकृत भाषा को अनेक भाषाओं की जननी कहना चाहिये। इस मान्यता को ईसा की ८ वीं शताब्दी के जैनेतर महाकवि वाक्पतिराज ने भी अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में इन स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओच्चिय जलाइं ॥ ९३ ॥

अर्थ—इसी प्राकृत भाषा में सब भाषायें प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषायें निकली हैं। जल समुद्र में ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही (वाष्प रूप से) बाहर निकल जाता है।

ये ही महाकवि उसी ग्रन्थ में प्राकृत की प्रशंसा करते हुये कहते हैं—

णवमत्थदंसणं संनिवेससिसिराओ बंधरिद्धीओ।
अविरलमिणमो आभुवणवंधमिह णवर पययम्मि ॥ ७२ ॥

अर्थ—पृथ्वी भर भर में नूतननूतन अर्थोंका दर्शन और सुन्दर रचना वाली प्रवन्ध सम्पत्ति यदि कहीं भी है तो वह केवल प्राकृत भाषा में ही है।

ईसाकी नवमी शताब्दी के जैनेतर कवि राजशेखर ने भी प्राकृत भाषा की महत्ता बताते हुये कहा है कि—

परुसो सक्कअ-बंधो पाउअ-बंधोवि होइ सुउमारो।

"कर्पूर मंजरी"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृतिमधुरप्राकृतगिरः ।
"वालरामायण"

अर्थ—संस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार कोमल है। प्राकृत भाषा स्वभाव से ही मधुर है।

जैनियों की प्रधान भाषा प्राकृत ही है। अति प्राचीन काल के जैन ग्रन्थ इसी भाषा में रचे मिलते हैं। इसी भाषा के मौलिक साहित्य के आधार पर संस्कृत के अनेक उत्तम जैन ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। अगर प्राकृत भाषा को जैन भाषा कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं है। जो भाषा इतनी प्राचीन, सरल और जैनों की खास आगमिक भाषा है, खेद है कि आज उसी की तरफ हमारा पूरा दुर्लक्ष्य है। हमारे विद्यार्थी संस्कृत पढ़ते हैं—अँग्रेजी पढ़ते हैं परन्तु प्राकृत भाषा को कोई भी नहीं पढ़ता है। भगवान् महावीर की पवित्र वाणी के प्रचार के लिये, जैनतत्त्व वोध के लिये और प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों का रहस्य समझने के लिये ही तो भारतवर्ष भर के जैन विद्यालयोंमें जैन समाज का लाखों रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है। तव फिर प्राकृत शिक्षा की तरफ हमारी इतनी उपेक्षा क्यों है? हम ही अपनी मूलभाषा की पूछ न करेंगे तो अन्य कौन करेगा? खासकर दि० जैन समाज में तो मानों प्राकृत भाषा उठ ही गई है। हमारे यहाँ प्राकृत ज्ञान की इतनी कमी है कि रोजमर्रा वोलने के साधारण प्राकृत पाठ भी अशुद्ध प्रचार में आ रहे हैं। नमूने के तौर पर मंगलोत्तम शरण पाठ को ही लीजिये। यह पाठ नित्य नियम पूजा आदि में निम्न प्रकार छपा मिलता है—

"चत्तारि मंगलं। अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवली-पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलीपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलीपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दि० जैनसमाज में इस अशुद्ध पाठ का खासा प्रचार हो रहा है। छोटे से बड़े तक प्रायः सब इसी तरह उच्चारण करते पाये जाते हैं। प्राकृत का मामूली ज्ञाता भी जान सकता है कि यह पाठ कितना अशुद्धिपूर्ण है।

अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा में अरहंत सिद्ध शब्दको कौन-सी विभक्ति का कौन-सा वचन माना जावे? प्रथमाविभक्ति का तो कोई भी रूप ऐसा नहीं बनता है। अरहंत शब्द की प्रथमा विभक्ति का एकवचन प्राकृत में 'अरहंतो' होता है, बहुवचन 'अरहंता' होता है। इसी तरह सिद्ध शब्दका क्रमशः 'सिद्धो' 'सिद्धा' होता है। जैसा कि "केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं" वाक्यमें पण्णत्त व धम्म शब्द का पण्णत्तो-धम्मो यह प्रथमा विभक्ति का एकवचन हुआ है। अरहंत, सिद्ध ऐसे तो रूप ही नहीं होते हैं। 'लोगुत्तमा' यह प्रथमा का बहुवचन है तब 'धम्मो लोगुत्तमा' यह स्पष्ट ही अशुद्ध है। क्योंकि धम्मो इस एक-वचन के साथ लोगुत्तमा यह बहुवचन नहीं बन सकता। इसी तरह "अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि" में अरहंत सरण, सिद्ध सरण को समासांत पद मानकर शुद्ध समझ लिया जावे तो "केवलि-पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि" में कैसे माना जावे? मतलब कि यह सब पाठ ही काफी अशुद्धियों से भरा हुआ है।

यहाँ हम इसी का शुद्ध पाठ संस्कृत छाया सहित लिख देना उचित समझते हैं—

"चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगल, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।"

इसकी संस्कृतछाया—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चत्वारि मंगलानि—अर्हंतो मंगलं, सिद्धा मंगलं, साधवो मंगलं, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मंगलं। चत्वारो लोकोत्तमाः – अर्हंतो लोकोत्तमाः, सिद्धा लोकोत्तमाः, साधवो लोकोत्तमाः, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः। चतुरः शरणं प्रव्रजामि-अर्हतः शरणं प्रव्रजामि, सिद्धान् शरणं प्रव्रजामि, साधून् शरणं प्रव्रजामि, केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रव्रजामि।*

यह एक ही ऐसा पाठ है जिसका लाखों जैनियोंको भगवद्दर्शनपूजनमें नित्य काम पड़ता है। और जैनविद्यालयों में शुरू ही में पढ़ाया जाता है। उसीमें इतनी अशुद्धियों की भरमार होना यह बताता है कि दि० जैन-समाज में प्राकृत शिक्षाकी भारी कमी है जिसके दूर किये जानेकी सख्त जरूरत है।

---

* पव्वज्जामिका संस्कृत रूप जिनसेनाचार्यने 'प्रपद्यामि' दिया है। और प्रभाचन्द्र ने 'प्रव्रजामि' दिया है। इनके लिए क्रमशः देखिए:— 'महापुराण, पर्व ४० श्लोक २७ से ३० तथा क्रियाकलाप, पृ० १४४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवनंदि और गुणभद्र के अभिषेक पाठ

करीब २५ वर्ष पहिले 'बनजी ठोलिया ग्रंथमाला, जयपुर से "अभिषेक पाठ संग्रह" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। जिसके संपादक और संशोधक हैं पं० पन्नालालजी सोनी शास्त्री। इस संग्रह में कई एक अभिषेक पाठों का संकलन किया गया है जिनमें से पूज्यपाद और गुणभद्र के अभिषेक पाठों को संपादकजी ने प्रस्तावना में उन्हीं प्राचीन पूज्यपाद और गुणभद्र के रचे हुए बताये हैं जो पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि आदि के कर्ता हैं और जो विक्रम की पाँचवीं छठवीं शताब्दी में हुए हैं। तथा जो गुणभद्र उत्तरपुराण आदि के कर्ता व आचार्य जिनसेन के शिष्य हैं और जो विक्रम की ९वीं शताब्दी में हुए हैं। संपादकजी ने इस विषय में जो भी दलीलें दी हैं वे सब निःसार और तथ्यविहीन हैं। प्रस्तुत लेख में हम इसी विषय पर अपने विचार रखते हैं।

अबतक के उपलब्ध अभिषेक साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस विषय के ज्ञात साहित्य में अभिषेक का थोड़ा बहुत वर्णन करने वाला सबसे प्रथम सोमदेव कृत यशस्तिलक के उपासकाध्ययन प्रकरण का ३६वाँ कल्प है। सोमदेव का समय विक्रम की ११वीं सदी है। इसके बाद इसी को आधार बनाकर पं० आशाधरजी ने कुछ विस्तार से नित्यमहोद्योत नाम का अभिषेक पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसके पहिले इस विषय का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ देखने में नहीं आया है। पं० आशाधर जी के जीवन का पता विक्रम की १३वीं सदी के अंत तक लगता है। शेष अभिषेक पाठ जो उक्त संग्रह में छपे हैं वे सब आशाधरजी के बाद बने हुए हैं। इन पाठों में इंद्रनंदि, देवनंदि और गुणभद्र कृत पाठ मुख्य हैं। ये तीनों पाठ आशाधरजी के कुछ ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाद वने जान पड़ते हैं। इन तीनों पाठों में आशाधर का अनुसरण करते हुए कहीं कुछ भिन्न विधान भी लिखे हैं। तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता लगता है कि ये तीनों एक ही कोटि के ग्रंथ हैं और तीनों के कर्ताओं का समय भी करीव पास पास ही है। इन तीनों ही का उल्लेख आशाधर के वाद के ग्रंथों में तो मिलता है किंतु आशाधर के पूर्व कहीं नहीं मिलता है। न आशाधर ने ही इनका कहीं उल्लेख किया है। मुख्यतः इनका उल्लेख एकसंधि, अर्यपार्य और पूजासार के संकलनकर्त्ता ने किया है और ये सब आशाधर के वाद १४वीं सदी में हुए हैं।

उक्त अभिषेक पाठों के कर्ता इंद्रनंदि आदि तीनों में से इन्द्रनन्दि का समय तो स्पष्ट ही है कि ये आशाधर के वाद हुए हैं। क्योंकि आशाधर की कोई कोई रचना इन्होंने ज्यों की त्यों अपनी इंद्रनंदिसंहिता में उद्धृत कर ली है जिसे संपादक जी ने भी स्वीकार किया है। अव रहे देवनंदि और गुणभद्र के अभिषेकपाठ, तो इनको भी हम निम्नलिखित आधारों से आशाधरजी के वाद की ही कृतियाँ समझते हैं।

१—आशाधरजी के ग्रन्थों की रचना शैली का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि उनमें जो विषय चर्चित किया जाता है उसके समर्थन में कहीं न कहीं प्रसंगोपात्त किसी अन्य ग्रंथ का उद्धरण दिया जाता है। उनके वनाये नित्यमहोद्योत अभिषेकशास्त्र में या अन्यत्र सोमदेव का तो उद्धरण है किन्तु इन देवनंदि गुणभद्र के पाठों का कहीं उद्धरण नहीं है। इससे स्पष्ट है कि—पं० आशाधर जी के पूर्व सोमदेवकृत अभिषेकप्रकरण तो मौजूद था किन्तु देवनंदि गुणभद्र के अभिषेक पाठ नहीं थे।

२—आशाधरजी के अभिषेकपाठ में वहुत ही कम मन्त्र पाये जाते हैं। यहाँ तक कि खास जलादि अभिषेक के वक्त के भी नित्यमहोद्योत में मूल में मंत्र नहीं हैं वे भी टीकाकार श्रुतसागर ने लिखे हैं। आशाधर के पहिले सोमदेव ने तो ये आशाधर वाले मंत्र भी नहीं लिखे हैं। नित्य महोद्योत में प्रयुक्त मंत्रों का प्रसंग निम्न प्रकार है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रपाल, वास्तुदेव, दिग्पाल व वात मेघ-अग्नि कुमार और नागदेव इन देवोंके आह्वानादि मंत्र। अर्हंत आह्वानादि मंत्र। कलशस्थापन, प्रतिमास्पर्शन, प्रतिमास्थापन, पाद्य और आचमन वस इनके मंत्र ही प्रायः आशाधरने लिखे हैं। किंतु इंद्रनन्दि, देवनंदि और गुणभद्रके पाठोंमें उक्त मंत्र तो हैं ही साथ ही, निम्नलिखित प्रसंगोंके भी मंत्र लिखे मिलते हैं—

भूमिशुद्धि, दर्भस्थापन, मुद्रिका-कंकण-शेखर—यज्ञोपवीतधारण, धोती-डुपट्टाधारण, कलशार्चन, पीठस्थापन, पीठप्रक्षालन, पीठार्चन, श्री लेखन, श्रीयंत्रार्चन, जलादिअभिषेक, गोमयपिण्डादि-अवतारण और पुष्पार्पण इन सब क्रियाओं के मंत्र लिखे हैं। तथा जलादि अष्टद्रव्य चढ़ाने के "परमेष्ठिभ्यः स्वाहा जलं। परमात्मकेभ्यः स्वाहा चंदनं। अनादिनिधनेभ्यः स्वाहा अक्षतं आदि मंत्र भी लिखे हैं जो विलक्षण से लगते हैं। ये सब मंत्र आशाधरके अभिषेकपाठ में ही नहीं उनके प्रतिष्ठासारोद्धारमें भी कहीं नहीं हैं। यह कभी नहीं हो सकता कि ये मंत्र देवनंदि आदि प्राचीन ऋषिप्रणीत होते और आशाधरजी इनका उपयोग नहीं करते। इन देवनन्दि-गुणभद्र के अभिषेक पाठों में पाये जाने वाले इन मंत्रों से तो उल्टे यह कहा जा सकता है कि—इन्होंने जहाँ आशाधर के मंत्र थे वहाँ तो वे काम में लिये हैं और जहाँ न थे वहाँ इन्होंने अपनी तरफ से नये वना लिये हैं। सच तो यह है कि मंत्रों की यह अधिक भरमार ही इन अभिषेकपाठों को अर्वाचीन सिद्ध कर रही है।

यह भी नहीं कह सकते कि—ये सभी मंत्र पीछे से ग्रंथ में किसी ने जोड़ दिये हैं। क्योंकि खुद ही इन देवनन्दि ने अपने इस अभिषेकपाठ में मंत्र होने की विज्ञप्ति की है। यथा—

निष्ठाप्यैवं जिनानां सवनविधिमनु प्रार्च्यभूभागमन्यं
पूर्वोक्तैमन्त्रयन्त्रैरिह भुवि विधिनाराधनापीठयन्त्रम् ॥ ३७ ॥

इसमें लिखा है कि—"इस प्रकार जिनाभिषेक की विधि को समाप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करके बाद में पूर्वोक्त अभिषेक विधि में कहे गये मंत्र यंत्रों के द्वारा मंडल-पूजा के लिये अन्य भूभाग की पूजा करके यहाँ इस भूभाग में विधि के साथ आराधनापीठ को रखकर....।"

अलावा इसके एकसंधिभट्टारक भी इनमें लिखे मंत्रों को ग्रहण करने का आदेश देते हैं। वे अपनी बनाई जिनसंहिता के मंत्रविधि नामक २०वें परिच्छेद के अन्त में निम्न प्रकार लिखते हैं—

पूज्यपादगुणभद्रसूरिभिर्वज्रपाणिभिरपि प्रपूजितैः।
मन्त्रवद्वचनमप्युदीरितं शस्यतेऽत्र सकलेऽपि कर्मणि ॥

अर्थ—पूज्यपाद गुणभद्र और इन्द्रनन्दि इन ग्रंथकारों ने जो मंत्र वाक्य लिखे हैं वे सभी कर्म में प्रशंसनीय हैं यानी उनका सब क्रियाओं में उपयोग करना चाहिये।

इससे सिद्ध है कि एकसंधि के वक्त में भी इन अभिषेकपाठों में मंत्र लिखे हुए थे। एकसंधि का समय विक्रम सं० १३५० के करीब माना जा सकता है।

मुद्रित अभिषेकपाठसंग्रह में गुणभद्र के अभिषेक पाठ के साथ मंत्रभाग नहीं छपा है। यह सम्पादक महोदय की कूटनीति का परिणाम है जो उनके सामने मंत्रभाग वाली प्रतियाँ होते हुए भी उनकी अवहेलना की। पूजासार नाम के हस्तलिखित ग्रन्थ में गुणभद्र का यह सारा का सारा पाठ आदि से अंत तक ज्यों का त्यों उद्धृत है। उनमें वे सब मंत्र लिखे हुए हैं जो इन्द्रनन्दि और देवनंदि के अभिषेकपाठों में पाये जाते हैं। गुणभद्र के पाठ की मुद्रित प्रति में तो मन्त्रभाग ही क्या बल्कि उसके कई स्थलों के कई श्लोक और गद्यभाग भी छपने से छूट गये हैं। इस संबंध में हम आगे लिखेंगे।

३—आशाधर ने रसाभिषेक का वर्णन करते हुए इक्षुरस, खजूर-आँवला-नारियल-द्राक्ष आदि फलों का रस इन सबके संयुक्त रस से एक ही बार में अभिषेक करने का विधान किया है। किन्तु देवनन्दि आदि उक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीनों के पाठों में इस तरह से रसाभिषेक करना नहीं बताया है। वहाँ नारियल का जल, इक्षुरस और आम्ररस इन तीनों के द्वारा क्रम से अलग-अलग अभिषेक करने का कथन किया है व रसों में इन तीन ही का रस लिखा है, अन्य फलों का रस नहीं। तथा आशाधर ने कषायोदक से स्नान आरती के पहिले करना बताया है जब कि उक्त तीनों पाठों में आरती के बाद कषायोदक से स्नान करने को कहा है। इस प्रकार देवनंदि आदि तीनों के पाठों से आशाधर का कथन भिन्न पड़ता है। चूँकि आशाधर सोमदेव के बाद हुए हैं इसलिये आशाधर ने इस विषय में सोमदेव का अनुसरण किया है यहाँ तक कि रसाभिषेक में सोमदेव ने यशस्तिलक में जिन-जिन फलों के नाम लिखे हैं वे ही नाम आशाधर ने भी लिख दिये हैं। अगर इन अभिषेकपाठों के कर्ता देवनन्दि और गुणभद्र प्राचीन होते तो इनमें जैसी और जिस क्रम से अभिषेकविधि बताई गई है वैसी ही आशाधरजी भी लिखते और वैसी ही सोमदेव भी।

४—देवनंदि के अभिषेक पाठ के पृष्ठ २ में छपा "नीरजसे नमः" आदि अष्टविधार्चन जिनसेन के आदिपुराण के समान है और उसी के पृष्ठ ४ में छपा अष्टविधार्चन इंद्रनंदि गुणभद्र के पाठों के अनुसार है। यदि यह अभिषेक पाठ प्राचीन देवनंदि कृत होता तो पृ० २ वाला अष्टविधार्चन ही इसमें लिखा मिलता। तब इससे यह समझा जाता कि इनका अनुसरण जिनसेन ने किया है किन्तु दो तरह का अष्टविधार्चन इसमें लिखा होने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस अभिषेक पाठ के कर्ता देवनंदि के सामने जिनसेन का अष्टविधार्चन और आधुनिक अष्टविधार्चन दोनों मौजूद थे।

५—देवनंदि के इस अभिषेक पाठ के प्रारंभ के २ श्लोक गुणभद्र पाठ के हैं। क्योंकि इंद्रवामदेव ने गुणभद्र पाठ की पंजिका लिखी है जो इसी संग्रह में छपी है। उसमें इन दोनों श्लोकों के भी कठिन शब्दों की व्याख्या की है। इससे देवनंदि का पाठ गुणभद्र के पाठ के बाद में बना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध होता है। इंद्रवामदेव का समय करीब विक्रम की १४वीं सदी का अन्त कहा जा सकता है। उस वक्त भी उक्त २ श्लोक गुणभद्र के पाठ में लिखे मिलते थे।

६—देवनंदि के इस पाठ के श्लोक ३८ में तिथिदेव, ग्रह, यक्ष, यक्षी, द्वारपाल और लोकपाल इन देवों की आराधना का कथन किया गया है। बल्कि इस स्थल का सारा ही विधान इंद्रनंदि और गुणभद्र के पाठों से मिलता-जुलता है। यह पद्धति प्राचीन पूज्यपाद की आम्नाय से मेल नहीं खाती है। क्योंकि इन्होंने सर्वार्थसिद्धि के ६ वें अध्याय सूत्र ५ की टीका में अर्हत आदि से अतिरिक्त देवों की पूजा को मिथ्यात्वक्रिया लिखी है—

"चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुकी प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया।"

अर्थ—जिनप्रतिमा, गुरु, जिनवाणी की पूजास्तुतिरूप सम्यक्त्व बढ़ानेवाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया कहलाती है। और इनसे अतिरिक्त अन्य देवों की स्तुति करना मिथ्यात्वप्रवृत्ति की हेतुभूत मिथ्यात्वक्रिया कहलाती है।

यहाँ मैं यह सूचित कर देना चाहता हूँ कि मुद्रित संग्रह में इंद्रनंदि का अभिषेक पाठ भी पूरा नहीं छपा है। जितना छपा है उससे आगे का भी कितना ही अंश पूजासार में लिखा मिलता है।

७—ऊहापोह से देवनंदिके इस अभिषेक पाठ का रचना काल करीब विक्रम की १४वीं सदी का प्रारंभिक भाग पड़ता है। इस समय में कोई देवनंदि हुए भी हैं या नहीं अब इस पर विचार किया जाता है—

पं० नेमिचंद्र ने द्विसंधान काव्य की टीका लिखी है। उसमें वे अपने गुरु देवनंदिको विनयचंद्र का शिष्य बताते हुए प्रणाम करते हैं और साथ ही त्रैलोक्यकीर्ति को भी प्रणाम करते हैं। इन्हीं त्रैलोक्यकीर्तिका स्मरण इंद्रवामदेव ने अपने बनाये त्रैलोक्यदीपक ग्रंथ में किया है। ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वामदेव संस्कृतभावसंग्रह की प्रशस्ति में अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार देते हैं—वामदेव, लक्ष्मीचंद्र, त्रैलोक्यकीर्ति, विनयचंन्द्र। यानी त्रैलोक्य-कीर्ति वामदेव के दादागुरु लगते हैं। इन उल्लेखों से फलितार्थ निकलता है कि—उक्त विनयचंद्र के दो शिष्य थे देवनंदि और त्रैलोक्यकीर्ति। जिनमें देवनंदि के शिष्य नेमिचंद्र ने तो द्विसंधान काव्य की टीका बनाई और देवनंदि के गुरु भाई त्रैलोक्यकीर्ति के प्रशिष्य वामदेव ने भाव-संग्रहादि ग्रंथ बनाये। अपने गुरु देवनंदि के गुरुभाई होने के नाते त्रैलोक्यकीर्ति को भी नेमिचंद्र ने गुरुरूप से नमस्कार किया है। ये विनयचन्द्र कही वे ही तो नहीं हैं जिनको आशाधर ने धर्मशास्त्र पढ़ाये थे और जिनकी प्रेरणा से आशाधर ने इष्टोपदेश की टीका और भूपाल चतुर्विंशतिका की टीका लिखी थी। अगर यह अनुमान ठीक हो तो विद्यागुरु की अपेक्षा इन देवनंदि के आशाधर जी दादा गुरु कहे जा सकते हैं। वामदेव का समय विक्रम की १४वीं सदी के अंत के लगभग का अनुमान किया जा सकता है। चूँकि वामदेवकृत त्रैलोक्यदीपक ग्रंथ का लिपिकाल विक्रम सं० १४३६ का मिलता है। वामदेव ने जो अपनी उक्त गुरु परंपरा दी है उसको देखते हुये विनयचंद्र के शिष्य उक्त देवनंदि का समय भी १४वीं सदी का प्रारम्भिक भाग प्रतिभासित होता है। इससे यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि—विक्रम की १४ वीं सदी के प्रारम्भ में कोई देवनंदि अवश्य हुये हैं और संभवतः प्रस्तुत अभिषेक पाठ के कर्ता भी शायद ये ही हों। चूँकि प्राचीन देवनंदि आचार्य तो ऐसे निस्पृह थे जिहोंने सर्वार्थ-सिद्धि, समाधिशतक आदि अपने किसी भी ग्रंथ के अन्त में अपना नाम किसी भी रूप में व्यक्त नहीं किया है तब वे इस अभिषेक पाठ के अन्त में ही भला अपना नाम क्यों देने लगेंगे। इससे भी कह सकते हैं कि इस अभिषेक पाठ के कर्ता ये देवनंदि कोई जुदे ही हैं और इनके इस अभिषेक पाठ का उल्लेख भी १४ वीं सदीसे पूर्वके किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलत ; है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धिप्रियस्तोत्र भी इन अर्वाचीन देवनंदि का ही बनाया हुआ हो सकता है। क्योंकि काव्य की जो ललित छटा अभिषेक पाठ में पाई जाती है वही सिद्धिप्रियस्तोत्र में भी है और अभिषेक पाठ की तरह ही इसमें भी अन्त में अपना नाम देवनंदि प्रकट किया है। तथा इन्होंने ही २१ श्लोकों में 'मरुदेवी स्वप्नावली' लिखी है जो अनेकांत वर्ष ५ किरण १-२ में प्रकाशित हुई है।

इस अभिषेक पाठ के अन्तिम श्लोक के तीसरे चरण में आया 'पूज्यपाद' वाक्य भगवान् का वाचक है। इसका प्रयोग ग्रन्थकार ने अपना नाम ध्वनित करने के अभिप्राय से नहीं किया है। ऐसा प्रयोग तो श्लोक ३३ में भी किया है। जब कि चौथे चरण में ग्रंथकार ने अपना नाम साफ दे दिया तो फिर तीसरे चरण में दुबारा नाम देने की आवश्यकता भी क्या रहती। 'ग्रन्थकार के दो नाम होने से दोनों नाम दिये गये, ऐसा कहना विकट कल्पना ही कही जायगी जिसका समर्थन प्राचीन पूज्यपाद के अन्य किसी ग्रन्थ से हो सकना संभव नहीं है। जहाँ वे अपना ग्रंथांत में एक नाम ही नहीं देते वहाँ वे अपने दो नाम देंगे यह कोई कैसे मान सकता है।

प्राचीन देवनंदि की ख्याति पूज्यपाद नाम से भी थी इसीसे एकसंधि भट्टारक भी भूल से या ऐसे ही किसी गूढ़ अभिप्राय से इस अभिषेक पाठ के कर्ता देवनंदि को पूज्यपाद नामसे लिख बैठे हैं और एकसंधि की देखादेखी ऐसा ही अर्यपार्य और पूजासार के संग्रहकार ने लिख दिया है। त्रिभंगीसारकी सोमदेवकृत लाटी टीका की प्रशस्ति में 'पूज्यपाद' का संकेत मिलता है। हो सकता है इन देवनंदि ने प्राचीन की तरह अपना भी 'पूज्यपाद' यह दूसरा नाम रखा हो या शिष्यभक्तों ने प्रसिद्ध कर दिया हो।

एकसंधि का बनाया सिर्फ जिनसंहिता नामक एक ही ग्रन्थ मिलता है। इनकी अन्य कोई रचना देखने सुनने में नहीं आई है। इनकी जिनसंहिता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के प्रारम्भ में इन्होंने जितने परिच्छेदों की सूचना की है और उनके जो नाम लिखे हैं उनमें से अन्तिम परिच्छेदके सिवा बाकी सब इदानों उपलब्ध इनकी संहिता में पाये जाते हैं। यह नहीं जान पड़ता कि इनकी गुरु परंपरा क्या थी। ग्रंथ के आदि में भी इन्होंने अपने किसी गुरु का नाम नहीं प्रकट किया है। इनका समय तो एक तरह से निश्चित ही है। इन्होंने इंद्रनंदि का उल्लेख किया है और इन एकसंधि का उल्लेख विक्रम सं० १३७६ में होने वाले अर्यपार्य ने किया है अतः ये एकसंधि, इन्द्रनंदि और अर्यपार्य के मध्य किसी समयमें हुये हैं, संभवतः इनका समय वि० सं० १३५० के करीब का हो सकता है। ये कोई प्रामाणिक ग्रन्थकार मालूम नहीं होते हैं। 'एकसंधि' यह नाम भी इनका अटपटा सा ही है। इनकी बनाई जिनसंहिता के वास्तु आदि विषयक कई एक परिच्छेदों में स्पष्टतः जैनेतर ग्रन्थों का अनुसरण पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर इसके २८वें परिच्छेद का निम्न श्लोक देखिये—

आयामेन परित्यक्तं चतुःशालं निकेतनम्।
योग्यं दानस्य विप्राणामपि पाखंडिनामपि ॥४४॥

अर्थ—चार शाल का घर लंबाई रहित हो तो वह अशुभ है उसे ब्राह्मणों और साधुओं को दान कर देना चाहिये।

इसी तरह इसके ४०वें परिच्छेद में नयनोन्मीलन विधि का ऐसा विलक्षण वर्णन है जो आशाधर आदि किसी के भी प्रतिष्ठा शास्त्रों में नहीं पाया जाता है। यों तो एकसंधि अपने इस जिनसंहिता ग्रंथ की संधियों में इसे आर्ष लिखते हैं और अपने आपको भगवत् शब्द से निर्देश करते हैं। यही क्यों ये तो इसकी उत्थानिका में यहाँ तक लिखते हैं कि—"संहिताविषयक व्याख्यान जो गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर सुनाया था वह अविच्छिन्न रूप से गुरु परम्परा से चला आ रहा था उसे ही मैंने इस समय संक्षेपसे इस जिनसंहिता में प्रकाशित किया है। यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चराचरजगद्बन्धुस्ततस्तां जिनसंहिताम् ।
भगवान् गौतमस्वामी मागधं प्रत्यबूबुधत् ॥
ततः प्रभृत्यविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमागता ।
सेयं मयाधुना साधु संक्षेपेण प्रकाश्यते ॥

इसी तरह इन्होंने हर परिच्छेद के आदि में राजा श्रेणिक को सम्बोधन कर विवेचन शुरू किया है। कहना न होगा कि जहाँ सैद्धान्तिक विषय की परम्परा ही विच्छिन्न हो गई वहाँ संहिता विषय की परम्परा गौतम-गणधर से लेकर आज तक अविच्छिन्न ही बनी रही यह एकसंधि के कहने से ही कैसे मानने में आ सकती है। ये सब लुभाने और स्वमंतव्यके प्रचार करने के तरीके हैं और इनमें कुछ तथ्य नहीं है।

यहाँ एक बड़े मजे की बात है कि—उत्थानिका का यह प्रकरण एकसंधिसंहिता, इंद्रनन्दिसंहिता, पूजासार और कुमुदचंद्रकृतप्रतिष्ठाकल्प-टिप्पण इन चारों ग्रन्थों में एक समान पाया जाता है। "विज्ञानं विकलं यस्य....." इत्यादि श्लोक से यह प्रकरण शुरू होता है। इस प्रकरण के खास रचयिता हमें इन्द्रनन्दि मालूम पड़ते हैं। यह प्रकरण इन्द्रनन्दिसंहिता के शुरू में ही है। पूजासार में भी प्रारम्भ में यह ज्यों का त्यों उद्धृत है जो इन्द्रनंदि संहिता से लिया जान पड़ता है। एकसंधिसंहिता में शुरू में एक श्लोक मङ्गलाचरण का नया बनाकर फिर इस प्रकरण को मामूली कहीं पाठ भेद करके अपना बना लिया है। किन्तु कुमुदचंद्र का रवैया कुछ और ही है वे प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण में प्रारम्भिक श्लोक में अपने को माघनन्दि का पुत्र बताते हुए 'प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण' के रचने की प्रतिज्ञा करते हैं और इसी के आगे वही "विज्ञानं विमलं....." वाला प्रकरण ज्यों का त्यों लिख देते हैं। यही क्या इन्द्रनन्दिसंहिता के कई एक प्रकरणों को भी इनने ज्यों के त्यों ले लिये हैं और ग्रन्थ का 'प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण' यह नया नाम धर के आप उसके निर्माता बन बैठे हैं।

८—ऊपर के विवेचन में यह दर्शाया गया है कि—देवनन्दि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि के अभिषेक पाठ पं० आशाधरजी के बाद विक्रम की १४वीं सदी के प्रारम्भिक भाग में रचे गये हैं। इनके विरोध में नं० ४० का शिलालेख पेश किया जा सकता है जिसमें पूज्यपाद द्वारा रचे गये एक जैनाभिषेक ग्रन्थ का उल्लेख है व जिस शिलालेख को विक्र० सं० १२२० के समय का बताया जाता है। नीचे हम इसी पर विचार करते हैं—

प्रथम तो शिलालेखानुसार कोई जैनाभिषेक ग्रन्थ प्राचीन पूज्यपाद रचित होना मान भी लिया जाये तो भी वह आज ही नहीं आशाधरजी के वक्त भी उपलब्ध न था और जो यह मुद्रित अभिषेकपाठ है वह तो कदापि शिलालेख में उल्लिखित जैनाभिषेक नहीं हो सकता है।

दूसरे उक्त शिलालेख का हाल यह है कि—श्रवणबेलगोल के चंद्रगिरि पर जिस पाषाण स्तम्भ पर यह खुदा हुआ है वह स्तम्भ चार पहलू का है। जिसके एक पहलू पर तो ३९वें नम्बर का शिलालेख है और शेष तीन पहलुओं पर ४०वें नम्बर का शिलालेख है। इस प्रकार एक ही पाषाण स्तम्भ पर दो शिलालेख अंकित हैं। ३९वें नं० के शिलालेख में प्रथम ही मंगलाचरण के बाद देवकीर्ति मुनि की विद्वत्ता का कीर्तन कर उनके स्वर्गवास का समय वि० सं० १२२० बताकर अन्त में उनकी निषद्या की, उनके शिष्य लक्खनन्दि, माधवचंद्र और त्रिभुवनदेव ने प्रतिष्ठा की, ऐसा लिखा है। तथा ४०वें नं० के शिलालेख में भी प्रथम ही मङ्गलाचरण के बाद उन्हीं देवकीर्ति मुनि के पूर्व होने वाले अनेक आचार्यों की नामावली दी है जिसमें पूज्यपाद और उनके रचे जैनाभिषेक आदि शास्त्रों का भी उल्लेख किया है। अन्त में फिर उन्हीं लक्खनन्दि आदि द्वारा देवकीर्ति की निषद्या के प्रतिष्ठित होने की बात दुबारा कही गई है। साथ ही इनमें निषद्या के निर्माता रूप में हुल्लपमंत्री का नाम भी नया लिखा गया है। इन दोनों ही शिलालेखों में दुबारा मङ्गलाचरण होने और दोनों ही के अन्त में निषद्या प्रतिष्ठित करने वालों के दुबारा नाम देने आदि से दोनों शिलालेख भिन्न-भिन्न और जुदे-जुदे समय के लिखे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध होते हैं। शायद इसी से राइस साहब ने भी जो इन शिलालेखों के संग्रहकर्ता हैं इन दोनों के भिन्न-भिन्न नम्बर कायम किये ऐसा प्रतीत होता है। २९वें शिलालेख की अपेक्षा ४०वें शिलालेख में सिर्फ दो बातें विशेष हैं—आचार्यों की नामावली और हुल्लपमंत्री के द्वारा निषद्या निर्माण। किन्तु आचार्यों की नामावली लिखना ही यदि इष्ट होता तो नामावली तो ३९वें नं० के शिलालेख में भी दी जा सकती थी। बात दर असल यों हो सकती है कि—उक्त स्तम्भ के ३ पहलुओं का स्थान खाली पड़ा था इसी की पूर्ति के लिए ३९वें नम्बर के शिलालेख के न जाने कितने समय बाद हुल्लपमंत्री के किसी कुटुम्बी ने इस ४०वें नं० के शिलालेखकी सृष्टि की होगी। अन्यथा एक ही वृत्तान्त के दो शिलालेख एक ही स्तंभ पर लिखने का अन्य क्या कारण हो सकता है? ऐसी अवस्था में यह अनुमान लगाना सहज ही है कि—३९वां शिलालेख ही देवकीर्ति के स्वर्गवास के अवसर का लिखा हो सकता है। ४० वां शिलालेख तो बाद में न जाने कब लिखा गया है कुछ निश्चित नहीं है। इसलिए ४०वें शिलालेख में उल्लिखित जिनाभिषेक को वि० सं० १२२० के पूर्वका समझना भ्रांति युक्त है। कुछ भी हो नं० ४० के शिलालेख की स्थिति अवश्य ही सन्देह पूर्ण है। अतः जब तक उनकी स्थिति साफ न हो जाये तब तक प्रस्तुत चर्चा में उसका प्रमाण पेश करना निरर्थक है।

आगे हम गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ पर विचार करते हैं—

इसके विषय में कितना ही विवरण तो ऊपर देवनंदि के अभिषेक पाठ की चर्चा के शामिल में लिखा जा चुका है। यहाँ खास इसी से संबंधित चर्चा की जायेगी। प्रथम ही पं० पन्नालाल जी सोनी ने जो इस गुणभद्र के अभिषेकपाठ के संपादन में अंधाधुन्धी बरती है और जिसके कारण इस ग्रन्थ की मिट्टी पलीद की है हम उसका यहां कुछ दिग्दर्शन करा देते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हस्तलिखित पूजासार में चार अभिषेक पाठ उद्धृत हैं इनमें से एक यह भी है। उससे इस मुद्रित पाठ को मिलान करने से जाना जाता है कि यह अधूरा छपा है। कई स्थानों के पद्य व गद्य छूट गये हैं और इसका मंत्र भाग तो प्रायः सारा का सारा छूटा हुआ है। इंद्रवामदेव ने जो इस पर पंजिका टीका की है वह भी अभिषेक पाठ संग्रह के अन्त में छपी हुई है उसमें कितने ही ऐसे शब्दों की व्याख्या है जो शब्द इस मुद्रित प्रति के पद्य गद्य में कहीं भी नहीं हैं जबकि वे लिखित प्रति में पाये जाते हैं। संपादक जी को भी जब वे शब्द मुद्रित पाठ में नहीं मिले तो उन्होंने उनमें से कुछ शब्दों को × इस चिह्न से अंकित किया है। इससे स्पष्ट है कि यह अधूरा छापा गया है। आश्चर्य है कि इतना होते भी इसका खंडित रूप संपादक जी के दिमाग में प्रवेश न कर सका। जिस-जिस प्रसंग के श्लोक छूटे हैं उनकी मोटे रूपमें यह तालिका है—

"भूमिशुद्धयर्थ अग्निज्वालन, भूम्यर्चन, कलशस्थापन, कलशार्चन, पीठदर्भस्थापन, प्रतिमास्पर्शन, जिनपादप्रक्षालन, पंचगुरुमुद्रा, पाद्याचमन, मंगलद्रव्यावतरण के ७ श्लोक, पुष्पांजलि, जलादिप्रत्येक अभिषेक के बाद अर्घ चढ़ाने के ११ श्लोक, गंधोदक ग्रहण, मंगलद्रव्यों से पूजा, पूजाभेद और पूजाफल।"

छूटे हुए गद्य भाग का विवरण इस प्रकार है—

श्लोक ८९ के आगे का "ओं ह्रीं क्रौं अर्हन् मम पापं खंड" इत्यादि व "ओं निखिलभुवनभवनमंगलीभूत" इत्यादि तथा "ॐ नमोऽर्हते भगवते" इत्यादि। (मालूम रहे कि ये तीनों लंबे गद्य अर्यपार्य के अभिषेक पाठ पृष्ठ २०९-३१० पर पूर्णतः छपे हैं। अर्यपार्य ने यह अंश इसी गुणभद्र के अभिषेक पाठ से लिया है।) इन गद्यों के भी कुछ कठिन शब्दों की व्याख्या उक्त वामदेव की पंजिका में पाई जाती है जिससे ये गद्य गुणभद्र कृत अभिषेक पाठ के ही हैं ऐसा स्पष्ट हो जाता है। तथा श्लोक ९० के आगे भी गद्य है जिसका अर्थ इस प्रकार है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"इस प्रकार अभिषेक विधि समाप्त करके नव देवों की आराधना-विधिका उपक्रम करते हुए पूर्वरीति के अनुसार पृथ्वी का शुद्धि-विधान करके उस पर रखे पीठ पर अष्टदल कमल को रचकर उसकी कर्णिका पर पुष्पाक्षतों को क्षेपण करते हुए अभिषेकार्थ आहूत देवों का विसर्जन करके उस कमल की कर्णिका व पत्तों पर नवदेवों की स्थापना कर आगे के ९१ आदि श्लोकों को पढ़ते हुए अष्टद्रव्य से पूजा करे !" तथा श्लोक १०० के आगे गद्य है जिसमें उक्त कमल को घेर कर पाँच मण्डलों में ८२ देवों की स्थापना बताते हुए उनके नाम यों लिखे हैं—

१५ तिथि देव, ९ ग्रह, २४ यक्षियाँ, १० लोकपाल। फिर ६ देवों का स्थान जिन मंदिर की भीतरी कक्षा में बताया है। उनके नाम ये हैं—

"क्षेत्रपाल, श्रीदेवी, गंधर्व, किन्नर, प्रेत और भूत। इस प्रकार ८८ परिवार देवों की पूजा का निर्देश कर चैत्यादि तीन भक्ति व विसर्जन का कथन करके अन्त में २ श्लोकों में पूजा के भेद और उनका फल बताया है।

इस प्रकार गुणभद्रकृत अभिषेक पाठ के जो स्थल मुद्रित प्रति में अपने से छूट गये हैं उनकी प्रायः उपरोक्त तालिका है। विधिविधान के अनेक मंत्र छूट गये हैं वे इनसे जुदे ही हैं।

सोनीजी न केवल इसके संपादक हैं प्रत्युत संशोधक भी हैं। उनके संशोधन का भी जरा नमूना देखिये—

पृ० २० पर "ॐ अखंडितमुखाभिनवनूतनैः स्मितार्द्रसिततंदुलैर्नमेरु-मंदारवत्सरोजदलचंपकप्रभृति पुष्पपूर्णं स्फुटं भगवतोऽर्हतोऽवतारणं करोमि श्रियै" इसे गद्य रूप में छापा है। चूँकि अशुद्ध होने से छंद बनता नहीं है इसलिये इसे गद्य समझ लिया है। किन्तु यह गद्य नहीं पद्य है और शुद्ध रूप में वह इस प्रकार है—

अखंडितमुखाभिनूतनसितार्द्रसत्तण्डुलं,
स्फुटत्कमलचंपकप्रभृतिपुष्पपूर्णाञ्जलेः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रदक्षिणमहं द्विधा पदसरोजमामस्तकं,
पुरो भगवतोऽर्हतोऽवतरणं करोमि श्रियै ॥

इसी प्रकार मुद्रित ग्रंथ में अन्य अनेक अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं जिनका उल्लेख विस्तार भय से छोड़ा जाता है। यदि सोनीजी चाहते तो ग्रन्थ को कितनी ही अशुद्धियाँ तो पंजिका से भी शुद्ध की जा सकती थीं किन्तु सोनीजी ने तो इतना सा श्रम भी करना उचित नहीं समझा। शुद्धाशुद्ध जैसी भी प्रति मिली उसकी वैसी ही नकल करके प्रेस में दे दी गई। क्या यही सम्पादक संशोधक का कर्तव्य है?

संपादक जी प्रस्तावना में लिखते हैं जिसका आशय यह है कि 'दसवीं सदी में होने वाले उत्तर पुराण के कर्ता गुणभद्र से लगाकर १४वीं सदी तक गुणभद्र नाम के किसी आचार्य का इतिहास में कहीं पता नहीं लगता है और यह निश्चित है कि गुणभद्रकृत इस अभिषेक पाठका समय १४वीं सदीके भीतर भीतर है। ऐसी अवस्थामें यह अभिषेक पाठ उन्हीं गुणभद्र का बनाया हुआ हो सकता है जो उत्तरपुराणके कर्ता और आचार्य जिनसेनके शिष्य थे।"

यह भी सब सोनीजी की अटकलू बातें हैं। इन्हें जानना चाहिये कि पं० सोमदेवने एक त्रिभंगीसार की टीका लिखी है। उसकी प्रशस्तिमें वे गुणभद्रसूरिको नमस्कार करते हैं और वहीं शिवाशाधरका भी उल्लेख करते हैं। इससे ऐसा आभास होता है कि ये गुणभद्र शायद १४वीं सदी में हुए हैं और संभवतः यही इस अभिषेक पाठ के कर्ता हों? या और कोई गुणभद्र भी १४वीं सदी में हो सकते हैं। इतिहास का क्षेत्र विस्तृत है, इंद्रियातीत है और एक नामके अनेक भिन्न-भिन्न ग्रन्थकर्ता भूतकाल में हो चुके हैं। अतः छद्मस्थ, सबल प्रमाणोंके बिना कोई निश्चित बात नहीं कह सकता है।

उसी प्रशस्तिमें सोमदेवने अपनेको प्रतिष्ठाचार्य भी लिखा है। प्रतिष्ठाविधि का ज्ञान इन्होंने अपने गुरु गुणभद्र से ही प्राप्त किया होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे इन गुणभद्र का क्रियाकांडी विद्वान् होना पाया जाता है अ र इससे इनके द्वारा अभिषेक पाठ का रचा जाना संभव माना जा सकता है ।

संपादक जी ने इसके कर्ता को प्राचीन गुणभद्र बनानेके लिये दूसरी युक्ति यह दी है कि "इनके नामके साथ गणभृत् शब्द लगा हुआ है इससे ये कोई बड़े आचार्य हैं।" उत्तर में लिखना है कि–प्रथम तो उत्तरपुराणके कर्ता गुणभद्र की किसी भी रचना में इनके नाम के साथ गणभृत् शब्द लगा नहीं देखा जाता है और न इस नाम से इनकी कोई ख्याति ही है। दूसरे गणभृत् के पर्यायनाम गणी, गणाधिप, गणप, ऐसे शब्दोंका प्रयोग भट्टारक भी अपने नाम के साथ करते हैं। देखिये शुभचन्द्र भट्टारक ने प्राकृत व्याकरण की स्वोपज्ञचिंतामणि वृत्ति की प्रशस्ति में अपने को गणप और अपने गुरु विजयकीर्ति को गणी लिखा है। यथा—

"विजयकीर्तियतिर्जगतां गुरुर्गरिमगीर्मुदितांगिगणो गणी।"

"श्रीमच्छुभेन्दुगणपो गुणिगेयकीर्तिश्चिंतामणिं विशदशब्दमयं चकार।"

तीसरी युक्ति इसके प्राचीन होने में संपादक जी यह देते हैं कि—

इसका निम्न श्लोक आशाधर के सागारधर्मामृत में उक्तं च रूप से पाया जाता है—

निस्तुषनिर्वणनिर्मलजलार्द्रशालेयधवलतन्दुलैर्लिखिते।
श्रीकामः श्रीनाथं श्रीवर्णे स्थापयामि जिनम्॥ ३१॥

इसलिये यह पद्य आशाधर के पूर्व का तो सिद्ध ही है। इसे संपादकजी ने अपनी सबसे बड़ी युक्ति समझी है। इसका भी हम यहाँ भंडाफोड़ कर देते हैं। गुणभद्र के मुद्रित अभिषेक पाठ में जो आपने उक्त श्लोक जिस रूप में प्रकाशित किया है वह लिखित प्रति में उस रूप में लिखा नहीं मिलता है। वह लिखित प्रति में निम्न प्रकार है—

निस्तुषनिर्व्रणनिर्मलजलार्द्रशालेयतंदुलैः श्रीवर्णम्।
विलिखामि श्रीपीठे त्रिलोकनाथस्य केवलिश्रीभर्तुः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसमें सिंहासन पर गीले चावलों से श्रीवर्ण लिखने को कहा है। इसके आगे के "जिनराजप्रतिबिंबं....." श्लोक में जिनप्रतिमा को स्पर्श करनेको कहा है। यह श्लोक मुद्रित में नहीं है, लिखित प्रति में है। फिर आगे के "द्वीपे नदीश्वराख्ये...." श्लोक में जिनप्रतिमा को वेदी पर से उठा लाने को कहा है। इसका भी आगे का श्लोक लिखित प्रति में यह है—

प्रणमदखिलामरेश्वरमणिमुकुटतटाशुखचितचरणाब्जं ॥
श्रीकामः श्रीनाथं श्रीवर्णे स्थापयामि जिनं ॥

इसमें भगवान् को श्रीवर्ण पर विराजमान करने को कहा है।

इस प्रकार मुद्रित प्रति में जो ऊपर लिखा ३१वाँ श्लोक छपा है इसके दो अर्द्ध अर्द्ध भाग अन्य दो अर्द्ध भागके साथ लिखित प्रति में अलग अलग दो स्थानों में पाये जाते हैं। और लिखित प्रति के ये अवतरण बिल्कुल सुसंगत मालूम पड़ते हैं। उदगाँवसे बहुत पहिले एक पूजापाठ प्रकाशित हुआ था जिसमें आशाधर विरचित थोड़े से पाठ हैं बाकी सब पाठ अन्य रचित होते भी उसका 'आशाधर विरचित पूजा पाठ' ऐसा नाम प्रकट किया गया है। उसमें भी ये श्लोक लिखित प्रति के अनुसार ही पाये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि— मुद्रित प्रति का १३ वाँ श्लोक कतई गुणभद्र के अभिषेक पाठ का नहीं है। हाँ वह आशाधर के समकाल या पूर्व के किसी पूजापाठ का हो सकता है इसी से आशाधर ने इसे सागारधर्मामृत में उक्तं च रूप से उद्धृत किया है। किन्तु प्रस्तुत गुणभद्र के अभिषेक पाठ का तो वह हरगिज भी नहीं है। बल्कि ऐसी परिस्थिति में उल्टे यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि इन गुणभद्र के सामने सागारधर्मामृत का वह उक्तचं श्लोक मौजूद था जिसे गुणभद्र ने ही उसके पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध में अपनी रचना जोड़कर दो अलग अलग स्थानों में अपनाया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार इसको प्राचीन सिद्ध करने के लिए सम्पादक जी ने जो प्रमाण पेश किये हैं उन पर विचार करने से ये निःसार सिद्ध होते हैं।

यह भी विचार करने की चीज़ है कि इसमें अभिषेक समाप्ति के बाद मंडल पूजा में जिन तिथि, ग्रह, यक्ष, दिग्पालादि ८८ परिवार देवोंकी आराधना का कथन किया है जैसा कि ऊपर लिखा गया है वैसा कथन इंद्रनंदि, देवनंदि आदि के अभिषेक पाठों में भी पाया जाता है किन्तु ऐसी आम्नाय प्राचीन गुणभद्राचार्य की प्रतीत नहीं होती। क्योंकि उन्होंने या उनके गुरु आचार्य जिनसेन ने इन देवों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है बल्कि गुणभद्र स्वामी ने तो उल्टे उत्तर-पुराण के चंद्रप्रभचरित्र श्लोक १०२ से १०९ तक दिग्पालों को दिशाओं की रक्षा करने में असमर्थ बताते हुए इनकी सृष्टि करने वाले को महा मूर्ख बताया है। यदि ऐसी आम्नाय प्राचीन देवनन्दि की होती तो वे भी सर्वार्थसिद्धि के चौथे अध्याय में जो खासतौर से देवगति के कथन से सम्बन्ध रखता है इन यक्ष यक्षी दिग्पाल तिथि देवों का कथन करते किन्तु इन्होंने तो कहीं इनके नाम तक भी नहीं लिखे हैं। इससे जान पड़ता है कि ये सब देव काल्पनिक हैं और इनका कथन प्राचीन मूल संघ में नहीं था।

अलावा इसके इस गुणभद्र के अभिषेक पाठ में दश मंगल द्रव्यों की आरती का कथन करते हुये एक आरती सुगंधित चूर्ण की लिखी है ऐसा ही कथन इंद्रनंदि ने भी किया है किन्तु आशाधर ने इस जाति की आरती का कथन नहीं किया है। अगर यह कृति प्राचीन गुणभद्र कृत होती तो आशाधर जी भी तदनुसार कथन अवश्य करते।

जबकि आशाधर के ग्रन्थों के पद्य गुणभद्र के इस अभिषेक पाठ में पाये जाते हैं तब यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि अवश्य ही यह गुणभद्र का अभिषेक पाठ आशाधर के बाद का बना हुआ है। जैसा कि निम्न-लिखित अवतरणों से प्रकट है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यः श्रीमदैरावणवाहनेन·····" इत्यादि ८ श्लोक आशाधर के नित्यमहोद्योत में नम्बर ६४ से ७१ तक पाये जाते हैं। ये ही श्लोक आशाधर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार पत्र ९३ में भी लिखे मिलते हैं अतः निश्चित है कि ये आशाधर के ही रचे हुए हैं किन्तु ये ही आठों श्लोक गुणभद्र के अभिषेक पाठ में भी नं० २२ से ३० तक ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। यह भी नहीं कह सकते कि वर्तमान में उपलब्ध लिखित प्रतियों में ये प्रक्षिप्त हो गये हैं क्योंकि वामदेव ने इन श्लोकों के बावत इसकी पंजिका में लिखा है कि "इन ८ श्लोकों के विषम पदों की व्याख्या प्रतिष्ठा ग्रंथ में की जाने की वजह से यहाँ व्याख्या नहीं की जाती" (देखो पृ० ३७५) इससे सिद्ध है कि इस गुणभद्र के अभिषेक पाठ की ऐसी प्रति वामदेव के वक्त भी मौजूद थी जिसमें आशाधरके बनाये उक्त ८ श्लोक लिखे मिलते थे।

वामदेव ने भी कोई प्रतिष्ठाविषयक ग्रंथ बनाया जान पड़ता है। जिसका उल्लेख उन्होंने त्रैलोक्यप्रदीप की प्रशस्ति में भी किया है। पं० वामदेव का समय करीब विक्रम सं० १४०० है। वामदेव ने उक्त पंजिका के पृ० ३८१ पर "शश्वत्, चंद्रवलावल, सत्कृत्य, उपाहितां, प्राप्नुत, और व्यंक्त च" इन शब्दों की व्याख्या की है। किन्तु इन शब्दों वाला कोई पद्य उपलब्ध गुणभद्र के अभिषेक पाठ में मिलता नहीं है तथापि ऐसे पद्य वाली प्रति भी वामदेव के समक्ष थी वह पद्य भी आशाधर का रचा हुआ है जो प्रतिष्ठासारोद्धार के पत्र ३१ पर पाया जाता है। यथा—

एते सप्तधनुःप्रमाणवपुरुत्सेधा नवापि ग्रहाः।
शश्वच्चन्द्रवलावलाप्यसदसद्दानस्फुरद्विक्रमाः॥
सत्कृत्योपहितामिमामिह महे पूर्णाहुतिं प्राप्नुत।
प्रीतिं व्यंक्त च यष्टृयाजकनृपादीष्टप्रदानाद् द्रुतम्॥

कुछ श्लोक गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ में ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें आशय आशाधरकृत अभिषेकपाठ से लिया गया है। उसकी तालिका निम्न प्रकार है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशाधरकृत अभिषेकपाठ के—	गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ के—
श्लोक ३५ वां	श्लोक १८ वां
८० वां	३६ वां
११२ वां	६५ के आगे का गद्य
१२४ वां	८१ के पूर्व का गद्य
१२८ वां	८६ वां का पूर्वार्द्ध
१३० वां	८८ ,,

अर्थ की यह समानता आकस्मिक नहीं हो सकती है, जरूर ही गुणभद्र के सामने आशाधर का अभिषेकपाठ उपस्थित था।

"आशाधर ने ही गुणभद्र का अनुसरण किया हो" ऐसी सम्भावना इसलिए नहीं की जा सकती कि गुणभद्र ने आशाधर के पद्यों को भी तो ज्यों के त्यों अपनाये हैं। इसलिए आशाधर ही पूर्ववर्ती हो सकता है, गुणभद्र नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिवर्णाचारों और संहिता ग्रन्थों का इतिहास

दिगम्बर जैन धर्म में इस प्रकार के साहित्य में बहुतेरे क्रियाकांड वैदिकधर्म के घुस आये हैं। यह बात श्री पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार के त्रिवर्णाचारों पर लिखे हुए परीक्षा लेखों से भी खूब स्पष्ट हो चुकी है। ऐसे ग्रन्थों का निर्माण दि० जैन धर्म में सबसे प्रथम कब से शुरू हुआ और किनने किया ? इस पर जब हम विचार करते हैं तो हमारी दृष्टि विक्रम की १४वीं सदी में होने वाले गोविन्दभट्ट और उनके वंशजों पर जाती है। गोविंदभट्ट स्वयं पहिले वत्सगोत्री वैदिक ब्राह्मण था, समंतभद्र के देवागमस्तोत्र के प्रभाव से वह जैन हो गया था। उसका पुत्र हस्तिमल्ल हुआ जिसने संस्कृत विक्रान्त कौरव आदि जैन नाटकों की रचना की है। इन्होंने ही संस्कृत में एक प्रतिष्ठाग्रंथ भी बनाया है, जिसकी प्रशस्ति जैन सिद्धांत भास्कर भाग ५ किरण १ में प्रकाशित हुई है। हस्तिमल्लका समय विक्रम की १४वीं सदी का पूर्वार्द्ध निश्चित है। ये गृहस्थी थे। इन्हीं के समय में इन्द्रनंदि हुए हैं; जिन्होंने इंद्रनंदि संहिता नाम का एक ग्रन्थ रचा है। इस संहिता का परिचय करीब २५ वर्ष पहिले जैन बोधक वर्ष ५१ अंक १०-११ में निकला था। उसके अनुसार यह संहिता ११ परिच्छेदों में कोई डेढ हजार श्लोक प्रमाण है। हमारे देखने में इसकी एक अधूरी प्रति आई है, जिसमें पूरे ७ परिच्छेद भी नहीं थे। इसी अधूरी प्रति के आधार पर प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है। इस संहिता में शौचाचार, आचमन तिलक विधि, स्पृश्यास्पृश्यव्यवस्था, जाति निर्णय, शूद्रों के भेदोपभेद, वर्णसंकर संतानसंज्ञा, सूतक पातक, कुछ दायभाग, गर्भाधानादि षोड़श संस्कार, हवन, संध्या, गोत्रोत्पत्ति, मृत्युभोज, गोदान, पिंड दान और तर्पण आदि कई विषयों का वर्णन है। इनमें से कितना ही कथन साफ तौर पर वैदिक धर्म से लिया गया प्रतीत होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संहिता में आशाधर कृत "सिद्ध भक्ति पाठ" पाया जाता है और इसी संहिता के तीसरे परिच्छेद के उपांत में "न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून्...." यह पद्य भी पाया जाता है जो आशाधर के सागारधर्मामृत का है। इससे इस संहिता के कर्ता इंद्रनंदि का समय आशाधर के वाद का सिद्ध होता है। इस संहिता के तीसरे परिच्छेद में गोत्रोत्पत्ति का कथन करते हुए ऐसा लिखा है—

पुष्पदंत उमास्वातिरैन्द्रनंदीति विश्रुताः।
वसुनंदिस्तथा हस्तिमल्लाख्यो वीरसेनकः॥

इस श्लोक में प्रयुक्त हस्तिमल्ल के उल्लेख से हस्तिमल्ल के वाद या हस्तिमल्ल के समय में इंद्रनंदि हुए, ऐसा कहा जा सकता है। और ये दोनों आशाधर के वाद हुए यह भी प्रकट है। आशाधर का आखिरी समय विक्रम सं० तेरह सौ करीव है। विक्रस सं० १३७६ में निर्मापित अर्यपार्य के प्रतिष्ठा पाठ में इंद्रनंदि व हस्तिमल्ल का उल्लेख हुआ है अतः इनका समय १४वीं शताब्दि का प्रथम-द्वितीय चरण सिद्ध होता है। यह समय आशाधर के कुछ ही वाद पड़ता है।

इंद्रनंदि ने उक्त संहिता के तीसरे परिच्छेद में भरद्वाज, आत्रेय, वशिष्ट और कण्व आदि नाम गोत्र प्रवर्तकों के बताये हैं। ये नाम वैदिकऋषियों के हैं। इससे मालूम होता है कि—इंद्रनंदि भी पहिले कोई शायद वैदिक ब्राह्मण ही हों और गोविंदभट्ट की तरह ये भी फिर जैन हुए हों। कुछ भी हो, हस्तिमल्ल के साथ इनका कोई संपर्क अवश्य रहा है। इंद्रनंदि यह नाम इनका दीक्षा-नाम जान पड़ता है। पूर्व में वैदिक ब्राह्मण होने के कारण ही इन्होंने संहिता में कितना ही विषय ब्राह्मणधर्म का भर दिया है। संभव है इसकी रचना में हस्तिमल्ल का भी हाथ रहा हो।

क्रियाकांडी साहित्य के दो अंग हैं—एक प्रतिष्ठा ग्रन्थ और दूसरा त्रिवर्णाचार ग्रंथ। ऐसा लगता है कि दिग० जैनधर्म में प्रतिष्ठा ग्रन्थों के निर्माण का आधार प्रायः आशाधर का प्रतिष्ठा पाठ रहा है और त्रिवर्णाचार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थों के निर्माण का आधार इंद्रनंदि संहिता रही है। इस संहिता में त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठा दोनों ही विषयों का प्रतिपादन किया है।

विक्रम सं० १३७६ में होने वाले अर्यपार्य ने एकसंधि का भी उल्लेख किया है अतः एक संधि भी इंद्रनंदि के समय में या इनसे कुछ ही बाद हुए जान पड़ते हैं। इंद्रनंदि संहिता का सबसे प्रथम अनुसरण इन्होंने ही किया है। तदुपरांत अर्यपार्य के द्वारा आशाधर, इंद्रनंदि, हस्तिमल्ल और एक-संधि के अनुसार प्रतिष्ठा ग्रन्थ रचा गया है। ये अर्यपार्य भी गोविंदभट्ट के ही वंश के हैं, ऐसा ये खुद लिखते हैं।

पूजासार नामके ग्रंथ में भी जिसके कर्त्ता का पता नहीं है, इंद्रनंदि संहिता का कितना ही अंश ज्यों का त्यों भरा पड़ा है। यह ग्रन्थ अनुमानतः १५वीं सदी का हो सकता है।

विद्यानुवाद नाम के ग्रन्थ जिसके संग्रहकर्त्ता कोई मतिसागर नाम के विद्वान् हुये हैं, में भी कितना ही अंश इंद्रनंदि संहिता का पाया जाता है। उसमें एक जगह हस्तिमल्ल के नाम से भी गणधरवलय मंत्र का समावेश किया है। उसी में पूजासार का भी उल्लेख हुआ है। वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ की उत्थानिका में जिन ग्रन्थों के आधार पर ग्रंथ बनाने की प्रतिज्ञा की है उनमें विद्यानुवाद का भी नाम है। वह विद्यानुवाद संभवतः यही हो सकता है।

"भावशर्मा ने अभिषेक पाठ की टीका विक्रम सं० १५६० में बनाई" ऐसा राजस्थान ग्रंथ सूची द्वि० भाग के पृष्ठ १४ में लिखा है। इस टीका में भावशर्मा ने वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ का उल्लेख किया है और आमेर शास्त्र भंडार की सूची के पृष्ठ १९३ में वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ का लिपिकाल सं० १५१७ दिया है। यह लिपिकाल यदि सही हो तो इस वसुनंदि का समय भी अनुमानतः १५वीं सदी माना जा सकता है। वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ में कितने ही पद्य आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के पाये जाते हैं, इससे वह आशाधर के बाद का तो स्पष्ट ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तरह पूजासार, विद्यानुवाद और वसुनंदि प्रतिष्ठा पाठ इन तीनों का समय करीब-करीब आस-पास का ही जान पड़ता है।

वामदेव ने भी कोई प्रतिष्ठा ग्रन्थ लिखा दिखता है। अपने इस प्रतिष्ठा पाठ का उल्लेख वामदेव ने अभिषेक पाठ की टीका में किया है। खो मुद्रित अभिषेक पाठ संग्रह) वामदेव का समय अर्यपार्य के आस-पास का, १४वीं शताब्दी है।

कुमुदचंद्र कृत "प्रतिष्ठा कल्प टिप्पण" नामक ग्रन्थ भी सुना जाता है, जिसके कुछ उद्धरण हमारे देखने में आये, उससे ज्ञात होता है कि वह इंद्रनंदि संहिता की नकलमात्र है।

ब्रह्मसूरि ने प्रतिष्ठा ग्रंथ ही नहीं त्रिवर्णाचार ग्रंथ भी लिखा है। सोमसेन के त्रिवर्णाचार में कितना ही वर्णन ब्रह्मसूरि के उल्लेख से किया गया है। वास्तव में वह वर्णन ज्यों का त्यों इन्द्रनन्दि संहिता में पाया जाता है। इससे जान पड़ता है—ब्रह्मसूरि ने इन्द्रनन्दि संहिता से लिया और सोमसेन ने ब्रह्मसूरि के त्रिवर्णाचार से। सोमसेन का समय विक्रम सं० १६६० निश्चित है।

अलावा इसके एक प्रतिष्ठातिलक नाम का ग्रंथ नेमिचन्द्र कृत है जो छप भी चुका है। उसके देखने से मालूम होता है कि वह अर्थशः अधिकांश में हूबहू आशाधर प्रतिष्ठा पाठ की नकल है, भले ही उसके कर्ता ने कहीं आशाधर का उल्लेख नहीं किया है। इसकी प्रशस्ति से पाया जाता है कि ये नेमिचन्द्र भी हस्तिमल्ल के ही वंश में हुए हैं और रिश्ते में उक्त ब्रह्मसूरि के भानजे लगते हैं। ये गृहस्थ थे। इन्होंने जो प्रशस्ति में अपनी वंशावली दी है उसकी गणनानुसार इनका समय १६वीं शताब्दी हो सकता है। और यही समय ब्रह्मसूरि का भी समझना चाहिये।

तदुपरान्त अकलंक प्रतिष्ठा पाठ का नंबर आता है। इसका निर्माण ब्रह्मसूरि के बाद में हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक जिससेन त्रिवर्णाचार भी है वह सोमसेन त्रिवर्णाचार के बाद उसकी छाया लेकर बना है।

इस तरह त्रिवर्णाचारों और प्रतिष्ठा पाठों के रचे जाने का यह इतिहास है। इससे जाना जा सकता है कि इन त्रिवर्णाचारोंकी परम्परा जहाँ से शुरू होती है वे पहिले वैदिक ब्राह्मण थे बाद में जैन होकर उन्होंने क्रियाकांडी साहित्य की रचना की। पूर्व संस्कार और परिस्थिति वश उनको उसमें कितना ही कथन ब्राह्मण धर्म जैसा करना पड़ा है। यह परंपरा आज से कोई सात सौ वर्ष पहिले से चालू हुई है। और प्रतिष्ठा ग्रंथों की परंपरा भी प्रायः आशाधर को आधार बनाकर यहीं से शुरू हुई है। इस प्रकार के साहित्य की परम्परा का उद्‌गम आशाधर और उसके समय के आस-पास होने वाले हस्तिमल्ल, इंद्रनन्दि, एकसंधि आदि से हुआ जान पड़ता है।

यहाँ खास ध्यान में रखने की बात यह है कि–हमारे यहाँ इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, माघनन्दि, नेमिचंद, अकलंक, जिनसेन आदि नाम वाले प्राचीन और प्रामाणिक आचार्य हुये हैं। वैसे ही नाम वाले अर्वाचीन ग्रंथकार भी हुये हैं। अतः नामसाम्य के चक्कर में पड़कर उनको एक ही नहीं समझ लेना चाहिये। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि—एक ही नाम और एक ही समय में होकर भी व्यक्ति भिन्न-भिन्न रहे हैं, जैसे आदिपुराण और हरिवंश-पुराण के कर्ता जिनसेन। इस तरह से अन्य भी ग्रंथकार हो सकते हैं।

जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापुर से प्रकाशित "भट्टारक सम्प्रदाय" पुस्तक के पृ० २५२ पर पट्टावली का लेख छपा है जिसमें लिखा है कि—"पद्मसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन ने कुछ विद्या के गर्व से उत्सूत्रप्ररूपण करने के कारण आशाधर को अपने गच्छ से निकाल दिया तो वह कदाग्रही श्रेणीगच्छ में चला गया। वह लेख यों है—

"तदन्वये श्रीमत् वाटवर्गट प्रभाव श्री पद्म-सेनदेवानां तस्य शिष्य श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नरेन्द्रसेनदेवैः किंचिद्विद्यागर्वत असूत्रप्ररूपणादाशाधरः स्वगच्छान्निस्सारितः कदाग्रहग्रस्तं श्रेणिगच्छमशिश्रियत् ।"

आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठ में कई ऐसे देवी देवताओं के नाम, उनके विचित्र रूप व उनकी आराधना करने का कथन किया है जिनके नाम तक करणानुयोगी ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं। वैसा वर्णन साफ तौर पर कपोल कल्पित नजर आता है। सम्भव है आशाधर के ऐसे ही कथनों को लेकर नरेन्द्रसेन ने आशाधर का बहिष्कार किया हो। इति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या ऋषि मंडल स्तोत्र दिगम्बर परम्परा का है

करीब २५ वर्ष पहिले गुणनन्दि कृत ऋषि-मण्डल यंत्र पूजा संस्कृत की भाषा टीका करके उसे पं० मनोहरलालजी शास्त्री ने बम्बई से प्रकाशित की थी। उसके बाद इसका दूसरा संस्करण जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुआ था जो आज भी मिलता है। इस दूसरे संस्करण में विद्याभूषण सूरि विरचित 'ऋषिमंडल कल्प' नामक संस्कृत पाठ भी साथ में दिया गया है जो प्रथम संस्करण में नहीं था। अब वही पुस्तक उन्हीं विद्याभूषण और गुणनन्दिकृत संस्कृत के उक्त दोनों पाठों के साथ ब्र० पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थ रचित हिंदी पद्यों सहित 'श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था महावीरजी' से बृहदाकार में प्रकाशित हुई है। यह वही संस्था है जो पहिले कलकत्ते में 'भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था' के नाम से चलती थी। अस्तु।

हम पाठकों को प्रस्तुत लेख में यह बतलाना चाहते हैं कि गुणनन्दि-कृत ऋषि मण्डल यन्त्र पूजा पुस्तक का आदिसे अन्त तक सब अंश गुण-नन्दिकृत नहीं है। 'अथातः ऋषिमण्डलस्तोत्रं पठेत्' ऐसा लिखकर जो पुस्तक में ऋषिमण्डलस्तोत्र पढ़ने की सूचना दी है उसके आगे 'आद्यन्ताक्षर संलक्ष्य' से शुरू करके अन्त में 'पदं प्राप्नोति विस्रस्तं परमानंदसंपदां।' लिखा गया है यह सब स्तोत्रपाठ गुणनन्दि कृत नहीं है। गुणनन्दि ने तो सिर्फ इसकी पूजा का भाग ही बनाया है। इसलिये इस स्तोत्र पाठ के श्लोकों के क्रमिक नम्बर भी पुस्तक में अलग दिये गये हैं। चूँकि यह पाठ विद्यानुशासन में भी पाया जाता है वहाँ भी इसका केवल स्तोत्र पाठ ही लिखा हुआ है—पूजा भाग नहीं। अगर स्तोत्र व पूजा भाग दोनों अकेले गुणनन्दि की कृति होते तो विद्यानुशासन में वह सारा का सारा पाया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाना चाहिये था। अलावा इसके विद्यानुशासन का संकलन सम्भवतः गुणनन्दि से करीब १ शताब्दी पूर्व हो चुका था। परं च विद्याभूषण ने जो 'ऋषि मण्डल मन्त्र कल्प' बनाया है जिसकी चर्चा ऊपर हुई है। ये विद्याभूषण गुणनन्दि के बाद हुए हैं। इन्होंने भी उक्त कल्प में सिर्फ स्तोत्र ही का रूपांतर किया है। इससे सहज ही यह जाना जा सकता है कि इसका स्तोत्र भाग अलग है और पूजा भाग की ही रचना गुणनन्दि ने की है, स्तोत्र तो पहिले ही से चला आ रहा था जिसके निर्माता कोई और ही हैं।

गुणनन्दि ने इसकी प्रशस्ति में अपने को ज्ञानभूषण का शिष्य लिखा है। प्रसिद्ध भट्टारक सकलकीर्ति के प्रशिष्य ज्ञानभूषण विक्रम सं० १५५० के आस-पास हुये हैं। "भट्टारकसम्प्रदाय" पुस्तक के पृ० १५४ में लिखा है कि—इन ज्ञानभूषण के शिष्य नागचन्द्र और गुणनन्दि हुए, नागचन्द्र ने विषापहारस्तोत्र की टीका तथा गुणनन्दि ने ऋषिमण्डलपूजा बनाई।

उक्त विद्याभूषण का समय तो गुणनन्दि से भी बाद का है। ये विक्रम सं० १६०४ के करीब हुए हैं और काष्ठासंघ की परम्परा में हुए हैं। इनके बनाये ऋषिमण्डलस्तोत्र, चिन्तामणिपार्श्वनाथस्तवन आदि ग्रन्थ देहली के पंचायती मंदिर में हैं ऐसा वीरसेवामंदिर से प्रकाशित जैनग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह की प्रस्तावना के पृ० ४९ में सूचित किया है।

ऋषिमण्डलस्तोत्र का प्रचार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों में है। देखना यह है कि दरअसल दोनों में से प्रथम यह किस की चीज रही है। इस पर हम यहाँ कुछ ऊहापोह करना चाहते ।

१—दिगम्बर सम्प्रदाय में सिद्धचक्र, गणधरवलय आदि कई तरह के बीसों यंत्रमण्डल मिलते हैं उनसे इसकी रचनाप्रणाली भिन्न जाति की प्रतीत होती है।

२—इसका उल्लेख विद्यानुशासन के पूर्ववर्ती इंद्रनंदिसंहिता, एकसंधिसंहिता, पूजासार आदि क्रियाकाण्डी दिगम्बर साहित्य में नहीं मिलता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजासार में जहाँ वीसों यन्त्रमण्डल लिखे हैं वहाँ इसको कतई स्थान नहीं दिया गया।

३—आशाधर ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ में जहाँ आचार्यादि की प्रतिष्ठा विधि लिखी है वहाँ वे गणधरवलय का तो प्रयोग करते हैं पर इस ऋषिमण्डल का नहीं।

इससे कहा जा सकता है कि इस ऋषिमण्डल का आशाधर और उनके वाद आसपास होनेवाले हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि आदि के वक्त दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रवेश नहीं हो पाया था। यह दिगम्बर आम्नाय का न होने की वजह से ही नेमिचन्द्र प्रतिष्ठातिलक में भी कहीं इसका उपयोग नहीं किया गया है।

इस ऋषिमण्डलस्तोत्र के श्वेताम्बर होने में खास प्रमाण यह भी है कि—इसमें तीर्थंकरों का कायवर्ण श्वेताम्बरसम्मत लिखा हुआ है। पं० आशाधरजी ने तीर्थंकरों का कायवर्ण इस प्रकार बताया हैं—

सितौ चन्द्रांकसुविधी श्यामलौ नेमिसुव्रतौ।
पद्मप्रभवासुपूज्यौ च रक्तौ मरकतप्रभौ ॥८०॥
सुपार्श्वपार्श्वौ स्वर्णाभान् शेषांश्चालेखयेत् स्मरेत् ॥
—प्रतिष्ठासारोद्धार, अध्याय १

अर्थ'—चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त का रंग सफेद, नेमिनाथ मुनिसुव्रत का श्याम, पद्मप्रभ वासुपूज्य का लाल और सुपार्श्वनाथ व पार्श्वनाथ का रंग मरकत यानी पन्ना जैसा हरा है। शेष तीर्थंकरों का सुवर्ण के जैसा रंग है।" ऐसा ही तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४, गाथा ५८८-५८९ में कहा है। यह तो हुई दिगम्बर मान्यता। अब श्वेताम्बर मान्यता के लिये हेमचन्द्राचार्य का लिखा देखिये।

रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ शुक्लौ तु चन्द्रप्रभपुष्पदन्तौ।
कृष्णौ पुनर्नेमिमुनी विनीलौ श्रीमल्लिपार्श्वौ कनकत्विषोऽन्ये ॥४९॥
—अभिधानचिन्तामणिकोश प्र० काण्ड

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ का रंग (विनील) गहरे नीले रंग का व सुपार्श्वनाथ का कनकवर्ण लिखा है। जवकि दिगम्वरमत में मल्लिनाथ को कनकवर्ण के और पार्श्वनाथ सुपार्श्वनाथ को हरे रंग के वताये हैं। इस प्रकार तीर्थंकरों के कायवर्ण को लेकर दोनों मतों में अन्तर मालूम पड़ता है। अव देखना यह है कि—इस ऋषिमण्डलस्तोत्र में तीर्थंकरों का कायवर्ण किस मत का लिखा गया है।

ऋषिमण्डलस्तोत्र के श्लोक नं० १३ में लिखा है कि—"ह्रीं इस बीजाक्षर की ईकारमात्रा का रंग विनील (विशेष नीला) किया जावे और इस पर इसी रंग के तीर्थंकर के नाम के अक्षर लिखे जावें।" ऐसा निर्देश करके आगे श्लोक नं० १५ में ईकार में पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ के नाम लिखने को कहा गया है। इस अर्थ के सूचक वाक्य ये हैं—

"शिर ई स्थित संलीनौ पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ।"

यहाँ स्पष्ट तौर पर मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ का रंग हेमचन्द्राचार्य के लिखे अनुसार विनील वतलाया गया है जो श्वेताम्वरमत का द्योतक है। ज्ञात हो कि जव यहाँ का कथन दिगम्वरमत के अनुकूल नहीं दीखा तो यहाँ के पाठ को वदल दिया है यानी "पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ" के स्थान में "पार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" पाठ बना दिया है किन्तु बदले हुए पाठ में डवल नाम पार्श्वनाथ का हो गया है। होना चाहिए सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के नाम, ऐसा करने के लिये "सुपार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" पाठ वनता तो छन्दभंग हो जाता इसलिए लाचार वेतुका पाठ "पार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" बनाना पड़ा है। इससे निःसंकोच कहा जा सकता है कि वास्तविक पाठ इसका अवश्य ही श्वेताम्वरसम्मत रहा है। आश्चर्य है कि विद्यानुशासन में भी इस स्तोत्र का वही श्वेताम्वरसम्मत पाठ "पार्श्व-मल्ली जिनोत्तमौ" ही पाया जाता है और यही पाठ चर्चा-सागर में है। और तो क्या स्वयं विद्याभूपण भी इस पाठ में तवदीली करना नहीं चाहते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः वे भी स्वरचित ऋषिमण्डलस्तोत्र के २७वें श्लोक में ह्रीं की ईकार मात्रा में पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ ही की स्थापना का कथन करते हैं।

इत्यादि कारणों से यह ऋषिमण्डलस्तोत्र निःसंदेह श्वेताम्बरकृति जान पड़ता है।

विद्यानुशासन में जिन प्रकरणों का संग्रह किया गया है उसकी शैली को देखते हुए यह समझना भूल होगा कि ऋषिमण्डलस्तोत्र का विद्यानुशासन में लिखा मिलने से ही उसे दिगम्बरकृति मान लिया जावे। विद्यानुशासन तो ऐसा खिचड़ी ग्रन्थ है जिसमें रावणकृत बालग्रहचिकित्सा आदि जैनेतर प्रकरणों का भी संकलन किया है तो ऐसी हालत में उसमें किसी श्वेताम्बर कृति का मिल जाना कौन बड़ी बात है।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भास्करनन्दि और श्रीपालसुत डड्ढा

श्रीमदुमास्वामि विरचित तत्त्वार्थसूत्र पर भास्करनन्दि ने सुखबोध नाम की संस्कृत में एक टीका लिखी है। टीका सहित यह ग्रन्थ छप चुका है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में भास्करनन्दि ने अपने को जिनचन्द्र का शिष्य लिखा है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में शांतिराजजी शास्त्री ने भास्करनन्दि का समय अनुमानतः क्रिस्तीय संवत् तेरह सौ का अन्तिम भाग बताया है। भास्करनन्दि का बनाया १०० श्लोक प्रमाण एक ध्यानस्तव नाम ग्रन्थ भी है जो भास्कर भाग १२ किरण २ में प्रकाशित हुआ है, उसकी प्रशस्ति के भी अन्तिम ३ श्लोक प्रायः वे ही हैं जो तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीका की प्रशस्ति में लिखे मिलते हैं

भारतीय ज्ञानपीठ काशी से एक पंचसंग्रह नामक सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें श्री सुमतिकीर्तिकृत संस्कृत टीका के साथ प्राकृत पंचसंग्रह छपा है। साथ ही में श्रीपाल सुत डड्ढा कृत संस्कृत का पद्य पंचसंग्रह भी छपा है। इसकी प्रस्तावना में पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री ने डड्ढा का समय अनुमानतः विक्रम की १७वीं शताब्दी बताया है। शास्त्रीजी ने जिस आधार पर समय का यह अनुमान लगाया है, उनका वह आधार यह है कि "प्राकृत पंचसंग्रह की जो संस्कृत टीका विक्रम सं० १६२० में सुमतिकीर्ति ने बनाई है उसका प्रभाव श्री डड्ढा पर रहा है। यह बात उनके द्वारा दी गई संदृष्टियों से अवश्य हृदय पर अंकित होती है।"

किन्तु डड्ढा के इस समय पर पुनः विचार किया जाना आवश्यक है। चूँकि भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीका में डड्ढाकृत पंचसंग्रह के पद्य उद्धृत किये हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्विः कापोताथ कापोता नीले नीला च मध्यमा ।
नीलाकृष्णे च कृष्णातिकृष्णा रत्नप्रभादिषु ॥
॥१९८॥१—पंचसंग्रह

भास्करनन्दि ने इस पद्य को तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के तीसरे सूत्र की टीका में उद्धृत किया है ।

लेश्या योगप्रवृत्तिः स्यात्कषायोदयरंजिता ।
भावतो द्रव्यतोऽङ्गस्यच्छविः षोढोभयी तु सा ॥१८४॥
षड्लेश्यांगा मतेऽन्येषां ज्योतिष्का भौनभावनाः ।
कापोतमुद्गगोमूत्रवर्णलेश्या निलांगिनः ॥१९०॥१
लेश्याश्चतुर्षु षट् षट् च तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु ।
गुणस्थानेषु शुक्लैका षट्सु निर्लेश्यमन्तिमम् ॥१९५॥१
आद्यास्तिस्रोऽप्यपर्याप्तेष्वसंख्येयाब्दजीविषु ।
लेश्याः क्षायिकसदृष्टौ कापोता स्याज्जघन्यका ॥१९६॥
षण्नृतिर्यक्षु तिस्रोऽन्त्यास्तेष्वसंख्याब्दजीविषु ।
एकाक्षविकलासंज्ञिष्वाद्यं लेश्यात्रयं मतम् ॥१९७॥१

डड्ढाकृत पंचसंग्रह के इन सब पद्यों को भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ के सूत्र २ की टीका में उद्धृत किया है। इनमें से १९०वां श्लोक को "तदुक्तं सिद्धान्तालापे" इन वाक्योंके साथ उद्धृत किया है। डड्ढा ने भी इस श्लोक के आगे "इति सिद्धान्तालापे" ऐसा वाक्य प्रयोग किया है। यहाँ का गद्य भी दोनों में एक समान है। अलावा इसके भास्करनन्दिने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ सूत्र २२ की टीका में भी डड्ढाकृत पंचसंग्रह के दो पद्य उद्धृत किये हैं।

इन उद्धरणों से डड्ढा का समय भास्करनन्दि से पूर्व का सिद्ध होता है। अगर हम डड्ढा को विक्रम की १७वीं शताब्दी का जैसा कि पं० हीरालालजी शास्त्री ने अनुमान किया है मान लेते हैं तो भास्करनन्दि का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय १७वीं शताब्दी से भी बाद में जा पड़ता है। और जो भास्करनन्दि का समय १३वीं शताब्दी मानते हैं तो डड्ढा का समय १३वीं शताब्दी से भी पूर्व का सिद्ध होता है।

यहाँ यह भी विचारने की चीज है कि डड्ढा की तरह अमितगति ने भी संस्कृत पद्यों में पंचसंग्रह बनाया है। जब हम दोनों पंचसंग्रहों को आमने सामने रखकर देखते हैं तो ऐसा आभास होता है कि डड्ढा के पंचसंग्रह में कितने ही ऐसे पद्य मिलते हैं जो अमितगतिके पंचसंग्रह के पद्यों को कुछ हेरफेर करके बनाये हों, पं० आशाधर जी ने अमितगति के पंचसंग्रह और अमितगति के श्रावकाचार का अपने बनाये अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत में खूब उपयोग किया है। किन्तु आशाधर जी ने डड्ढाकृत पंचसंग्रह का कोई भी पद्य कहीं भी उद्धृत नहीं किया है। इससे ऐसा लगता है कि डड्ढा के पंचसंग्रह का निर्माण आशाधर जी के बाद हुआ है और डड्ढा से भी बाद में भास्करनन्दि हुये हैं। आशा है खोजी विद्वान् इस पर पुनः प्रकाश डालेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवसेन का भावसंग्रह

देवसेन के बनाये हुए दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्र, आलापपद्धति और भावसंग्रह ये ग्रंथ इदानीं उपलब्ध होते हैं। इनमें से सिर्फ दर्शनसार में उसका रचनाकाल वि० सं० ९९० दिया हुआ है। शेष ग्रन्थों में रचनाकाल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। और भाव संग्रह को छोड़ कर शेष ग्रंथों में कहीं देवसेन ने अपने गुरु का नाम भी नहीं लिखा है। ऐसी हालत में यह पता लगाना बड़ा ही मुश्किल है कि इन सब ग्रंथों का कर्ता एक ही देवसेन है या देवसेन नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्ति? और उनमें कौन कब हुआ है। क्योंकि हमारे यहाँ एक नाम के अनेक जुदे-जुदे ग्रंथकार भी हुये हैं। इतने पर भी कुछ विद्वान् इन ग्रंन्थों में से भावसंग्रह ग्रन्थ के कर्ता उन्हीं देवसेन को मान रहे हैं जिन्होंने विक्रम सं० ९९० में दर्शनसार ग्रन्थ रचा है। इस मान्यता का आधार ऐसा कोई समर्थ ऐतिहासिक प्रमाण भी नहीं बताया गया है जिससे सिद्ध होता हो कि यह "भावसंग्रह" वाकई उन्हों दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया हुआ है। जब किसी ग्रंथ के रचनाकाल का पता ऐतिहासिक साधनों से नहीं लग सकता हो तो एक और भी साधन पता लगाने का है। और वह उस ग्रंथ के कथनों की अंतरंग जाँच करना। इस की जाँच से और नहीं तो भी इतना परिज्ञान तो भावसंग्रह के विषय में हो सकता है कि इस तरह का वर्णन तो अमुक शताब्दी में ही संभवनीय है या अमुक वर्णन प्राचीन देवसेनाचार्य के द्वारा होना संभव नहीं है। इसी खयाल से मैंने प्रस्तुत लेख में उक्त भावसंग्रह ग्रंथ की अंतरंग जाँच करने का प्रयास किया है। इस जाँच से पाठक देखेंगे कि यह भावसंग्रह ग्रंथ उन दशवीं शताब्दी में होने वाले देवसेन का तो बनाया हुआ नहीं हो सकता है जिन्होंने दर्शनसार ग्रंथ लिखा है। नीचे इसकी चर्चा की जाती है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१—"मांस से पितरों की तृप्ति होती है" ऐसा वैदिक मत का का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का खंडन करते हुये भावसंग्रहकार ने वैदिक मत के "नाभिस्थाने वसेद् ब्रह्मा" आदि-आदि श्लोक पृ० १३ पर उक्तंच रूप से उद्धृत किये हैं। जिनमें लिखा है कि "जीवोंके नाभि स्थान में ब्रह्मा, कंठ में विष्णु, तालवे में रुद्र, ललाट में महेश्वर, और नाक के अग्र में शिव निवास करते हैं।" ऐसा बतलाकर आगे गाथा निम्न-लिखित दी हैं—

सव्वासु जीवरासिसु एए णिवसंति पंच ठाणेसु।
जइ तो किं पसुबहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ॥४७॥
देवे वहिऊण गुणा लब्भइ जइ हत्थ उत्तमा केई।
तो तुरुक्क वंदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥४८॥

अर्थ—सबही जीवों के नाभि आदि पंच स्थानों में यदि ब्रह्मा विष्णु आदि निवास करते हैं तो पशु वध करने से इन ब्रह्मा आदि देवों का घात होना भी क्यों न माना जावेगा। और यदि कोई उत्तम पुरुष देवों का विध्वंस करने से गुण प्राप्त करते हैं तो देव मूर्तियों के विध्वंसक यवन भी वंदनीय माने जाने चाहिये और शेष सब पापी माने जाने चाहिये।

गाथा में आये 'तुरुक्क' शब्द की संस्कृत छाया 'तुरुष्क' होती है। और तुरुष्क शब्द का अर्थ तुरुक यानी यवन होता है। धर्मामृत की प्रशस्ति में पं० आशाधरजी ने भी तुरुष्क शब्द का प्रयोग यवन अर्थ में किया है, भावसंग्रह की अजमेर की लिखित प्रति में "तुरुक्क वंदणया" पाठ के स्थान में "तो तुरुक्त वंदणीया" पाठ जान पड़ता है। इससे छंदभंग भी मिट जाता है। इतिहासकार भारत में यवनों के शासन का प्रारंभ ई. १३वीं शताब्दी से मानते हैं। अतः उक्त कथन से भावसंग्रह १३वीं शताब्दी से पूर्व का बना सिद्ध नहीं होता है।

२—श्वेतांबर मत में स्थविरकल्पी साधु के लिये वस्त्र धारण करना विधेय बताया है। उसका निराकरण करते हुये भावसंग्रह में उसे स्थविर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्प न बताकर गृहस्थ कल्प कहा है। इसी प्रसंग में भावसंग्रहकार ने गाथा ११९ से १३२ तक में जिनकल्प और स्थविरकल्प का स्वरूप भी वर्णन किया हैं। उसमें आपने वन कंदराओं में रहना यह जिनकल्पी की क्रिया बताई है। किन्तु स्थविर कल्पी साधुओं के लिये भी नगर ग्रामों में रहने का विधान किसी मान्य आगम में नहीं मिलता है। इसके लिये श्री जिनसेनाचार्य कृत आदि पुराण का निम्न श्लोक देखिये—

ततो विविक्तशायित्वं वने वासश्च योगिनाम्।
इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः ॥७९॥ पर्व २१

अर्थ—इसलिये योगियों को एकांत में रहना और वन में बसना चाहिए। चाहे जिनकल्पी हो या स्थविरकल्पी हो दोनों ही प्रकार के साधुओं के लिये यही सामान्य मार्ग है।

इन्ही के शिष्य आचार्य गुणभद्र ने तो आत्मानुशासन में रात्रि के समय में भी मुनि को नगर के समीप आ बसने में ही खेद प्रकट किया है। इन्हीं जिनसेन गुणभद्र के ऊपर दर्शनसार के कर्ता देवसेन की कैसी श्रद्धा थी? वे उन्हें कितने उच्चकोटि के मुनि मानते थे इस संबन्ध में दर्शनसार की गाथा ३०–३१ में वे लिखते हैं कि—

"वीरसेन के शिष्य जिनसेन सकलशास्त्र के ज्ञाता हुये जो श्रीपद्मनंदि (कुंदकुंद) के बाद चार संघ के उद्धार करने में समर्थ हुए। इनके शिष्य गुणभद्र हुये जो गुणवान्, दिव्य ज्ञानी, पक्षोपवासी, शुद्धबुद्धि, महातपस्वी और भावलिंगी थे।"

जो देवसेन दर्शनसार में जिन जिनसेन गुणभद्र के प्रति इतना सम्मान व्यक्त करते हैं वे ही देवसेन भावसंग्रह में जिनसेन की आम्नाय के विरुद्ध स्थविरकल्पी साधुओं के लिये नगर ग्राम में रहने का कथन करने लग जावें यह बात बुद्धि में बैठने योग्य नहीं है। इसलिये न तो इस भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन हैं जिन्होंने दर्शनसार बनाया है और न यह भावसंग्रह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई प्राचीन ग्रन्थ ही है। यह तो स्पष्ट ही शिथिलाचार के जमाने का वना सिद्ध होता है।

भावसंग्रह में जिनकल्पीके लिए यह भी लिखा है कि "वर्षा ऋतु में वे छह मास तक निराहार कायोत्सर्ग में स्थित रहते हैं।" (गाथा २२१)

इसी के अनुरूप वामदेव ने भी संस्कृत भाव संग्रह में ऐसा लिखा है—

वर्षासु मासषट्कं हि मार्गे जातेंऽगिसंकुले।
निराहारा वितिष्ठन्ते कायोत्सर्गेण निस्पृहाः ॥२६७॥

अर्थ—जिसमें कि जीवोत्पत्ति से मार्ग व्याप्त हो जताा है ऐसी वर्षाऋतुओं में वे जिनकल्पी छहमास तक निराहार कायोत्सर्ग में स्थित रहते हैं।

यह कथन भी भावसंग्रहकार का अत्युक्तिपूर्ण है और वह जिनकल्पी की चर्या को बहुत अधिक कठिन वताने की गरज से किया गया प्रतीत होता है। इससे ग्रंथकार ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वन कंदराओं में रहना और वर्षा में ६ मास तक निराहार तिष्ठना आदि जिनकल्पकी चर्या वड़ी दुर्धर है। उसका पालन सभी साधुओं के लिए शक्य नहीं है।

अगर जिनकल्पीकी ऐसी ही चर्या है तो तीर्थंकर जो कि सव जिनकल्पी ही होते हैं तो क्या वे सब छह मास तक वर्षा में निराहार ही रहते हैं। ऐसा वर्णन उनके चरित्र ग्रन्थों में तो लिखा नहीं देखा जाता है। वल्कि गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण में तो लिखा है कि—"नेमिनाथ स्वामी ने श्रावण शुक्ला ६ को दीक्षा ली और दीक्षादिन से वेला के वाद ही उन्होंने पारणा किया। ५६ दिन मुनिअवस्था में रहकर आश्विन शुक्ला १ को वेला के नियम में केवलज्ञान पाया।" अर्थात् नेमिनाथ स्वामी ने वर्षाऋतु में ही दीक्षा ली और उसी ऋतु में ही केवलज्ञान पाया। वर्षा ऋतु के इन ५६ दिनों में ही न जाने उन्होंने कितनी वार आहार लिया है। दो वार आहार लेने का प्रसंग तो कथा में ही वता दिया है। तव निजकल्पी के लिए वर्षा-ऋतु में ६ मास तक निराहार और कायोत्सर्ग में स्थित रहने का नियम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहाँ रहा ? तथा भावसंग्रह में जिनकल्पी को मौन से रहना भी प्रतिपादन किया है। किन्तु मूलाचार अधिकार ४ गाथा १४९ में जो एकविहारी मुनि के लक्षण बताये हैं वहाँ उनके लिए मौनी रहना और वर्षाऋतु में ६ मास तक निराहार रहना नहीं बताया है। आम तौर पर स्थविरकल्पी का अर्थ संघ में रहना और जिनकल्पी का अर्थ एकविहारी होना ही समझा जाता है। वामदेव ने भी संस्कृत भावसंग्रह के श्लोक २७७ में यही लिखा है कि स्थविर आदि मुनिगुणों के रक्षण पोषण की इच्छा रखने वाले स्थविरकल्पी मुनि कहलाते हैं, और यही बात भावसंग्रहकार ने भी गाथा १२९ में कही है। किन्तु वे इन दोनों कल्पों का स्वरूप अन्य गाथाओं में बताते हुए इस मुख्य लक्षण पर स्थिर नहीं रहे हैं और यद्वा तद्वा कथन कर गये हैं। वे लिखते हैं कि—"खड़े होकर करपात्र में एक बार आहार लेना, पीछी आदि उपकरण रखना, पृथ्वी पर सोना, लौंच करना, छह आवश्यकों का पालना आदि स्थविरकल्पी की चर्या है। और धर्म शुक्लध्यानी, निष्कषायी, मौनी, निस्पृही आदि रूप से रहने की जिनकल्पी की चर्या है।" इससे भावसंग्रहकार का अभिप्राय ऐसा मालूम होने लगता है कि जैसे मानों वे सातवें आदि ऊपर के गुणस्थान वर्ती को ही जिनकल्पी मानते हों और छठवें गुणस्थान वाले को स्थविरकल्पी मानते हों ? नहीं तो जिनकल्पी के ही लिए धर्मशुक्ल ध्यानी आदि बताने व स्थविरकल्पी ही के लिए आहार करना, लौंच करना, आदि प्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ बताने का और क्या मतलब हो सकता है। किन्तु वे अपनी इस कपोलकल्पित मान्यता पर भी आरूढ़ नहीं रहे हैं। क्योंकि वे जिनकल्पीके लिए पाँव में लगे काँटे और आँख में पड़ी रज को स्वयं न निकालने व वर्षामें निराहार रहने का भी आदेश देते हैं। इससे सातवें आदि ऊपर के गुणस्थानी को जिनकल्पी मानने का भी कोई सम्बन्ध नहीं बैठता है। इस तरह भावसंग्रहकार का कथन इस सम्बन्ध में बिल्कुल ही अजीब सा हो गया है। और ये इस बाबत कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सके हैं। यह सब गड़बड़ शिथिलाचार को स्थविर कल्प बनाने के प्रयास से हुई है। इस प्रकार के अयुक्त वर्णन किये जाने की आशा प्राचीन देवसेनाचार्य से नहीं की जा सकती है।

३—भावसंग्रह की गाथा १२४ में स्थविरकल्पी के लिए यह भी लिखा है कि "वह पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्यागी होता है।" किन्तु ऐसा त्यागी तो जिनकल्पी भी होता है फिर यहाँ अकेले स्थविरकल्पी के ही लिए ऐसा कथन क्यों किया ? इस कथन से शायद ग्रन्थकार का आशय यह हो कि वे स्थविरकल्पी मुनि के लिए पाँच प्रकार से भिन्न तृणज वस्त्र का उपयोग कर लेना जायज समझते हों। इसके समर्थन में भाव-संग्रह की हस्तलिखित कुछ प्रतियों में उक्तंच रूप से निम्नलिखित पद्य भी लिखा मिलता है—

अण्डज वुण्डज रोमजचर्मजवल्कल पंच चेलानि।
परिहृत्य तृणजचेलं यो गृह्णीयाद् भवेत् स यतिः॥

इसमें लिखा है कि—"सूती, रेशमी, ऊनी, चमड़े व वृक्षों की वल्कलों से बने ऐसे इन पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्यागकर जो तृण के बने वस्त्र को ग्रहण करता है वह यति है।"

कथन की अयुक्तता को देखकर किसी ने इसके चौथे चरण में "यो गृह्णीयात् न भवेत् स यतिः" पाठ वना दिया है। किन्तु पाठ में "न" अधिक बढ़ा देने से छन्द भंग होता है और तवदीली करना साफ जाहिर होता है। तथा झालरापाटन की सं.—१४८८ की भावसंग्रह की लिखित प्रति में भी "भवेत् स यतिः" ही पाठ है। यही पाठ इन्द्रनन्दिकृत नीति-सार की संस्कृत टीका में है। (श्लोक ९५वां)

ऐसा विधान परमात्म प्रकाश की टीका में ब्रह्मदेवजी ने भी किया है—

"विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायसहकारिभूतमन्न-पानसंयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोति।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—"विशेष संहननादि शक्ति के न होने से तप का सहायक अन्न पान और संयम-शौच-ज्ञान के उपकरण पीछी कमण्डलु शास्त्र व तृणमय-वस्त्रादि कुछ भी साधु ग्रहण करता है। तथापि उसमें ममत्व नहीं करता है।"

विदित हो कि इन्हीं ब्रह्मदेवजी ने बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका भी की है। राजस्थान ग्रन्थ सूची तृतीय भाग के पृ० १८० पर टीका सहित इस ग्रन्थ का लिपिकाल विक्रम सं० १४१६ लिखा है। इससे ये १४१६ से पूर्व में हुए हैं और उन्होंने किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ का भी निर्माण किया है ऐसा पं० अजितकुमारजी शास्त्री ने बृहद्द्रव्य-संग्रह टीका पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है। अधिकतर प्रतिष्ठाशास्त्रों का निर्माण काल भी १४वीं सदी ही रहा है। फलतः इन ब्रह्मदेवजी का समय भी १४वीं सदी ही अनुमान किया जा सकता है।

इस तरह मुनि के लिए तृणमयवस्त्र का विधान १४वीं शताब्दी आदि शिथिलाचार के जमाने में हुआ है। और वही समय भावसंग्रहका है। भावसंग्रहकारने जिनकल्पी को तो बाह्याभ्यन्तर सब प्रकार के परिग्रह का त्यागी लिखा है और स्थविरकल्पी के लिए पंचचेला का त्याग करना बताया है। इससे भावसंग्रहकार का साफ अभिप्राय यही प्रकट होता है कि उनके मत से स्थविरकल्पी साधु पाँच प्रकार के वस्त्र से भिन्न तृणमय चेल का उपयोग कर सकते हैं और जिनकल्पी किसी भी जाति के वस्त्र का उपयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार ग्रन्थान्तरों में उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की ओट में शिथिलाचार का पोषण किया गया है उसी प्रकार भावसंग्रह में जिनकल्प-स्थविरकल्प की ओट लेकर शिथिलाचार का पोषण किया है।

जो देवसेन दर्शनसार में मामूली मतभेद की वजह से ही मुनियों को जैनाभास करार देते हैं वे भावसंग्रह में ऐसा कथन करेंगे यह कदापि मानने में नहीं आ सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह समझ रखना चाहिये कि आसन के लिये मुनि को घास की बनी चटाई का उपयोग करना ऐसा अभिप्राय भावसंग्रह का नहीं है। वहाँ "तृणज चेलं" वाक्य दिया गया है और चेल का उपयोग शीत से बचने के लिए अंगप्रत्यंग को ढक कर किया जाता है। इसी भाव को ऊपर ब्रह्मदेव ने "तृणमय आवरण" शब्द से व्यक्त किया है।

४—जैसे सवस्त्र मुक्ति मानने वाले श्वेतांबरों के स्थविर कल्प को भावसंग्रहकार ने गृहस्थ कल्प बताया हैं वैसे ही भावसंग्रह में स्थविर कल्पी दिगम्बर साधुओं की जो चर्या लिखी है उसे हम दिगम्बरों का शिथिलाचार कल्प कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। ऐसे शिथिलाचार कल्पी साधुओं की प्रशंसा भावसंग्रह की गाथा १३० में इस प्रकार वर्णन कीं हैं—

"संहनन की अति हीनता दुषमाकाल और मनकी चंचलता होते भी जो महाव्रत के भार के धारण करने में उत्साही बने हुये हैं वे धीर वीर मुनि हैं।" इस गाथा का आशय बहुत कुछ यशस्तिलक के इस पद्य से मिलता है।

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥

तथा भावसंग्रह की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में यशस्तिलक के कई उक्तंच पद्य भी लिखे मिलते हैं। इससे भी भावसंग्रह का निर्माण यशस्तिलक के बाद में होना सिद्ध होता है।

इसके आगे की गाथा में उक्त साधुओं की प्रशंसा जिस ढंग से वर्णन की है वह तो बड़ी ही विलक्षण है—

वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण कायेण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणो ॥१३१॥

इसमें बताया है कि—"पहिले के मुनि अपने उस कामसे जिस कर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को हजार वर्ष में खपा देते थे उस कर्म को इस काल में हीन संहनन का धारी मुनि वर्ष भर में ही निर्जरा कर डालता है।"

कहना न होगा कि भावसंग्रह का यह कथन कितना आपत्ति के योग्य है। साफ तौर से ऐसा कथन अपनी और अपने साथी साधुओं ने जैसी कुछ चर्या बना रक्खी है उनके पोषण की दृष्टि से किया गया है। सचमुच ही अगर इस काल के साधु लोग कर्मों की इतनी अधिक निर्जरा कर डालते हैं तो इनमें किसी के अवधिमनःपर्ययज्ञान व चारण आदि विविध ऋद्धियाँ होती तो नहीं देखी गई हैं। और तब पंचम काल में मोक्षगमन का अभाव भी क्यों बताया जाता है?

ऊपर गाथा १३० और १३१ में जो कथन किया गया है उसे ध्यान में रखकर ही भावसंग्रह की निम्नलिखित गाथा की रचना हुई है—

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरणयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाहा ॥१२७॥

अर्थ—संहनन के गुण से अर्थात् हीनसंहनन वाले साधु के अधिक निर्जरा होती है जैसा कि गाथा १३१ में कहा है। यह तो हुआ संहनन का गुण और दुःषम काल के तप के प्रभाव से अर्थात् पंचमकाल में इस समय हीन संहनन और मन की अस्थिरता होते भी महाव्रती साधु बने हुये हैं जैसा कि गाथा १३० में कहा है। यह हुआ दुःषमकाल के तप का प्रभाव। इन कारणों से साधुओं का पुर नगर ग्राम में रहना स्थविर कल्प माना जाता है।

भावसंग्रह की गाथा १३१वीं को रत्ननंदि ने अपने बनाये भद्रबाहु चरित्र में भी उद्धृत की है। रत्ननंदि ने तो भद्रबाहु चरित्र में जिनकल्पी स्थविरकल्पी वाला वह सारा प्रकरण ही वामदेव के संस्कृत भावसंग्रह से ज्यों का त्यों अनुवाद कर रक्खा है। और सकलकीर्ति ने भी धर्म-प्रश्नोत्तर ग्रंथ में प्रश्न नं० ३१७ में भावसंग्रह की गाथा १३१ के आशय को अपनाया है। इस तरह गाथा १३१ के कथन का अनुसरण किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाना १४वीं सदी के वाद के वने ग्रंथों में तो कहीं-कहीं मिलता है। किंतु १४वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रंथों में ऐसा विलक्षण कथन हमारे देखने में नहीं आया है। और तो क्या अधिकांश रूप से भावसंग्रह के आशय को लेकर संस्कृत का भावसंग्रह वनाने वाले वामदेव भी इस कथन से सहमत नहीं मालूम पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने भी अपने भावसंग्रह में इस प्रकरण की बहुत सी वातें तो ली हैं" इस कथन को नहीं लिया है।

इस प्रकार मिथ्या तरीकों से शिथिलाचार का पोषण करना यह वताता है कि यह भावसंग्रह उस वक्त की रचना है जव शिथिलाचार को शिथिलाचार ही नहीं माना जाता था वल्कि उसे एक महिमा की चीज सिद्ध किया जा रहा था। इससे हम कह सकते हैं कि यह ग्रंथ संभवतः १४वीं सदी से पूर्व का बना हुआ नहीं है।

५—भावसंग्रह में गाथा ३५० से लेकर ५९९ तक २५० गाथाओं में पाँचवे गुणस्थान का वर्णन पाया जाता है। तथापि श्रावकाचार का उल्लेख योग्य ऐसा कोई खास वर्णन नहीं किया है। दो चार गाथाओं में श्रावक के १२ व्रतों और ८ मूलगुणों के केवल नाम मात्र लिख दिये हैं। न उनके स्वरूप का कथन किया है न अतीचारों का। सप्त व्यसन ग्यारह प्रतिमाओं का भी कहीं कोई कथन नहीं है। बाकी सारी गाथायें अधिकतया दान पूजा विषय की ही भर दी गई हैं। गाथा ४२५ से ४८२ तक स्नान, आचमन, सकलीकरण, अभिषेक, दिक्पालों की उपासना, भगवान् के उवटना करना, याग मंडल आदि यन्त्रोद्धार, पूजा, विसर्जन इत्यादि क्रियाकांड लिखकर फिर गाथा ४८६ तक पूजा का फल स्वर्गगमन और वहाँ से चक्रवर्ती हो महाव्रती दीक्षा ले मोक्ष में जाना वताकर गाथा ४८७ में इन सबका निष्कर्ष यह वताया है—

इय णाऊण विसेसं पुण्णं आयरइ कारणं तस्स।
पावह ण जाम सयलं संजमयं अप्पमत्तं च ॥४८७॥

अर्थ—इस प्रकार उक्त क्रियाकांड के अनुष्ठान से उस मोक्ष का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारणभूत ऐसा विशेष पुण्य होगा जानकर जब तक सकल संयम और अप्रमत्तसंयम नहीं प्राप्त कर लेवे तब तक उसी विशेष पुण्य का आचरण करते रहो।

भावसंग्रह के इस कथन से ग्रन्थकार का कुछ ऐसा आशय झलकता है कि वे श्रावकों के उस समय उक्त क्रियाकांड की मुख्यता लाना चाहते थे इसी से उन्होंने श्रावकों के बारह व्रतों अतिचारों आदि का वर्णन नहीं किया है। और इस बात पर जोर दिया है कि श्रावकों का कर्तव्य तो विशेष तौर पर दान पूजा करके पुण्यसंपादन करने का ही है। वे नहीं चाहते थे कि गृहस्थी ध्यान स्वाध्यायादि के पचड़े में पड़कर उक्त क्रियाकांड के अनुष्ठान में शिथिलता दिखावे। अपने इसी उद्देश्य को लेकर कभी तो वे गाथा ३५७ में "पाँचवें गुणस्थान में आर्त रौद्र और भद्र ध्यान होता है। धर्म ध्यान नहीं होता है।" ऐसा कथन करते हैं। यहाँ वे भद्रध्यान की एक नई ही कल्पना करते हैं। और कभी वे गाथा ३७१ में पंचम षष्ठ गुणस्थान ने उपचार से धर्मध्यान बताते हैं। वहाँ वे चौथे गुणस्थान में उपचार से भी धर्मध्यान होता है या नहीं? कुछ नहीं बताते हैं। तथा कभी वे धर्मध्यान के सालम्ब, निरालम्ब ऐसे दो भेद करके गृहस्थी के गाथा ३८८ में पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप का चिंतवन रूप या मंत्राक्षर रूप सालम्ब ध्यान का प्रतिपादन करते हैं। और इससे शायद वे आज्ञाविचय आदि जो चार भेद रूप धर्मध्यान है वैसा धर्मध्यान श्रावक के न मानते हों। और ऐसा ही सालम्ब ध्यान वे छठवें गुणस्थान में भी मानते हैं। क्योंकि गाथा ३८१ में उन्होंने निरालम्ब ध्यान सातवें गुणस्थान में ही बताया है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ धर्मध्यान के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के कथन किये हैं। किन्तु आगम सम्मत "पाँचवें गुणस्थान में एक देश धर्मध्यान होता है।" यह जो सही सिद्धांत है उसका उल्लेख अपने उद्देश्य में बाधा पड़ती देख कहीं नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर रहे हैं। जिनकल्प और स्थविरकल्प के स्वरूप कथन में इनकी जैसी डांवाडोल स्थिति रही है, वही डांवाडोल स्थिति धर्मध्यान के स्वरूप कथन में भी नजर आती है।

श्रावकों का खास काम पुण्य संपादन करने का ही है अपने इस सिद्धांत को लेकर भावसंग्रहकार ने जो एक बड़ी अनोखी बात शुरू में ही कही है वह भी जरा देखिये—

सेयो सुद्धो भावो तस्सुवलंभोय होइ गुण ठाणे।
पण दह पमायरहिए सयलवि चारित्त जुत्तस्स ॥६॥

अर्थ—शुद्धभाव श्रेयः कहिये कल्याणमय है उसकी उपलब्धि सकल चरित्र वाले प्रमाद रहित अर्थात् अप्रमत्तविरत नाम के ७ वें गुणस्थान में होती है।

यहाँ ग्रन्थकार ने सातवें गुणस्थान में केवल शुद्ध भाव बताया है। इससे यह दर्शाया है कि—सातवें से नीचे छठवें पाँचवें गुणस्थान में शुद्ध भाव तो हैं नहीं, वहाँ शुभ भाव हो सकते हैं और शुभ भाव से पुण्यबंध ही होगा इसलिये श्रावकों को पुण्यबंध के ही काम करने चाहिए। और चूँकि ग्रन्थकार ने खास धर्मध्यान सातवें गुणस्थान में ही माना है और उसी में शुद्ध भाव भी इससे ग्रन्थकार का मत यही प्रकट होता है कि वे धर्मध्यान में शुद्धभाव ही मानते हैं और शुद्ध भाव श्रावक के नहीं हो सकते हैं इसीसे वे पंचम गुणस्थान में धर्मध्यान का निषेध करते हैं।

किन्तु सातवें गुणस्थान में धर्मध्यान की मुख्यता होने से ग्रन्थकार का वहाँ सर्वथा शुद्ध भाव मानना भी ठीक नहीं मालूम देता है। क्योंकि जब सातवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान नहीं और कषायजनित बन्ध का अभाव भी नहीं तो वहाँ सर्वथा शुद्ध भाव ही हो शुभ भाव न हो ऐसा कैसे हो सकता है। बल्कि मूलाचार पंचाचाराधिकार गाथा १९७ की टीका में तो स्पष्टतया धर्मध्यान को स्वर्ग गति का कारण लिखा है—

"धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चैते द्वे प्रशस्ते देवगतिमुक्तिगतिप्रापके।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ धर्मध्यान से देवगति होना बताया है। इससे सिद्ध है कि धर्मध्यान में शुभभाव भी होते हैं।

और यह भी एकान्त नहीं है कि पाँचवें छठवें गुणस्थान में कुछ भी शुभ भाव नहीं है। चौथेसे सातवें गुणस्थान तक जिनके जितने अंशों में मोह का अभाव है उनके उतने ही अंशों में शुद्ध भाव भी हैं ऐसा मानना पड़ेगा। इसी से तो आगम में चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा बताई है।

और जो भावसंग्रहकार ने गाथा ३५७ में श्रावक के धर्मध्यान का निषेध करके फिर गाथा ३७१ में पाँचवें छठवें गुणस्थान में उपचार से धर्मध्यान बताया है सो यहाँ उपचार का क्या अर्थ है? यही कि वहाँ वास्तविक धर्मध्यान नहीं है। उपचार शब्द से तो ग्रन्थकार का यही अभिप्राय ध्वनित होता है। तो क्या पाँचवें छठवें गुणस्थान में वास्तविक धर्मध्यान का एकदेश भी नहीं होता है? ग्रन्थकार का यह सब कथन ठीक नहीं है। क्योंकि धर्मध्यान के आज्ञाविचय आदि भेद हैं और सम्यक्त्व के साथ ही आज्ञाविचय हो जाता है। अतः पाँचवें ही नहीं चौथे गुणस्थान में भी धर्मध्यान होना सिद्ध है। और इसीसे तत्त्वार्थराजवार्तिकमें चौथे से सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान बताया है। और भावसंग्रहकार का केवल सातवें ही गुणस्थान में धर्मध्यान बताना यह आम्नाय तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय की है जो उनके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में उल्लिखित है। इसलिये भावसंग्रहकार का पाँचवें ही नहीं महाव्रती छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के भी उपचार से धर्मध्यान बताना सिद्धान्त विरुद्ध कथन है। इस विषय में विद्यानन्दिस्वामी ने श्लोकवार्तिक में जो विवेचन किया है उस पर ध्यान दीजिये—

"कस्य तद्धर्मध्यानं स्यादित्याह—
साकल्येन विनिर्दिष्टं तत्प्रमत्ताप्रमत्तयोः।
अन्तरंगतपोभेदरूपं संयतयोः स्फुटम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयतासंयतस्यैकदेशेनासंयतस्य तु ।
योग्यतामात्रतः कैश्चिद्यैर्दुर्ध्यानं प्रचक्षते ॥

धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न, पूर्वेषां निवृत्तिप्रसंगात् । इष्यते च तेषां सम्यक्त्वप्रभावाद्धर्म्यध्यानम् ।"—नवम अध्याय सूत्र ३६ की व्याख्या ।

अर्थ—वह धर्मध्यान किसके होता है ? यह बताते हैं—अन्तरंग तप का भेद होने से वह धर्मध्यान पूर्णरूप से प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दोनों के स्पष्ट तौर से माना गया है और संयतासंयत पाँचवें गुणस्थान में वह एकदेश रूप से माना गया है तथा असंयत गुणस्थान में भी वह जैसी जहाँ योग्यता है उस रूप माना गया है। "धर्मध्यान अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान में ही होता है।" ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा कहने से नीचे के गुणस्थानों में उस धर्मध्यान के अभाव का प्रसंग आवेगा। क्योंकि सम्यक्त्व के प्रभाव से सातवें से नीचे के गुणस्थानों में भी आगम में धर्मध्यान बताया है।

पाठक देखेंगे कि भावसंग्रहकार ने जहाँ छठवें गुणस्थान में वास्तविक धर्मध्यान ही नहीं बताया है वहाँ विद्यानंद्याचार्य पूर्ण धर्मध्यान बताते हैं। इसी तरह भावसंग्रहकार जहाँ पाँचवें गुणस्थान में भी वास्तविक धर्मध्यान न बता कर भद्रध्यान आदि विभिन्न प्रकार के धर्मध्यान की कल्पना करते हैं वहाँ आचार्य विद्यानन्दि पाँचवें गुणस्थान में भी थोड़े रूप में उसी धर्मध्यान को बताते हैं जो सातवें गुणस्थान में होता है। इस तरह विद्यानन्दिस्वामी के मत से भावसंग्रहकार का मत मिलता नहीं है।

अगर श्रावक के धर्मध्यान न माना जाये तो चक्रवर्ती जैसी विभूति के धारी राजा भरत "घर में ही वैरागी थे" यह कहावत कैसे घटित हो सकेगी। यह उनके गृहस्थाश्रम में साधु हुए धर्मध्यान का ही प्रताप था जो दीक्षा लेने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही उन्होंने केवलज्ञान पा लिया। सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक तो देशव्रती भी न थे फिर भी उनके ३३ सागर की नरकायु घटकर ८४ हजार वर्ष प्रमाण ही रह गई, यह धर्मध्यान का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभाव नहीं तो और किसका था ? धर्मध्यान के ही प्रताप से देशव्रती का उत्पाद शास्त्रों में १६वां स्वर्ग तक लिखा है। पार्श्वनाथ चरित में मरुभूति का जीव हाथी भी देशव्रत से १२वां स्वर्ग गया है।

और जो भावसंग्रहकार ने पूजादि क्रियाकाण्ड के प्रचार के उद्देश्य को लेकर एकान्तरूप से श्रावक के लिए पुण्य सम्पादनार्थ प्रवृत्ति मार्ग की मुख्यता बताकर पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत आदि देश चारित्र, स्वाध्याय संयम तप आदि निवृत्तिमार्ग की ओर उपेक्षावृत्ति दिखलाई है वह जैनधर्म की समीचीन नीति के ही नहीं अपितु प्राचीन आगम परम्परा के भी विरुद्ध है। आगम में तो जो आचार्य प्रथम मुनि धर्म का उपदेश न देकर श्रावक धर्म का उपदेश देने लगता है तो वह भी दण्ड योग्य समझा गया है क्योंकि पाँचवें गुणस्थान के वर्णन में जो पद्धति भावसंग्रह में अपनाई है वैसी पद्धति प्राचीन देवसेनाचार्य की नहीं हो सकती है। क्योंकि अमृत-चन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में ऐसा लिखते हैं—

जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥
इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता ॥२०९॥

अर्थ—जिनेन्द्र के आगम में मुनीश्वरों का जो आचार कहा है वह गृहस्थों को भी अपनी पदवी और शक्ति का विचार करके तदनुसार सेवन करना चाहिए। अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ को भी यह रत्नत्रय एकदेश रूप से प्रति समय निरन्तर पालते रहना चाहिए।

इस प्रकार भावसंग्रह में उसके कर्ता ने जिस मनोवृत्ति को लेकर पाँचवें गुणस्थान का वर्णन किया है उससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य उस समय उक्त क्रियाकाण्ड के प्रचार करने का था। इस प्रकार का क्रियाकाण्डी साहित्य का निर्माण बहुत करके १४वीं सदी से शुरू हुआ है।

मण्डलपूजा में जयादि ८ देवियों, १६ विद्यादेवियों, २४ यक्षयक्षियों,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और ३२ इन्द्रों की स्थापना कर उनकी पूजा करने की जैसी पद्धति आशाधर, इन्द्रनन्दि, एकसंधि आदि के क्रियाकाण्डी साहित्य में पाई जाती है वैसी ही पद्धति इस भावसंग्रह में भी दृष्टिगोचर होती है। (देखो गाथा ४४९से४५४) इत्यादि कारणों से यह भावसंग्रह भी एकसंधि आदि के आस-पास के समय में ही रचा गया जान पड़ता है

यहाँ हम पाठकों को यह भी बतला देना चाहते हैं कि करीब ४० वर्ष पहिले यह भावसंग्रह ग्रन्थ मूल गाथाबद्ध माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित हुआ था। उसकी प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया पं० पन्नालाल जी सोनी ने की थी। छाया करने में कई जगह अशुद्धियाँ कर रक्खी हैं। अशुद्धियों के कुछ नमूने देखिये—

गाथा २४ सव्वस्सेण–सर्ववस्तुना। चाहिये 'सर्वस्वेन,
गाथा ३८२ जइणो–यतीना। चाहिये 'जैनः,
गाथा २०५ णिवंदियं–वंदिनः। चाहिये'नृपं द्विजं,
गाथा २५० करयलाओ–करे लग्नां। चाहिये'करतलतः,

कुछ अरसे पहिले इस ग्रन्थ का पं० लालारामजी शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद करके कुछ दातारों की सहायता से प्रकाशित कर इसे विना मूल्य वितरण भी किया है। इसके पूर्व संस्करणमें संस्कृत छाया में जो अशुद्धियाँ थीं वे सभी प्रायः इस प्रकाशन में भी मौजूद हैं। उन अशुद्धियों से इसका हिन्दी अनुवाद भी जहाँ-तहाँ गलत हो गया है। अनुवाद की गलतियों में से भी एक नमूना यहाँ पाठकों की जानकारी के लिये दे देते हैं—

जीवों के शुभ, अशुभ, और शुद्ध ऐसे तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। गाथा ६वीं में कहा है कि–जो शुद्ध परिणाम कल्याण के कर्ता हैं वे तो सातवें गुणस्थान में होते हैं। (यह गाथा इस लेख में ऊपर उद्धृत हुई है) इसके आगे की गाथा इस प्रकार है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुण्णपाव संजणया।
ते पंच भावमिस्सा हों ति गुणट्ठाणमासेज्ज ॥७॥

अर्थ—"बाकी जो दो शुभ अशुभ भाव हैं वे पुण्य पाप के बन्ध करने वाले हैं इस प्रकार जीवों के तीनों परिणाम गुणस्थान को आश्रय करके औपशमिकादि पंच भावों में मिले रहते हैं।" यह तो सही अर्थ है, किन्तु पं० लालाराम जी ने इस के उत्तरार्द्ध का गलत अनुवाद इस प्रकार किया है—

"तथा वे दोनों ही शुभ अशुभ भाव औदयिक आदि पाँच भावों से मिल कर गुणस्थानों के आश्रय से रहते हैं।" हम अनुवादकजी से पूछते हैं कि आपने यहाँ औदयिक पाँच भावों में शुभ अशुभ दो ही भावों का मिलना कैसे बताया, शुद्ध भाव को क्यों छोड़ गये? शुद्ध भाव पंचभावों से बाहर है क्या? फिर आप ही ने आगे गाथा ८ के भावार्थ में शुभ अशुभ शुद्ध इन तीनों भावों को पंचभावोंमें गर्भित भी लिख दिया है। दर असल बात यह है कि गाथा ७ की संस्कृत छाया जो पूर्व संस्करण में अशुद्ध थी वही इस संस्करण में भी है। उसी के आधार पर हिंदी में अर्थ करने से यह गलती हुई है।

इसी हिंदी टीका वाले संस्करण के पृष्ठ २९७ पर अनुवादकजी ने सूचना छपाई है कि—"बहुत तलाश करने पर भी दक्षिण उत्तर में कहीं भी इसका यंत्र नहीं मिला जिससे इन पद्यों का अर्थ नहीं बैठा है।" अनुवादक की इस सूचना पर हमारा निवेदन है कि—यह कोई प्राचीन ग्रंथ नहीं है जो इसमें लिखा यंत्र दक्षिण उत्तर में कहीं न मिले। दरअसल आपके दिमाग में यह प्राचीन ग्रंथ जँचा हुआ है इसीसे आपने अच्छी तरह तलाश नहीं किया है। हम बताये देते हैं कि इस यंत्र का नाम त्रिलोकसार यंत्र है और यह विद्यानुशासन पूजासारादि ग्रंथों में पाया जाता है। आप वहाँ देख सकते हैं।

६—इस ग्रंथमें दानके प्रकरण में गाथा ५०५ से लेकर ५०८ तक जो कथन किया गया है वह भी खास विचारणीय है। वहाँ लिखा है कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"जो कुछ भी सिद्धान्तशास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता हो और कुछ भी बाह्य अभ्यन्तर तप का धारी हो तथा दृढ़ ब्रह्मचारी हो वह वेदमय तपमय पात्र है ऐसा पात्र नियमतः संसार से तारने वाला है।

इस कथन में जो रहस्य छिपा हुआ है वह यह है कि—"वस्त्रधारी भट्टारकों को उत्तम मध्यम जघन्य पात्रों में से कौन सा पात्र माना जाये ? जैनागम में जो इन पात्रों के लक्षण लिखे गये हैं उनके अनुसार तो प्रायः निष्परिग्रही नग्न मुनि उत्तम पात्र माने जाते हैं। तब वस्त्रधारी भट्टारकों को कौन सा पात्र मानना चाहिये ? इसी प्रश्न का समाधान ऊपर के कथन में किया गया है और उससे यह सूचित किया है कि वेदमय तपमय होने से वस्त्रधारी भट्टारक भी एक विशिष्ट पात्र हैं। इसीसे उनके लिए सिद्धांतज्ञान, तप और ब्रह्मचर्य का होना तो बताया गया है किन्तु अपरिग्रही, निरारम्भी, नग्नलिंगी होने का कथन नहीं किया है।

जिस प्रकार भावसंग्रहकार ने गृहस्थी के लिए भद्र-ध्यान और पंचमकाल के हीनसंहननी साधु के अधिक निर्जरा होने आदि का स्वच्छन्द कथन किया है। जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है। उसी प्रकार वेदमय तपमय पात्र की एक नई कल्पना यहाँ भी की है। इससे स्पष्ट है कि यह भावसंग्रह भट्टारकी जमाने की रचना है।

इसके अलावा एक बात यह भी है कि प्राचीन देवसेन ने दर्शनसार आराधनासार आदि छोटी छोटी रचनाएँ सूत्र रूप से की हैं और इसीसे उनकी रचनाओं के नामों के अन्त में प्रायः सार शब्द पाया जाता है। भावसंग्रह सातसौ गाथाओं का एक बड़ा ग्रन्थ है अतः वह उन प्राचीन देवसेन का नहीं है ऐसा प्रतिभासित होता है।

दूसरी बात यह है कि—आशाधर के बनाये टीका ग्रंथों में बहुत से उद्धरण ग्रंथान्तरों के मिलते हैं। उनसे ग्रंथकारों के समय निर्णय करने में बड़ी मदद मिलती है। खास कर वे आचार ग्रंथ जो आशाधर से पूर्व बन चुके थे उनमें से तो जहाँ तक मेरा खयाल है कोई भी ऐसा ग्रंथ नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बचा है जिसका कुछ न कुछ उल्लेख आशाधर ने अपने सागार अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में न किया हो। आशाधर से पूर्ववर्ती आचारग्रंथ ये थे—:

"पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अमितगति श्रावकाचार, यशस्तिलक, रत्नकरंड-श्रावकाचार, वसुनंदि श्रावकाचार, आदि पुराणका जैन संस्कार प्रकरण, मूलाचार और उसकी आचारवृत्ति टीका, पद्मनंदिपंचविंशतिका, चारित्र-सार और रत्नकरंडकी प्रभाचंद्र टीका।"

जबकि आशाधर ने इन सब ग्रन्थोंके उद्धरण लिये हैं तब क्या कारण है कि उन्होंने भावसंग्रह ग्रन्थ का एक भी उद्धरण नहीं लिया। जबकि उन्होंने देवसेन के अन्य ग्रंथ दर्शनसार आराधनासार के भी उद्धरण लिये हैं। आराधनासार पर तो उन्होंने टीका भी लिखी है। कारण स्पष्ट है कि—आशाधरजी के वक्त तक भावसंग्रह ग्रंथ बना ही न था तब वे उसका उल्लेख कैसे करते। जिस प्रकार पूज्यपाद श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार। सावयधम्म दोहा, और शिवकोटिकी रत्नमाला आदि भी आचार के ग्रंथ हैं किन्तु ये सब आशाधर से बाद के बने हुए हैं इसीसे इनका उल्लेख आशाधर के ग्रंथों में कहीं नहीं पाया जाता है। उसी प्रकार भावसंग्रह ग्रंथ भी आशाधरजी के बाद का बना हुआ है इसीसे उसका उल्लेख भी आशाधररचित ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

इस प्रकार जाँच करने से यह भावसंग्रह ग्रंथ निश्चय ही अर्वाचीन सिद्ध होता है। यह १०वीं शताब्दी में होने वाले देवसेन का न होकर १४वीं शताब्दी में होने वाले किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा रचा हुआ जान पड़ता है। संभवतः यह उन देवसेन का भी हो सकता है जिन्होंने अपभ्रंशभाषा में सुलोचना चरित लिखा है। सुलोचना चरित की समाप्ति का समय श्रावण शुक्ला १४ बुधवार राक्षस संवत्सर दिया है। एक राक्षस संवत्सर वि० सं० १३७२ में भी पड़ता है। भावसंग्रह का रचना समय हमने जो ऊपर १४वीं शताब्दी अनुमान किया है उससे भी इसकी संगति बैठती है तथा सुलोचना-चरित के कर्ता ने अपने गुरु का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम विमलसेन लिखा है। भावसंग्रहकार ने भी अपने गुरुका नाम विमलसेन लिखा है। एवं भावसंग्रह की रचना में काफी तौर पर अपभ्रंश भाषा के शब्द पाये जाते हैं। इन सब कारणों से सुलोचना-चरित्रकार और भावसंग्रहकार दोनों का बहुत कुछ मेल बैठता है अतः दोनों अभिन्न मालूम पड़ते हैं। रहा सुलोचना-चरित्र में देवसेन ने अपने गुरु विमलसेन का उल्लेख करते हुए उन्हें मलधारी लिखा जबकि भावसंग्रह में देवसेन ने उन्हें गणी लिखा है। इतने मात्र से दोनों की भिन्नता नहीं सिद्ध की जा सकती है। भिन्नता के लिए अन्य कोई पुष्ट प्रमाण होने चाहिए। हो सकता है कि विमलसेन के अनेक शिष्यों का संघ होने से वे गणी या गणधर कहलाते हों और मलधारी उनकी कोई उपाधि होने से वे मलधारी नाम से भी पुकारे जाते हों। इसलिए एक ही देवसेन ने अपने दो ग्रंथों में से एक में तो अपने गुरु के नाम के साथ मलधारी शब्द का प्रयोग कर दिया हो और दूसरे में गणधर शब्द का। ये ही नहीं पिछले कई भट्टारकों ने भी अपने को गण, गणधर और गणभृत् शब्द से उल्लिखित किया है। और यह कहना कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन ने दर्शनसार और आराधनासार के मंगलाचरण में अपना नाम श्लेषरूप से ध्वनित किया है। वही पद्धति भावसंग्रह में भी अपनाई है इसलिए दर्शनसार और भावसंग्रह के कर्ता दोनों एक हैं। इस हेतु में भी कुछ सार नहीं है। क्योंकि मंगलाचरण में श्लेष रूप से अपना नाम प्रकट करने की परिपाटी देवसेन की ही नहीं अन्य ग्रंथकारों के ग्रंथों में भी देखी जाती है। हाँ, यह ठीक है कि भावसंग्रह के कर्ता वे देवसेन नहीं हैं जिनको पांडवपुराण के कर्ता माथुरसंघी यशःकीर्ति ने अपनी गुरु-परम्परा की पाँचवीं पीढ़ी में बताया है। भावसंग्रह के कर्ता के लिए यह भी जरूरी नहीं है कि वह काष्ठासंघी आदि कोई जैनाभासी ही हो। वह वैसा मूलसंघी भी हो सकता है जैसे कि अन्य सहस्र भट्टारक अपने को मूलसंघी लिखते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावसंग्रह में कई ऐसी गाथाएँ हैं जो निश्चयतः अन्य ग्रंथों की हैं और वे इसमें मूलका अंग बनी हुई हैं। जैसे कि 'हिंसार हिए धम्मे....." गाथा। यह गाथा कुन्दकुन्दके मोक्ष पाहुड़ की है जो भावसंग्रह में २६२ वें नम्बर पर पायी जाती है। इसी तरह गोम्मटसार पंचसंग्रह आदि ग्रंथों की भी इसमें कुछ गाथायें जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जबकि उपयुक्त जाँच से यह भावसंग्रह आशाधर से बाद का बना सिद्ध हो जाता है तो इन गाथाओं के बाबत कुछ विद्वानों की जो यह धारणा बनी हुई है कि गोम्मट-सारादि ग्रन्थों में ये गाथायें भावसंग्रह से ली गई हैं वह धारणा गलत सिद्ध होती है। और अब यह कहना चाहिए कि गाथायें भावसंग्रहकार ने ही उक्त ग्रन्थों से लेकर अपना ली हैं। इसी तरह इसमें वसुनंदि-श्रावका-चार की भी कई गाथायें बिना किसी उक्तंच के पाई जाती हैं। जिनमें से "संकाइ दोसरहियं" आदि ६ गाथायें जो भावसंग्रह में नं० २७९ से २८४ तक पाई जाती हैं वे भी विशेष विचार करने से वस्तुतः वसुनन्दि-श्रावकाचार की ही प्रतीत होती हैं। जो किसी तरह भावसंग्रह में प्रक्षिप्त हो गई हैं। क्योंकि प्रकरण को देखते हुए भावसंग्रह में इन गाथाओं की कुछ भी संगति बैठती नहीं है। अगर देवसेन को ऐसा कुछ कथन करना अभीष्ट होता तो वे प्रकरण संगत गाथा २६३ के आगे कर सकते थे। भावसंग्रह की गाथा २७८ में कहा है कि—"उन अर्हंतों के द्वारा कहे हुए नवपदार्थ, पंचास्तिकाय, और छह द्रव्यों का आज्ञा और अधिगम से श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है" इसके आगे नव पदार्थों आदि के नाम और उनके स्वरूप का वर्णन होना क्रम प्राप्त है किन्तु जो गाथा २८५ से शुरू होता है। इसलिए बीच की २७९ से २८४ तक की वे ६ गाथायें स्पष्टतः अप्रासंगिक नजर आती हैं। भावसंग्रह के उस प्रकरण में जबकि सम्यक्त्व के अंगों के नाम तक भी नहीं हैं तो अंगों में प्रसिद्ध होने वालों की कथाओं का उल्लेख करना साफ ही असंबद्ध मालूम देता है। किन्तु वसुनंदि श्रावकाचार में इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथाओं का होना संगत मालूम देता है। वसुनंदि ने अपने इस श्रावकाचार में जहाँ सप्त व्यसनों का वर्णन किया है वहाँ भी गाथा १२५ से १३३ तक में व्यसनों की कथाओं का उल्लेख किया है। यही नहीं गाथा ३४८–३४९ में वैयावृत्य का फल पाने वाले वसुदेव और श्रीकृष्ण के भी नाम लिखे हैं। उसी तरह सम्यक्त्व के अंगसम्बन्धी कथाओं का उल्लेख करना वसुनंदिकी कथन शैली को प्रकट करता है। इससे वे गाथायें वसुनंदि श्रावकाचार की ही हो सकती हैं ऐसा मानने को बाध्य होना पड़ता है। इसलिए वसुनंदि श्रावकाचार की कोई एक हस्तलिखित प्रति में इन गाथाओं को "उक्तंच भावसंग्रहात्" वाक्य के साथ लिख देना अवश्य ही किसी गलती का परिणाम है। इस गलती की पुष्टि इस बात से भी होती है कि वसुनंदि श्रावकाचार में ग्रंथ भर में कहीं भी उक्तंच का नाम निशान नहीं है। उक्तंच की यह प्रणाली तो अधिकतया भावसंग्रह में ही नजर आती है जो उसकी कई हस्तलिखित प्रतियों से सिद्ध है। तथा और भी विचारने का विषय है कि पं० आशाधरजी ने वसुनंदि श्रावकाचार के कई उद्धरण लिये हैं इससे कह सकते हैं कि उन्होंने वसुनंदि श्रावकाचार को अच्छी तरह से देखा है तो विवादस्थ उक्त छहगाथाओं के पूर्व में लिखा "उक्तंच भावसंग्रहात्" वाक्य भी आशाधरजी की नजर में गुजरा होगा तब यह स्वाभाविक है कि उनकी इच्छा भावसंग्रह ग्रंथ को देखने की भी हुई ही होगी और वे उसे भी प्राप्त कर देखे होंगे। यदि यह सब हुआ हो तो आशाधर के साहित्य में भावसंग्रह के उद्धरण भी मिलते। किन्तु आशाधरजी का तो जितना भी साहित्य इस समय उपलब्ध है उसमें तो कहीं भी भावसंग्रह की कोई गाथा उक्तंच रूप से लिखी नहीं मिलती है। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि— वसुनंदि श्रावकाचार की प्रति में आशाधरजी के वक्त भी उन ६ गाथाओं के साथ "उक्तंच भावसंग्रहात्" वाक्य नहीं था और हो भी कैसे जबकि भावसंग्रह ग्रंथ आशाधरजी से पहिले बना ही न था। यह तो मानने में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं आता कि जानकारी होते भी आशाधरजी उसे न प्राप्त करें या उन्हें वह न मिल सके।

यदि ऐसा कहा जाये कि "अगर ये गाथायें भावसंग्रह की न होकर वसुनंदि श्रावकाचार की हैं तो भावसंग्रह में इनका उल्लेख उक्तंच रूप से क्यों नहीं है?" तो इसका उत्तर यह है कि—ये ही क्या वसुनंदि-श्रावकाचार की तो अन्य भी गाथायें इसमें विना उक्तंच के मिलती हैं। इसी तरह अन्य ग्रन्थों की भी गाथाएँ इन में मिलती हैं। इसकी गाथा नं० २६२ को देखिये जो इसमें मूल का अंग वनी हुई है। दर असल यह गाथा मोक्षपाहुड़ की है जो वहाँ ९० नम्बर पर पायी जाती है। तथा भावसंग्रह की हस्तलिखित प्रतियों की हालत पर जब हम विचार करते हैं तो माणिकचन्द ग्रन्थमाला में जो भावसंग्रह छपा है उनमें एक प्रति तो सं० १५५८ की लिखी हुई है और दूसरी सं० १६२७ की लिखी है। किन्तु दोनों प्रतियों में बड़ा ही अन्तर है। सं० १६२७ प्रति में ग्रन्थान्तरों के वहुत से उद्धरण हैं किन्तु सं० १५५८ की प्रति में उतने उद्धरण नहीं हैं। इन प्रतियों के अलावा ए० प० सरस्वती भवन झालरापाटन की एक और प्रति जो सं—१४८८ की लिखी हुई है उसमें भी प्रायः ग्रन्थान्तरों के उतने ही उद्धरण मिलते हैं जितने कि सं० १६२७ की उक्त प्रति में पाये जाते हैं। इन उद्धरणों में और तो क्या संस्कृत भावसंग्रह तक के उद्धरण मौजूद हैं। विद्वानों का खयाल है कि संस्कृत भावसंग्रह की रचना वहुत करके प्राकृत भावसंग्रह के आशय को लेकर की गई है। ऐसी हालत में उद्धरणों से विद्वानों ने यही फलितार्थ निकाला है कि ये उद्धरण मूल ग्रन्थकार के द्वारा उद्धृत नहीं हुये हैं। किन्तु किसी स्वाध्याय-शील व्यक्ति ने भावसंग्रह की प्रति के हांसिये पर लिख दिये थे जो आगे चल कर प्रतिलिपिकार ने नासमझी से उन्हें मूल के साथ नकल कर दिये हैं। अगर यही बात ठीक है तो वसुनंदिश्रावकाचार की वे विवादस्थ ६ गाथायें भी हाँसिये पर से उठ कर मूल में शामिल हो गयी हों ऐसा क्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं माना जा सकता है ? इसी से तो उनकी स्थिति भावसंग्रह के प्रकरण से नहीं मिलती है और जबकि संस्कृत का भावसंग्रह प्राकृत भावसंग्रह से अनुवादित है और संस्कृतके भावसंग्रह में सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन होते हुये भी उसमें अङ्ग प्रसिद्ध कथाओं का जिकर नहीं है। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि संस्कृत भावसंग्रह के कर्त्ता वामदेव के वक्त भी प्राकृत के भावसंग्रह में वे ६ गाथायें नहीं थीं। उसमें वे बाद में प्रक्षिप्त हुई हैं।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि सं० १५५८ की लिखित प्रति में यशस्तिलक चम्पू, संस्कृत भावसंग्रह आदि के उद्धरण न होने से इसे ही देवसेन की मूल कृति मान ली जाय सो ऐसा भी नहीं हैं। इस प्रति में भी थोड़े बहुत हाँसिये के उद्धरण जरूरी मूलमें शामिल हुये हैं। इसके लिये देखिये भावसग्रंह का ५१६वें नम्वर का दोहा। यह दोहा सावयधम्म पुस्तक का है जो अपभ्रंश भाषा में और यहाँ विना किसी उक्तंच के मूल के साथ शामिल हो रक्खा है। सावयधम्म के उद्धरण १६वीं शताब्दी के पहिले के ग्रन्थों में नहीं देखे जाते हैं और उक्त दोहा भावसग्रंह की संवत् १४८८ की लिखी झालरापाटन की प्रति में भी नहीं है, जबकि अन्य सबही उद्धरण उसमें भी लिखे मिलते हैं। इत्यादि कारणों से सावयधम्मका रचना काल बहुत आधुनिक मालूम होता है।

सर्वथा यह भी न समझना कि भावसंग्रह में सब ही उद्धरण हांसिये पर से ही मूल में शामिल हो गये हैं। बल्कि इनमें से कितने ही उद्धरण मूल ग्रंथकार के द्वारा भी उद्धृत हो सकते हैं। जैसा कि वसुनंदि श्रावकाचार की कई गाथाओं को इसमें उद्धृत मिलने से जाना जा सकता है। इन गाथाओं में से कुछ गाथायें तो ज्यों की त्यों ले ली गई हैं और कुछ गाथायें मामूली हेर फेर करके उद्धृत की हैं। ऐसी गाथाओं की तालिका ज्ञानपीठ से प्रकाशित वसुनंदि श्रावकाचार की प्रस्तावना में देख सकते हैं। हेर फेर की हुई गाथाओं से तो यही निश्चय होता है कि खुद भाव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संग्रहकार ने ही वसुनंदि गाथायें अपनाई हैं। "वसुनंदि ने ही भावसंग्रह की गाथाओं को अपनाया हो" ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है। इसके लिये उदाहरण स्वरूप हम एक गाथा पेश करते हैं—

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
तस्स फलेणुववज्जइ उत्तमभोयभूमीसु ॥२४५॥

यह गाथा वसुनंदि श्रावकाचार की है। इसमें लिखा है कि—जो मिथ्या दृष्टि भद्र (मंदकषायी) पुरुष उत्तमपात्रों को दान देता हैं उसके फल से वह उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होता है।" इसी गाथा को कुछ रद्दो-बदल करके भावसंग्रह में निम्नरूप से लिखी है :

मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
सो पावइ वरभोए फुडु उत्तमभोयभूमीसु ॥४९९॥

वसुनंदि की उक्त गाथा के प्रथम चरण में आये "भद्दो शब्द की जगह भावसंग्रह में 'पुरिसो' शब्द में तबदीली तो कर दी परन्तु पुरिसो शब्द में अर्थ की वह खूबी न आ सकी जो भद्दो शब्द में थी। इससे साफ प्रमाणित होता है कि भावसंग्रहकार के द्वारा ही वसुनंदि की गाथाओं में हेरफेर किया गया है।

भावसंग्रह की ऐसी स्थिति को देखते हुए न्यायकुमुदचंद्र के पृष्ठ ८५६ पर "षड्विधो हि आहार : प्रवचने प्रसिद्ध :" वाक्य के साथ "णोकम्मकम्महारो...." गाथा उद्धृत हुई है। वही गाथा भावसंग्रह में ११०वें नम्बर पर स्थित है। वह गाथा भी खास भावसंग्रह की नहीं प्रतीत होती। वह किसी अन्य प्राचीन आगम की जान पड़ती है। और वहीं से प्रभाचंद्र ने न्यायकुमुदचंद्र में उद्धृत की है न कि भावसंग्रह पर से।

"मतना कोई उत्सूत्र कथन हो जाये" इस बातका प्राचीनकाल में बड़ा भय रहता था। इसीसे प्रखरबुद्धिवाले निर्मल आचार के धारी कोई बड़े आचार्य ही शास्त्र निर्माण का कार्य करते थे। यह नियंत्रण आगे चलकर धीरे-धीरे लुप्त होता चला गया, फिर तो वस्त्रधारी भट्टारक ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं गृहस्थी भी इस काम के अधिकारी बन बैठे। प्रायः १३वीं शताब्दी और उसके बाद में तो साधुओं के शिथिलाचार और श्रावकों के क्रियाकाण्ड को लेकर कतिपय शास्त्रों में जिस स्वच्छंदता से कथन किया गया है। उस स्वच्छंदता के दर्शन इस भावसंग्रह में भी होते हैं। ऐसा इसके अध्ययन से सहज ही जाना जा सकता है। एक श्रेष्ठ आचार्य की रचना जैसी व्यवस्थित, सारगर्भित, पुनरुक्ति-पूर्वापर विरुद्धता आदि दोषों से रहित, प्राचीन ग्रन्थपरम्परा की अनुगामिनी होती है वैसी रचना इस भावसंग्रह की दिखाई नहीं देती है। और तो क्या "भावसंग्रह" इस नाम के अनुरूप औपशमिकादि भावों के लक्षण और उनके उपभेदों के नाम तक भी इसमें नहीं हैं।

इस प्रकार के ऊहापोह से मुझे यह भावसंग्रह प्राकृत ग्रन्थ १०वीं शताब्दी में होने वाले देवसेन के द्वारा निर्मित नहीं प्रतीत होता है। किन्तु किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा १४वीं शताब्दी के लगभग का बना जंचता है। मेरे ये विचार कहाँ तक ठीक हैं इस पर विद्वज्जन ध्यान देंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयसेन प्रतिष्ठापाठ की प्रतिष्ठाविधि का अशुद्ध प्रचार

जब से स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जी ने इस जयसेन प्रतिष्ठापाठ को आधार बनाकर उसमें कहीं-कहीं नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के कुछ अंशों का समावेश करके तथा कुछ बातें अपनी तरफ से और मिलाकर एक नये प्रतिष्ठापाठ ग्रन्थ का प्रकाशन किया है तब से बहुत करके उसी के आधार से कई बिम्बप्रतिष्ठायें हुई हैं और हो रही हैं। उसमें उन्होंने याग मण्डल पूजा आदि कुछ प्रकरणों को हिन्दी छन्दों में भी लिख दिया है। जिससे उनका उपयोग हिन्दी के ज्ञाता भी गा-बजाकर कर लेते हैं; साथ ही उन्होंने उसमें पंचकल्याणकों के दृश्य ऐसे नाटकीय ढंग से लिखे हैं कि तदनुसार दृश्य दिखा देने से साधारण जनता का खूब मनोरंजन होता है; फलतः दर्शक लोग अधिक संख्या में एकत्रित होते हैं और मेले की रौनक बढ़ जाती है उससे धन खर्च करने वाला यजमान भी अपने को धन्य समझने लगता है और उससे प्रतिष्ठाचार्य की भी महिमा बढ़ जाती है। अगर कोई प्रतिष्ठाचार्य इस ढंग से काम न करे तो उसकी प्रतिष्ठा लोगों को फीकी-फीकी सी प्रतीत होती है; लोगों को मजा नहीं आता इससे प्रतिष्ठापक का दिल भी मुरझा जाता है और विचारे वैसे प्रतिष्ठाचार्य को तो आयंदे किसी किसी प्रतिष्ठा में बुलाना भी कोई नहीं चाहता है। उधर नाटकीय ढंग से प्रतिष्ठा करने वाले प्रतिष्ठाचार्यों की भी अब कोई कमी नहीं रही है और न रहेगी; क्योंकि स्व० ब्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठा की सब विधि हिन्दी में लिख दी है। अतः अब तो इसके लिये संस्कृत भाषा के ज्ञान होने की भी ऐसी कोई खास जरूरत नहीं रही है और न किसी गुरु की खुशामद की। एक दो नाटकीय ढंग को प्रतिष्ठा ब्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ से करा दीजिए; नाम हो जायेगा, फिर तो जगह-जगह से निमन्त्रण ही निमन्त्रण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठाचार्य का पद एक बड़ा सम्मानका पद है और इसको कोई-कोई तो अर्थोपार्जन का साधन भी बना लेते हैं। इस पद की प्राप्ति के लिए कई संस्कृत के अच्छे-अच्छे पण्डित भटकते थे। अब ब्रह्मचारी जी के इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ की बदौलत उनको भी भटकने की जरूरत नहीं रही है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि प्रतिष्ठाचार्य का पद जितना ही गौरव-पूर्ण है उतना ही वह भारी जोखम का भी है। जो प्रतिष्ठाचार्य अन्टसन्ट प्रतिष्ठाविधि करते हैं वे अपना बहुत ही अहित कर रहे हैं। धातु पाषाण की निराकार मूर्ति में जिनेन्द्र की प्रतिष्ठा करना कोई हँसी खेल नहीं है। प्रतिष्ठा जैसे गुरुतर कार्य के लिए पल्लवग्राही पाण्डित्य से काम नहीं चला करता है। इसके लिये मन्त्र, तन्त्र, वास्तुविद्या, शकुन, निमित्तज्ञान, ज्योतिष आदि विविध विषयों का परिज्ञान होना चाहिये। साथ ही प्रतिष्ठाचार्य खुद भी जितेन्द्री, सुलक्षण, सदाचारी, देशकाल का ज्ञाता, नम्र, मन्दकषायी, देव-शास्त्र-गुरु का अनन्य भक्त, मान्य, प्रभावक आदि लक्षणों का धारी होना चाहिये। इसी वजह से पुराने जमाने में दूर-दूर तक कोई विरले ही प्रतिष्ठाचार्य मिलते थे। आज की तरह वे सुलभ नहीं थे। उस वक्त के प्रतिष्ठापक-यजमान भी विचारवान् होते थे। वे भी ऐसे ही प्रतिष्ठाचार्यों से प्रतिष्ठा विधि कराना योग्य समझते थे और उन्हें बड़े ही आदर-मान से लाते थे। उस आदर-सन्मान का वर्णन प्रतिष्ठा शास्त्रों में भी लिखा मिलता है।

ब्रह्मचारी जी के इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ में प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी कुछ ऐसे कथन भी मिलते हैं जो न तो जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में हैं और न अन्य किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ में ही। केवल ब्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ में लिखे होने से ही इदानीं उनका प्रचार हो रहा है। नीचे हम इसी का दिग्दर्शन कराते हैं—यहाँ हम उन्हीं अशुद्धियों पर विचार करते हैं जो खास प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती हैं।

१—पृ० १४१ में मुख वस्त्र विधिका वर्णन करते हुए ब्रह्मचारी जी ने लिखा है कि—"एक शुद्ध वस्त्र में सात प्रकार का अनाज बाँधकर प्रतिमा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के मुखपर ढक कर लपेट दे। तथा आगे जौ की माला रख दे।" एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठाचार्य को थोड़े अरसे पहले एक प्रतिष्ठा महोत्सव में हमने इसी तरह करते देखा है। किन्तु जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में जहाँ यह विधि लिखी है वहाँ के विवेचन से तो ऐसा अर्थ कदापि नहीं निकलता। वहाँ जैसा कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

नूत्नं निरावृतिचमत्कृतिकारितेजो,
नो शक्यमीक्षितवतामपि भावुकानाम्।
इत्येवमर्पितनयानयनेन शंभो-
रग्रे मुखाग्रमहवस्त्रमुपाकरोमि ॥८५५॥

इसकी वचनिका इस प्रकार की है—

"अरु नवीन और निरावरणता का चमत्कार करने वाला प्रभु का तेज है सो देखने वारे भव्यनिकूं शक्य नहीं है। ऐसे या प्रकार अर्पितनयका अवलम्बन करि श्री भगवान् का मुख के अग्रभाग में वस्त्र से परदा करूँ हूँ।"

"ओं ह्रीं अर्हते सर्वशरीरावस्थिताय समदंनफलं सप्तधान्ययुतं मुखवस्त्रं ददामि स्वाहा।" इति मुखाग्रे वस्त्रयवनिकां दत्वा यवमालावलयं जिनपादाग्रतः स्थापयेत्।' अर्थात् "ओं ह्रीं अर्हते.....मुखवस्त्रं ददामि स्वाहा" इस मन्त्र को बोलकर भगवान् के मुँह के आगे वस्त्र का परदा देकर जवमाला को जिनचरण के आगे रक्खे। यहाँ वचनिकाकार ने और भी स्पष्ट किया है—

"ऐसे मुखवस्त्र अग्ररोपण। अर मुखनाम अग्रभाग का है तातैं विम्ब के आड़ा एक परदा भगवान् को आड़ देना ऐसा अभिप्राय है। इसहीकूं मूलपाठ में "यवनिकां दत्वा" ऐसा कहा है।"

आगे श्लोक ८६६ में भी इस मुखवस्त्र को हटानेका का कथन करते हुये "यवनीं दूरमुदयेत्" पाठ दिया है जिसका अर्थ होता है "वस्त्र की यवनिका को दूर कर दे।" यहाँ "यवनी" शब्द से परदा ही बताया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मचारी जी ने जो सात प्रकार के अनाज की पोटली को प्रतिमा के मुख पर बाँधने को कहा है सो ऐसा कथन ऊपर लिखे मन्त्रों में "सप्तधान्ययुतं मुखवस्त्रं" वाक्य में सप्तधान्य को मुखवस्त्र का विशेषण समझ लेने की भूल से हुआ है। तथा इस मन्त्र के "समदनफलं" वाक्य का तो अर्थ ही ब्रह्मचारी जी साफ उड़ा गये हैं। दरअसल इस मन्त्र में केवल तीन क्रियाओं का संकेतमात्र किया है — यवमाला, सप्तधान्य का स्थापन, और मुखवस्त्र प्रदान। इन तीनों क्रियाओं की प्रयोग विधि अलग लिख दी है। यही मंत्र इसी रूप में आशाधर प्रतिष्ठापाठ पत्र १०९ में लिखकर उसकी प्रयोग विधि वहाँ इस प्रकार बताई है—

"मुखवस्त्रदानपूर्वकं यवमालामारोप्य जिनस्य पादाग्रतः सप्तधान्यान्युपहरेत्।" अर्थात् पहिले मुखवस्त्र देकर फिर यवमाला का आरोपण करे और फिर जिनचरणोंके आगे सप्तधान्य भेंट करे। आशाधर जी ने यहाँ मदन फल (मैणफल) को यवमाला के साथ लगाने को कहा है जैसा कि उनके निम्न श्लोक से प्रगट है—

भक्तर्द्धिवृद्धिकृदनुक्षणभाविशर्म-
संपत्फलामितगुणावलिमुद्गिरंत्या।
राठर्द्धिवृद्धियवमालिकयार्चितोऽर्हन्
गो : सप्तधान्यकमदोर्हतु सप्तभंगीम् ॥—अध्याय ४–१६२ ॥

अर्थ—क्षण भर के बाद होने वाली सुख-संपदा के फलों की प्रचुर गुणावली को बतलाने वाली, और मदनफल व ऋद्धि-वृद्धि (ये दोनों जड़ी बूटियाँ हैं) युक्त ऐसी जवमाला से जो पूजे गये हैं और जो भक्तों की ऋद्धि-वृद्धि के करने वाले हैं ऐसे अर्हंत भगवान् सप्तधान्यरूपी वाणी की सप्तभंगी को प्राप्त होवें। अर्थात् उनके आगे भेंट किये सप्तधान्य मानों उनकी वाणी के सप्तभंग रूप होओ।

नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ पृ० ५६३ में मुखवस्त्र के लिए ऐसा लिखा है— "मुखवस्त्रमेवं कुर्यात् वेदिकायामंतर्गृहे च।" मुखवस्त्र ऐसा करे—वेदी पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भीतरी गृह पर। यहाँ भी मुखवस्त्र का अर्थ परदा ही व्यक्त किया है। वह परदा वेदी और निजमंदिर (गर्भ गृह) दोनों पर होना चाहिए। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के पूजामुख प्रकरण में लिखा है कि—प्रभात ही जिन-मंदिर जावे तो मंदिर के किवाड़ खोल कर परदा हटाकर भगवान् के दर्शन करे ऐसा वर्णन करते हुये "उद्घाटयवदनवस्त्रं" इत्यादि श्लोक लिखा है। इसमें भी 'मुखवस्त्रं' शब्द का प्रयोग परदा के अर्थ में किया है।

और ऊपर उद्धृत जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के श्लोक में भी जिस उत्प्रेक्षा से कथन किया है उससे भी 'मुखवस्त्र' का भाव परदा करना ही झलकता है। यहाँ भी समझना चाहिए कि—तिलकदान के बाद मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा लिखी है। इससे सिद्ध होता है कि तिलकदान-विधि के बाद ही मूर्ति पूजनीय होती है। पूजनीय मूर्ति के अंग मुख पर कपड़ा लपेटना अयुक्त है। इसी ख्याल से तो जयसेन ने तिलकदान के बाद अधिवासना विधि में बिंब के कंकण बाँधने का कथन नहीं किया है यह एक खास ध्यान देने योग्य बात है।

इसलिए ब्रह्मचारी जी ने जो मुखवस्त्र विधि में सातधान्यों को वस्त्र में बाँधकर उससे प्रतिमा के मुख को लपेटना लिखा है और उसी के मुताबिक आजकल के प्रतिष्ठाचार्य जो विधि करते हैं वैसा विधान जयसेन प्रतिष्ठा पाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठाग्रंथ में नहीं है। यह हम ऊपर बता चुके हैं।

२—पृष्ठ १४२ पर ब्रह्मचारी जी ने नयनोन्मीलन क्रिया की विधि इस प्रकार लिखी है "एक रकाबी में कपूर जलाकर सुवर्ण की सलाई को रक्खे। और 'सोहं' मंत्र को ध्याता हुआ १०८ दफे "ओं ह्रीं श्री अर्हं नमः" मंत्र पढ़े। फिर निम्नलिखित श्लोक व मंत्र पढ़कर नेत्र में सलाई फेरे।" ब्रह्मचारी जी के इस कथन का यही आशय है कि कपूर के काजल को सलाई में लेकर उसको भगवान् की आँखों में आँजे। किन्तु इस प्रकार का कथन जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में तो क्या अन्य किसी भी प्रतिष्ठा पाठ में नहीं है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ यह कथन दो जगह आया है पृ० १३२ पर और २८४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर। पृ० १३२ पर मूल में जो लिखा है उसकी वचनिका ऐसी है—

"सुवर्णशलाका करि कुंकुमकरि (नेत्रोन्मीलनयंत्र को) लिखि, लवंग अर रक्त पुष्पनिकरि 'ओं ह्रीं श्रीं अर्हं नमः" ऐसा मंत्र एकसौ आठ वार जपि चाँदी के पात्र में मिश्री दूध घृत स्थापनकरि तिह गंध करि सुवर्ण-शलाका करि मूर्ति के नेत्र में फेरि इन्द्र है सो पूरकनाड़ी वहतां नेत्रो-द्घाटन करे।

पृ० २८४ पर ऐसा लिखा है—"तदनंतरमेव रुक्मपात्रस्थितकपूर-युक्तसुवर्णशलाकां दक्षिणपाणौ विधृत्य 'सोहं स' इति ध्यायन्नाचार्यो नयनोन्मीलनयंत्रं प्रदर्श्य श्लोकमिमं पठेत्।" आगे श्लोक और मंत्र लिख-कर फिर लिखा है—"इति स्वर्णशलाकया नेत्रोन्मीलनं कुर्यात्।" इसकी वचनिका नहीं की है। अर्थ इसका यह है—मुखोद्घाटन के बाद ही सोने पात्र में रखे कर्पूरादि गंधद्रव्य से युक्त की हुई सुवर्णशलाका को दक्षिण हाथ में लेकर "सोहं स" का ध्यान करता हुआ आचार्य नयनोन्मीलनयंत्र को दिखा कर आगे लिखे श्लोक और मंत्र को पढ़े और सोने की शलाका से नेत्रोन्मीलन करे।" पृ० १३२ की वचनिका में लिखे "तिह गंधकरि सुवर्णशलाकाकरि" इस वाक्य से भी यही बताया है कि जिस कुंकुमादिगंध से नेत्रोन्मीलन मंत्र लिखा गया है उस गंध को सलाई में लेकर नेत्र में फेरे। इसीसे बहुत कुछ मिलता-जुलता कथन नेमिचन्द्र-प्रतिष्ठापाठ पृ० ५५८ और ५७४ में लिखा है। वहाँ देख सकते हैं।

इस विषय में आशाधर जी ने अपने प्रतिष्ठापाठ के चौथे अध्याय में इस प्रकार लिखा है—

येनोन्मील्य समस्तवस्तुविशदोद्भासोद्भटं केवल-
ज्ञानं नेत्रमदर्शि मुक्तिपदवी भव्यात्मनामव्यथा।
तस्यात्रार्जुनभाजनार्पितसिताक्षीराज्यकर्पूरयुक्—
वक्त्रस्वर्णशलाकया प्रतिकृतौ कुर्वे दृगुन्मीलनम् ॥१८४॥

अर्थ—समस्त पदार्थों को स्पष्ट देखने की है उद्भटता जिसमें ऐसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवलज्ञानरूप नेत्र को खोलकर जिन्होंने भव्यजीवों को बाधारहित मुक्ति पदवी दिखाई उस भगवान् की प्रतिमा में यहाँ चाँदी के पात्र में रक्खे मिश्री, दूध, घृत, कपूर इनमें सोने की सलाई का अग्रभाग डुबोकर उससे नेत्र खोलता हूँ।

इस प्रकार जयसेन प्रतिष्ठापाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठापाठ में कपूर जलाकर उसके काजल से नेत्रोन्मीलन करना नहीं लिखा है। न मालूम ब्र० शीतलप्रसाद जी ने ऐसा कथन किस आधार पर किया है? अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठाचार्य ब्रह्मचारी जी की इसी विधि से काम करते आ रहे हैं। इस अशास्त्रीय विधि से अब तक सैकड़ों प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हो चुकी है।

ब्रह्मचारी जी तो इस विधान में आये मिश्री घृत दूध आदि का भी कोई उल्लेख नहीं करते हैं। ब्रह्मचारी जी ने तो जो कुछ उनकी समझ में आया सो लिख दिया, किन्तु इन प्रतिष्ठाचार्यों का तो कर्तव्य था कि जिन शास्त्रों के आधार पर से ब्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठाग्रन्थ लिखा है उनसे इसका मिलान करके यथार्थता का पता लगाते।

३—पृष्ठ १३४ पर भगवान् को आहार देने का वर्णन करते हुए जो मूर्ति को मस्तक पर धरकर आचार्य का आहार के लिये जाना, काल्पनिक राजा सोम और श्रेयांस का अपनी रानियों को साथ में लेकर उन्हें पड़गाहना आदि कथन किया है सो ऐसा नाटकीय ढंग तो ब्रह्मचारी जी के इस सारे ही प्रतिष्ठापाठ में पाया जाता है किन्तु इस नाटकीय ढंग की धुन में भगवान् के हाथ में जो इक्षु रस की धारा डालने की बात कही है वह जयसेन प्रतिष्ठापाठ के अनुकूल नहीं है। एक प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठाचार्य जी ने भगवान् के आहारदान की जो विधि कराई थी वह भी सुन लीजिये—अनेक व्यंजनों से भरा थाल प्रतिमा जी के सामने रखकर उसमें से अनेक नरनारी बारी-बारी से आकर भोजन का ग्रास बना बना कर प्रतिमा के हाथों पर ही नहीं मुँह पर रखते जाते थे। यह हमारा आँखों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखा हाल है। धन्य है इन प्रतिष्ठाचार्यों की लीलाओं को। नाटकीय ढंग की भी तो कोई हद होनी[1] चाहिए।

भगवान् के आहारदान के विषय में जयसेन प्रतिष्ठापाठ में जैसा कुछ लिखा है उसे देखिए—

तत्रोपवासं मघवा तथार्यो यज्वा शची चान्यमहे नियुक्ताः।
विदध्युरूर्ध्वे विधिना हि मध्यंदिने जिनाग्रे चरुपूजनानि ॥८४२॥
तदैव पञ्चाद्भुतवृष्टिरग्रे बिंबस्य पुष्पांजलिना समेता।
योज्या ध्वनिं तूर्यगणैर्विधाय भुंजीयुरन्यानपि भोजयित्वा ॥८४३॥

अर्थ—भगवान् के उस दीक्षादिन में इन्द्र, आर्य-यजमान, इन्द्राणी और अन्य पुजारी उपवास रक्खें। अगले दिन के मध्याह्न में विधि के साथ भगवान् के आगे नैवेद्य भेंट करें और तब ही बिंब के आगे पुष्पांजलि के साथ पंचाश्चर्यों की वर्षा करे और अनेक बाजे बजवा कर इन्द्रादि आप पारण करें तथा अन्य साधर्मी जनों को भी जिमावें।

यहाँ भगवान् का आहार करने का भाव दिखाने को प्रतिमा के आगे नैवेद्य भेंट करना मात्र लिखा है। अतः प्रतिमा के हाथ में आहार धरना योग्य नहीं है।

ब्रह्मचारी जी ने भगवान् के उक्त आहारदान के प्रकरण में प्रतिमा जी को पड़गाहकर उनकी दातार के द्वारा अष्टद्रव्य से पूजा करने को भी लिखा है सो यह भी अयुक्त है। इस प्रकार का विधान लिखने का इस प्रकरण को नाटकीय ढंग का रूप देने से हुआ प्रतीत होता है वर्ना प्रतिष्ठा ग्रन्थों में तो ऐसा कुछ लिखा नहीं है। अभी तो प्रतिमा की तिलक दान विधि ही नहीं हुई, तो उसके पहले उसकी अष्टद्रव्य से पूजा कैसे की जा सकती है। माना कि इस वक्त भगवान् मुनि अवस्था में हैं पर यहाँ साक्षात् भगवान् तो नहीं हैं यहाँ तो उनकी मूर्ति है। अष्टद्रव्य से पूजने के योग्य मूर्ति प्रतिष्ठाविधि में कब होती है यह तो विचार करना ही पड़ेगा। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में भी पृष्ठ २७८ पर तिलकदान विधि के बाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अत्राष्टकं देयं" वाक्य देकर तिलकदान के वाद ही अष्टद्रव्य से पूजा करना वताया है। यहीं पर वचनिकाकार ने तिलकदान को प्रतिष्ठा का मुख्य कार्य वताया है। अर्थात् तिलकदान यह प्रतिष्ठा की मुख्य क्रिया-विधि है। इसके पहले मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं हो सकती है। इसी तिलकदान विधि में अत्रावतरावतर आदि आह्वानादि मन्त्रों का प्रयोग कर भगवान् को मूर्ति में स्थापन करने की भावना की जाती है। आशाधर जी ने भी अपने प्रतिष्ठापाठ पत्र १०८ में तिलकदान विधि के हो चुकने वाद ही "तत्काल प्रतिष्ठितार्हत्प्रतिमां नमस्कुर्यात्" ऐसा लिखा है। अर्थात् उसी समय प्रतिष्ठित हुई अर्हंतप्रतिमा को नमस्कार करे।

विंव प्रतिष्ठा में तिलकदान विधि कितनी मुख्य और महत्त्व की है इसके लिए आशाधर जी अपने प्रतिष्ठापाठ अध्याय ४ में लिखते हैं कि—

द्रव्यैः स्वैः सुनयार्जितैर्जिनपते विंवं स्थिरं वा चलं
ये निर्माप्य यथागमं सुदृषदाद्यात्मात्मनान्येन वा।
लग्ने वल्गुनि लंभयंति तिलकं पश्यंति भक्त्या च ये
ते सर्वेऽपि महोदयांतमुदयं भव्याः लभन्तेऽद्भुतम् ॥५॥

अर्थ—न्यायोपार्जित स्वद्रव्य से जो शास्त्रानुसार उत्तम पाषाण आदि की स्थिर व चल जिनप्रतिमा को वनाकर अपने या प्रतिष्ठाचार्य के द्वारा उत्तम लग्न में तिलकविधि करते हैं और उस विधि को जो भक्ति से देखते हैं वे सव ही भव्य जीव महोदयांत कहिये मोक्ष है अन्त में जिसके ऐसे अद्भुत उदय को—अहमिंद्रादि पद को प्राप्त होते हैं।

मुद्रित जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में अशुद्धियाँ

आगे हम छपा हुआ जयसेन प्रतिष्ठापाठ जो इस वक्त प्रचार में आ रहा है उसके बावत लिखते हैं—

आज से ३६ वर्ष पहले इस पाठ को सेठ हीराचन्द जी नेमीचन्द जी दोशी सोलापुर वालों ने छपाया था। इसके यागमण्डल पूजाविधान में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थों की तरह रागी द्वेषी देवों की कतई आराधना नहीं है। उसमें पंच परमेष्ठी सम्बन्धी पूजाविधान लिखा है। अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ इसमें देव शास्त्र गुरु की ही आराधना लिखी है तथा इसमें अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थों की तरह किसी भी विधान में गोमय गोमूत्र का उपयोग नहीं किया है इत्यादि कारणों से यह प्रतिष्ठा पाठ अपनी खास विशेषता रखता है और अधिकतया श्रद्धा का पात्र बना हुआ है। किन्तु इस प्रतिष्ठा पाठ में कहीं-कहीं हमें अशुद्धियाँ नजर आती हैं। खासकर वे अशुद्धियाँ जो मुख्यतया प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती हैं। उन पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये इसलिये यहाँ हम दूसरी अशुद्धियों को छोड़कर प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी अशुद्धियों का ही उल्लेख करते हैं—

१—पृष्ठ ११७ के श्लोक ३७८ में कहा है—

आचार्येण सदा कार्यः क्रियां पश्चात् समाचरेत्।
श्रीमुखोद्घाटने नेत्रोन्मीलने कंकणोज्झने ॥

अर्थ—आचार्य को श्रीमुखोद्घाट, नेत्रोन्मीलन और कंकणमोचन में सदा मातृकान्यास करना चाहिये। फिर अन्य क्रिया करनी चाहिये।

तथा पृष्ठ १३६ में मन्त्र नं० २५वाँ इस प्रकार है—"ओं नमोर्हते भगवतेऽर्हते सद्यःसामायिकप्रपन्नाय कंकणमपनयामि स्वाहा।" दीक्षास्थापनमन्त्रः। यही मन्त्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ में भी भगवान् के दीक्षाग्रहण में लिखा है। इस प्रकार जयसेनप्रतिष्ठापाठ में उक्त दो स्थानों में कंकण दूर करने का उल्लेख किया है। परन्तु ग्रन्थ भर में कहीं भी किसी भी विधान में जिनबिम्ब के कंकण बाँधना नहीं बताया है तथा पृष्ठ १३६ में "अठ्ठविहकम्ममुक्का" आदि ३८वाँ मन्त्र मुखोद्घाटन का दिया है जिसे अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थों में कंकणबन्धन का मन्त्र लिखा है। मगर जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के पृष्ठ २८३ में जहाँ कि मुखोद्घाटन क्रिया का वर्णन किया है वहाँ यह मन्त्र न देकर अन्य ही वह मन्त्र लिखा है जो अन्य प्रतिष्ठा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थों में पाया जाता है। इस प्रकार इस विषय में जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में खास गड़बड़ नजर आती हैं।

२—पृष्ठ १३५ पर नं० ३०, ३१, ३२ के तीन मन्त्र दिये हैं दरअसल ये तीन मन्त्र नहीं है। तीनों का मिलकर एक ही मन्त्र है और उसका नाम जिनमन्त्र है। यही जिनमन्त्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के पत्र ९६ पर लिखा है। इस मन्त्र का उपयोग जन्मकल्याणक में किया जाता है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृष्ठ २५६ में इसे जन्मकल्याणक की विधि में लिखा भी है वहाँ इसके दो मन्त्र बना दिये हैं। इस तरह एक ही मन्त्र जिनमन्त्र को कहीं ३ मन्त्रों में विभाजित कर लिखना, कहीं दो मन्त्रों में लिखना साफ ग्रन्थ प्रति की अशुद्धता को प्रकट करता है।

३—पृष्ठ १३६ में नं० ३६ और ३७ के दो तिलक मन्त्र लिखे हैं। किन्तु पृष्ठ २७८ में जहाँ कि तिलक विधि का वर्णन किया है वहाँ जो तिलक मन्त्र लिखा है वह उक्त दोनों ही तिलक मन्त्रों से भिन्न है। यह भी इस ग्रन्थ की अशुद्धि को सूचित करता है।

४—दीक्षाकल्याणक में एक संस्कार मालारोपण की विधि की जाती है। इस विधि का मतलब ऐसा है कि भगवान् की मुनि अवस्था में पंचाचारों के पालन करने से उत्पन्न होने वाली आत्मा की विशुद्ध-अवस्था विशेष के ४८ भेद करके उन भेदों को ही यहाँ अलग-अलग अड़तालीस संस्कार बना दिये हैं। उन संस्कारों को प्रतिमा में आरोपण करना यही पंचसंस्कारारोपण विधि कहलाती है। इन संस्कारों में से ११वाँ संस्कार जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में पृष्ठ २७२ पर 'शीलसप्तक' नामका लिखा है। यह नाम बिल्कुल ग़लत मालूम देता है। क्योंकि तीन गुण-व्रतों और चार शिक्षाव्रतों को 'शीलसप्तक' कहते हैं जो श्रावक व्रतों के अन्तर्गत है। यहाँ मुनि अवस्था में यह संस्कार कैसा? आशाधर-प्रतिष्ठा-पाठ में इस नाम का कोई अलग संस्कार नहीं है। वहाँ ९वें संस्कार का नाम "त्रियोगासंयमच्युतेः शीलन" है जिसका अर्थ होता है त्रियोग के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा असंयम से अलग रहने का स्वभाव। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में इसी को दो नामों में लिख दिया है—त्रियोगेन संयमाच्युति और शीलसप्तक। ऐसा लिखने की गलती से हुआ जान पड़ता है। इसी तरह इसमें जो ४४वाँ ४५वाँ संस्कार लिखे हैं वे भी आशाधर-प्रतिष्ठा पाठ में नहीं हैं इन दोनों का अन्तर्भाव ४३वें संस्कार में हो जाता है अतः ये निरर्थक हैं। कुछ संस्कार लिखने से रह गये हैं। इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ का यह प्रकरण कुछ अशुद्धियों को लिए हुए ज्ञात होता है। अफसोस है कि इस छपी हुई अशुद्ध प्रति से जितनी प्रतिष्ठाएँ अब तक हुई उन सब में संस्कारों का आरोपण अशुद्ध रूप से ही हुआ।

५—जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृष्ठ २७८ पर तिलकदान विधि लिखी है। उसके श्लोक ८४९ के चौथे चरण के "निजाभिषिक्त्यै" वाक्य से यहाँ दही, दूब, सरसों, कपूर, अगर आदि से मिश्रित जल से यजमान की स्त्री को स्नान करने को कहा गया है। किन्तु वचनिकाकार ने "निजाभिषिक्त्यै" की जगह "जिनाभिषक्त्यै" पाठ मानकर अर्थ किया है "जिनका अभिषेक के अर्थि।" किन्तु यह अर्थ भी यहाँ ऐसा कुछ बैठता नहीं है। तथा यहाँ के मूल गद्य में यजमान की पत्नी के द्वारा आचार्य के तिलक करने का विधान किया है किन्तु वचनिका में इस गद्य का और यहाँ के श्लोक ८५०-५१ का कतई अर्थ नहीं है। सम्भव है जिस प्रति से वचनिका बनाई गई है उसमें ऐसा मूल पाठ नहीं हो। यहाँ के श्लोक ८५१ में यह तिलक विघ्न-समूह के नाश करने के लिए बताया है। आचार्य के तिलक करने से विघ्नसमूह का नाश मानना भी अटपटा-सा ही है। और इस श्लोक में 'विदधातु' क्रिया के स्थान में 'विधातु' प्रयोग भी अशुद्ध किया है।

इस तरह यह प्रकरण इसमें अजीब सा हो गया है और ग्रन्थ की अशुद्धता को जाहिर करता है। शायद इसीसे ब्रह्मचारी जी ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ में इस प्रकरण के इस प्रकार के कथन को नहीं अपनाया है।

६—पृष्ठ २८२ में अधिवासना विधि के बाद "सर्वान् जनानपसृत्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बरत्वावगत आचार्यः....'' आदि गद्य पाठ दिया है जिसमें सब लोगों को हटाकर प्रतिष्ठाचार्य के नग्न हो जाने को कहा है। किन्तु वचनिका में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा है। इससे यही अनुमान होता है कि वचनिकाकार के सामने मूल प्रति में यह पाठ नहीं था और इस कथन का आगे के विवेचन के साथ कुछ मेल भी नहीं बैठता है क्योंकि आचार्य के नग्न हुए बाद आगे यहाँ मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन इन विधियों का करना बताकर फिर आगे सूरिमन्त्र देने का विधान किया है। मुखोद्घाटन में परदा हटाए बाद प्रतिष्ठाचार्य का नग्न रहना कैसे हो सकेगा? वैसे भी उसके लिए नग्नता का विधान अटपटा-सा ही नजर आता है और यहाँ यह भी स्पष्ट नहीं किया है कि मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन और सूरिमन्त्र इन तीन क्रियाओं में से कौन सी क्रिया नग्न होकर की जावे। बल्कि आचार्य के नग्नता का कथन किये बाद, आगे वह कब वस्त्र धारण करे? ऐसा कुछ कथन ही नहीं किया है। इससे साफ प्रगट है कि यह कथन मूल में प्रक्षिप्त है। यह तो पहिले ही विचारणीय था ही फिर तुर्रा यह है कि ब्रह्मचारी जी ने अपनी तरफ से इसके साथ और नमक मिर्च लगा दिया है। वे अपने प्रतिष्ठा पाठ में लिखते हैं कि—"फिर आचार्य नग्न हो जावे व ऐलकादि भी नग्न हो जावें (पृ० १४१) फिर आचार्य और मुनि आदि जो हों वह मिलकर सूरिमन्त्र पढ़ें। दोनों कानों में पढ़कर सर्वज्ञपना प्रगट करें (पृ० १४२) जयसेनप्रतिष्ठा पाठ में तो कहीं मुनि ऐलक का नाम नहीं है, फिर न जाने ब्रह्मचारी जी इस काम में मुनि ऐलक को क्यों ले आये? साथ ही प्रतिमा के कानों में पढ़े जाने की बात भी बड़ी विचित्र है। प्रथमानुयोग आदि किसी भी प्राचीन शास्त्र में ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया कि जहाँ किसी मुनि ने प्रतिमा को सूरिमन्त्र दिया हो। वस्त्रधारी भट्टारकों ने ऐसा कहीं किया हो तो बात दूसरी है। आजकल जो सूरिमन्त्र दिया जाता है जिसे किसी को बताते नहीं हैं। उसका भी हाल सुनिए—"ओं भूर्भुवः स्वः ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" यह ब्राह्मण मत का गायत्री मन्त्र है। इसी मन्त्र के साथ असिआउसा आदि जैन मन्त्र जोड़कर किसी ने मनघड़ंत सूरिमन्त्र बना डाला है।

इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ की मुद्रित प्रति में यत्र तत्र अशुद्धियाँ नजर आती हैं। अतः इसकी पुरानी हस्तलिखित प्रति की किन्हीं शास्त्र भण्डारों से खोज होना बहुत ही जरूरी है। इस दिशा में प्रतिष्ठाचार्यों को प्रयत्न करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म और हवन

धर्म के तो भेद हैं—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। हवन करना यह श्रावकों की क्रिया है, मुनियों की नहीं। परन्तु श्रावकाचार ग्रन्थों रत्न-करण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, चारित्रसार, वसुनन्दि श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार आदि में यहाँ तक कि पं० आशाधर के सागार-धर्मामृत में भी श्रावकों के लिए हवन करने का विधान कहीं नहीं बताया गया है। इन ग्रन्थों में पूजा के प्रकरण में भी हवन का कोई उल्लेख नहीं है। अगर हवन करना श्रावक का धर्म होता या जिनपूजाविधि का कोई अंग विशेष होता तो उसका कथन श्रावकाचार के ग्रन्थों में अवश्य आता।

किसी लौकिक कार्य की सिद्धि के लिए कोई मन्त्र विद्या साधी जाती है उसमें भिन्न-भिन्न विद्याओं के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों का हवन करना मन्त्र शास्त्रों में बताया है परन्तु धार्मिक अनुष्ठान में जपे जाने वाले मन्त्रों के साथ हवन का कोई नियम नहीं है। ज्ञानार्णव में बहुत से उत्तमोत्तम मन्त्रों के जाप्य करने का वर्णन है परन्तु वहाँ उनकी आहुतियाँ देने का कोई कथन नहीं है। शास्त्रों में पदस्थध्यान के वर्णन में परमेष्ठीवाचक मन्त्रों का जाप्य तो बताया है पर उन मन्त्रों से हवन करना नहीं बताया है। जप तप ध्यान से तो बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ होती हैं इसलिए जैन शास्त्रों में जहाँ तहाँ इनकी तो बहुत महिमा लिखी है, हवन की नहीं। श्री समन्तभद्राचार्य ने भी "दयादमत्यागमसमाधिनिष्ठ" इत्यादि कारिका में जैन मत को अद्वितीयमत इसी कारण से बताया है कि उसमें दया, इन्द्रियसंयम, त्याग और ध्यान की मुख्यता है।

बहुत पुराने जमाने में घृत मेवा मिष्ठान्न से हवन नहीं किया जाता था क्योंकि ये मानव के पौष्टिक खाद्य हैं किन्तु उस धान्य से हवन किया जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था जो तीन वर्ष का पुराना हो जाने से न तो वह मानव के काम का रहता था और न कृषि के योग्य, क्योंकि खेत में बोने से वह उग नहीं सकता था। ऐसे निकम्मे फालतू धान्य को इस काम में लिया जाता था। उस वक्त की वह रस्म भी वैदिकमत की थी, न कि जैनमत की। क्योंकि "अजैर्यष्टव्यं" इस वाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद हुआ था उसमें नारद कहता था कि तीन वर्ष के पुराने धान्य जो बोने पर उगे नहीं वे अज कहलाते हैं उन अजों से हवन करना ऐसी वैदिकमत की मान्यता है। इसके विरुद्ध पर्वत का कहना था कि अज कहिये बकरों से हवन करना ऐसी मान्यता वैदिकमत की है। यहाँ दोनों ही ने वैदिकमत की मान्यता पर विवाद किया था। जैनमत का तो यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है। जैनधर्म तो दया प्रधान धर्म है, ऐसा आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है, तब उसमें बकरों से होम करने की बात कोई कहेगा ही क्यों और उसकी यह बात चलेगी भी कैसे। इसके लिये राजा वसु की साक्षी की भी कोई जरूरत नहीं थी।

तीन वर्ष के पुराने धान्य से हवन करने की रीति जैनमत की होती तो आचार्य जिनसेन स्वामी आदिपुराण में गर्भाधानादि संस्कारों में हवन के लिए तीन वर्ष का पुराना धान्य बताते। इसलिए पर्वत और नारद दोनों ही का विवाद वैदिकमत की मान्यता पर ही था। दोनों के गुरु क्षीरकदंब भी अजैन ब्राह्मण ही थे। पद्मपुराण और हरिवंशपुराण में लिखा है कि— वे शिष्यों को अरण्यक ग्रन्थ पढ़ाते थे। अरण्यक यह वैदिकमत का ग्रन्थ है। हाँ यह हो सकता है कि जैन दीक्षा लेकर क्षीरकदंब जैन हो गये हों। महाभारत शान्तिपर्व मोक्षाधिकार अ० ३३४ में बताया है कि—

"एक बार ऋषियों और देवताओं के बीच अज शब्द पर विवाद चला। ऋषियों का पक्ष था धान्य से यज्ञ करने का और देवों का पक्ष था पशु बलि से यज्ञ करने का। राजा वसु से निर्णय माँगा गया, उसने पक्ष-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पात से अज का अर्थ बकरा बताया जिससे पशुबलि की प्रथा चली। ऋषि-शाप से वसु नरक गया।"

शान्तिपर्व २६९ श्लोक–२५, २६ तथा पर्व २७१ श्लोक–१-१३ में बताया है कि—"यज्ञों में प्रारम्भ में हिंसा नहीं होती थी। क्योंकि मनु ने अहिंसा को ही परमधर्म कहा है। सच्चा ब्राह्मण तो वह यज्ञ करता है जिसमें किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।"

इससे भी यही सिद्ध होता है कि "अजैर्यष्टव्यं" का विवाद वैदिकों में ही आपस का था।

ब्राह्मण मत में अग्नि को देवताओं का मुख माना है इसलिए उनके यहाँ अग्नि में डाली वस्तु देवताओं को मिल जाती है। इसी माफिक उत्तर-पुराण पर्व ६७ श्लोक ३२९ से ३३१ में कहा है कि—"तीन वर्ष के पुराने धान्य की बनी वस्तुओं से अग्नि रूप मुख में देवता की पूजा करना–आहुति देना यज्ञ कहलाता है।" ऐसा अर्थ "अजैर्होतव्यं" का नारदने करके पर्वत को सुनाया था। इससे भी त्रिवर्षे धान्य से हवन करने का विधान वैदिक मत का ही जाहिर होता है। क्योंकि अग्नि को देवों का मुख माना ऐसा जैनों का मत नहीं है। इस प्रकार जैनधर्म में तो तीन वर्ष के पुराने धान्य से भी हवन करने का विधान नहीं है।

पद्मपुराण पर्व ११ श्लोक–२४८ में कहा है कि—ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और जठराग्नि ये तीन अग्नियाँ इस शरीर में ही हैं। विद्वानों को उन्हीं में दक्षिणाग्नि आदि तीनों अग्नियों का संकल्प करना चाहिये।" इस कथन से सिद्ध होता है कि रविषेण के वक्त तक जैनधर्म में दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय इन तीन अग्नियों की कल्पना तीर्थंकर–गणधर-सामान्य केवलियों के दग्ध शरीरों की अग्नियों में नहीं हुई थी।

पद्मपुराण के इसी ११वें पर्व के श्लोक २४१ से २४४ में कहा है—"प्रथम तो यज्ञ की कल्पना ही निरर्थक है। दूसरे यदि कल्पना करनी ही है तो विद्वानों को हिंसायज्ञ की कल्पना नहीं करनी चाहिये। उन्हें धर्मयज्ञ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही करना चाहिये। वह इस तरह की आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, सन्तोष साकल्य है, त्याग होम है, मस्तक के केश कुशा है, प्राणियोंकी रक्षा दक्षिणा है, शुक्लध्यान प्राणायाम है, सिद्धिपद की प्राप्ति फल है, सत्य बोलना स्तम्भ है, तप अग्नि है, चंचलमन पशु है और इन्द्रियाँ समिधायें हैं। यही धर्मयज्ञ कहलाता है।"

पद्मपुराण के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि रविषेण के वक्त तक भी जैनधर्म में अग्नि में आहुतियाँ देने रूप यज्ञ की कोई प्रवृत्ति नहीं थी। उस वक्त वैदिक मत में यज्ञ की जैसी प्रवृत्ति थी उसे भी उन्होंने आध्यात्मिक रूपक में ढाल कर उस तरह के यज्ञ करने का आदेश दिया है।

इसी तरह वैदिकों के यहाँ देवाराधन में जिस प्रकार यज्ञ स्वाहा आहुति शब्द प्रयुक्त हुए हैं उसी प्रकार हमारे यहाँ जैनधर्म में भी ये शब्द प्रयुक्त हुये हैं, किन्तु इनका अर्थ हमारे यहाँ वैदिकों से जुदा है। जल गंध अक्षतादि अष्टद्रव्यों से भगवान् की पूजा करने को हमारे यहाँ यज्ञ कहा है।

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगंतुकामः।
आलंबनानि विविधान्यवलंब्य वल्गन्
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम्॥

—नित्यनियम पूजा

पूजन के वक्त इष्टदेव के आगे स्वाहा शब्द बोलकर हमारे यहाँ द्रव्य अर्पण किया जाता है। और पूजा के अन्त में जो अर्घ दिया जाता है वह पूर्णाहुति कहलाती है। इस पूर्णाहुति शब्द का प्रयोग पं० आशाधर ने स्वरचित प्रतिष्ठापाठ में अनेक जगह किया है। इससे फलितार्थ यही निकलता है कि जैनमत में भी यज्ञ करना बताया है परन्तु वह ब्राह्मणों की तरह अग्नि में आहुतियाँ देने रूप नहीं बताया है किन्तु पूज्य के आगे द्रव्य अर्पण करने रूप बताया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यशस्तिकलचम्पू आश्वास ४ पृ०–१०५ पर दिगम्बर धर्म पर ऐसे आक्षेपका उल्लेख किया है।

न तर्पणं देवपितृद्विजानां
स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता।
श्रुतेः स्मृतेर्बाह्यतरे च धीस्ते
धर्मे कथं पुत्र दिगंवराणाम्।

अर्थ—जिस धर्म में देव-पितृ-द्विजों का तर्पण नहीं है। न स्नान (जैन साधु स्नान नहीं करते) और न होम की जहाँ वार्ता है और जो श्रुति स्मृति से अत्यन्त वाह्य है ऐसे दिगम्बर के धर्म में हे पुत्र, तेरी बुद्धि क्यों है ?

इस आक्षेप से क्या यह सिद्ध नहीं होता है कि प्राचीन काल में दिगम्बर मत में कतई हवन की प्रथा नहीं थी। साधारण तौर पर भी सोचा जाये कि—किसी का पूजा सत्कार करने में चीजें उसे भेट में देनी हैं उन चीजों को उसे न देकर उसके आगे अग्नि जलाकर उसमें उन्हें भस्म कर देना यह क्या कोई बुद्धिमानी है और ऐसा भी क्या कोई पूजा का तरीका है ?

वैदिक मत में "अग्निमुखा वै देवाः" ऐसा श्रुति वाक्य है। जिसका अर्थ होता है "देवगण अग्निमुख वाले होते हैं।" यानी जो चीजें अग्नि में हवन की जाती हैं वे देवताओं को पहुँच जाती हैं। ऐसा सिद्धान्त वैदिक मत का है अतः वैदिक लोग इस सिद्धान्त के माफिक अग्नि में हवन करते हैं। किन्तु जैनों का तो ऐसा सिद्धान्त नहीं है फिर वे क्या समझ कर अग्नि में हवन करते हैं। जैनमत में तो देवों को अमृतभोजी लिखा है उनको हमारे खाद्यपदार्थों से प्रयोजन ही क्या है ? यही बात सोमदेव ने भी हवन का निराकरण करते हुये यशस्तिलक उत्तरखंड पृ० १०९ में इन शब्दों में लिखी है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"सुधांधसः स्वर्गसुखोचितांगाः
खादंति किं वह्निगतं निलिम्पाः।"

अर्थ—स्वर्गीय सुखों में पलने वाले अमृतभोजी देवता क्या अग्नि में प्राप्त हुये खाद्य पदार्थों को खाते हैं, नहीं खाते हैं।

लौकिक कार्यों के साधनार्थ मन्त्रशास्त्रों में वश्य, आकर्षण, स्तंभन, मारण, उच्चाटन आदि कर्म लिखे हैं जिनमें साधक को मन्त्र का जाप्य करना पड़ता है और हवन भी करना पड़ता है। हवन अलग-अलग मन्त्रों में अलग-अलग पदार्थों का होता है। विद्यानुशासन में लिखा है कि—

"कनेर के फूलों के हवन से स्त्रियों का वशीकरण होता है। सुपारी के फल-पत्तों के होम से राजा लोग वश में होते हैं। घृत मिले आम्र फलों के होम से विद्याधरी वश में होती है। घृत सहित तिलों के होम से धन-धान की वृद्धि होती है। इत्यादि" और लिखा है—होम से उस मंत्र का अधिष्ठाता देवता तृप्त होकर साधक के आधीन हो जाता है—

जपादविकलो मंत्रः स्वशक्ति लभते पराम्।
होमार्चनादिभिस्तस्य तृप्ता स्यादधिदेवता॥

अर्थ—अविकल जप करने से मंत्र में उत्कृष्ट शक्ति पैदा होती है। और हवनपूजादि से उस मंत्रका अधिष्ठाता देवता तृप्त हो जाता है।

ये सब बातें मंत्रशास्त्रों से संबंध रखती हैं। इनका धार्मिक पूठापाठों के साथ कोई सरोकार नहीं। भगवान् पंचपरमेष्ठी की आराधना रूप मंत्रों में मंत्रों के अधिष्ठाता देव पंचपरमेष्ठी हैं वे वीतरागी हैं। उनका होम से तृप्त होने का और साधक के आधीन होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः धार्मिक अनुष्ठान में हवन की कोई आवश्यकता नहीं है। सोमदेव ने भी यशस्तिलकचंपू उत्तरखंड पृष्ठ—१०९ में "षट्कर्मकार्यार्थं" इत्यादि श्लोक में स्तंभन मोहन आदि षट्कर्म के कार्य में ही होम को माना है। धर्मकार्यों के लिये नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि हवन का संबंध सिर्फ लौकिक मंत्र विद्या के साथ है। हवन ही क्या मंत्र विद्या के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो दिया, काल, मुद्रा, आसन, पल्लव, माला आदि अन्य भी कई बातों का विचार रखना पड़ता है। किसी-किसी मंत्र साधन में तो घृणित वस्तुओं का उपयोग भी बताया है। इसके लिये देखिये "भैरव पद्मावतीकल्प" नामक मंत्र ग्रन्थ।

उक्त स्तंभन, मोहन आदि षट्कर्मों के साथ शान्ति, पुष्टि मिलाने से ८ कर्म भी मंत्रशास्त्रों में माने गये हैं। इस शांतिकर्म के लिये भी दिशा, काल, मुद्रा आदि के नियम लिखे हैं। जैसे लिखा है कि—मुख पश्चिम में रहे, समय अर्द्धरात्रि का हो, पद्मासन, ज्ञानमुद्रा, स्फटिक की माला, स्वाहा पल्लव, आसनसफेद, मध्यमांगुली से माला फेरना, अग्निकुण्ड चौकोर, होम की समिधा ९ अंगुल की हो। यह मांत्रिक, शांतिकर्म है। इस मान्त्रिक शांतिकर्म से जुदा एक धार्मिक शान्तिकर्म भी होता है। जिसमें पंचपरमेष्ठी संबंधी मण्डल पूजा विधान, जाप्य, स्तुति, (सहस्रनाम स्तोत्र का पाठ) अभिषेकादि रूप धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है। इस धार्मिक शांतिकर्म में दिशा काल मुद्रा आसन आदि नियमों का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। न इसमें होम करने की जरूरत है। भगवज्जिनसेन ने आदि पुराण में ऐसे ही शांतिकर्म का उल्लेख किया है। जिस वक्त भरत चक्री को अशुभ स्वप्न आये थे तो उनके दोष निवारणार्थ उन्होंने शान्तिकर्म किया था। उसका कथन करते हुए आदिपुराण में लिखा है कि—

शांतिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशांतये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः॥

अर्थ—जिनेन्द्र का अभिषेक, सत्पात्रों को दान इत्यादि पुण्यकार्यों से भरत ने दुःस्वप्नों और अरिष्ट (अशुभसूचक उत्पात) की शान्ति के लिए शान्तिकर्म किया।

जो लोग शान्तिकर्म में हवन को मुख्य-स्थान देते हैं। उन्हें आदिपुराण के इस कथन पर ध्यान देना चाहिये। अगर शांतिकर्म में हवन एक मुख्य चीज होती तो आचार्य जिनसेन उसका नाम दिये बिना नहीं रहते। उन्होंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो पूजा, दान को प्रधानता दी है। अर्हद्भक्ति और त्याग यही तो जैन-धर्म के प्राण हैं और सच्ची व स्थायी शान्ति भी इन्हीं से मिल सकती है। साथ ही बड़े-बड़े विघ्नों और उपद्रवों के मिटाने का भी ये ही अमोघ उपाय हैं। पं० आशाधर जी ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ में इसी प्रकार का शान्तिकर्म लिखा है। लिखते हैं कि—

"अष्ट दल के कमल के मण्डल में लघुशान्तिकर्म की विधि और ८१ कोठों के मण्डल में वृहत् शान्तिकर्म की विधि करनी चाहिये। ध्यान के माफिक ही उसका फल समझना चाहिये। विघ्नों की शान्ति के लिए दोनों शान्तिकर्म यथायोग्य, यथाविधि करने चाहिए।" इन दोनों शान्तिकर्मों में उन्होंने सिर्फ पञ्चपरमेष्ठी व जयादि देवी-देवों की आराधना पूजा (जैसी कि उनकी आम्नाय थी) और भगवान् का अभिषेक करना बताया है। हवन करने का कथन नहीं किया है। सिद्धचक्र मण्डल-विधान भी इसी तरह का शान्तिकर्म है। इसमें अनेक कवियों की संस्कृत रचनाओं का संग्रह है। इसका संकलन भट्टारक शुभचन्द्र ने किया है। इसमें कहीं भी हवन करने का नाम निशान नहीं है। तथापि वर्तमान में हर अष्टाह्निका में जैन समाज में कई जगह इस पुस्तक से सिद्धचक्र मण्डल विधान किया जाता है। उसमें हजारों की सामग्री अग्निमें फूँक दी जाती है। इसे हम उत्सूत्र प्रवृत्ति ही कह सकते हैं।

यहाँ तक हमने इस लेख में शास्त्राधार से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि जैनधर्म में धार्मिक अनुष्ठान करने के लिये हवन करने का कहीं कोई विधान नहीं है। अब हम आदिपुराण में उल्लिखित हवन पर विचार करते हैं—

एक वक्त ऐसा गुजरा था कि हमारे इस देश में ब्राह्मण धर्म का प्राबल्य था तब हवन आदि क्रिया-कांडों का प्रचलन जोर-शोर पर था। उस वक्त जिनके हवनादि पूर्वक गर्भाधानादि संस्कार होते थे वे आर्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहलाते थे और उच्च श्रेणी के माने जाते थे। ऐसी परिस्थिति में जैनधर्म की रक्षा और उसकी प्रतिष्ठा रखने के लिए हमारे आचार्य जिनसेन को भी आधानादि संस्कारों और उनके सम्पादनार्थ हवनादि क्रिया-काण्डों की सृष्टि करनी पड़ी है। जिसका वर्णन आदिपुराण में लिखा मिलता है। उस वर्णन को गम्भीरता से अध्ययन करने पर ऐसा प्रतिभासित होने लगता है कि—जब जिनसेन स्वामी को ऐसा नजर आया कि ब्राह्मण धर्म का असर जैनधर्म के मूल आचार-विचारों पर तो नहीं पड़ रहा है। किन्तु जैनी लोग अपने पड़ौसी वैदिक मतवालों की देखा-देखी विवाह, जातकर्म, शिलान्यास, नूतन गृह प्रवेश आदि लौकिक कार्यों को ब्राह्मण रीति से कराने लग गये हैं। यह भी चीज जैनधर्म के लिये अवज्ञा की है। इसके लिए भी जैन जनता क्यों परमुखापेक्षी रहे ? और क्यों वैदिक मत का सम्पर्क करे ? यही सब सोचकर आचार्य श्री ने लौकिक क्रियाकाण्डों का जो प्रवाह चल पड़ा था उसे रोकना मुश्किल समझ कर उसके विधिविधानों में वैदिक आम्नाय के अनुसार देव गुरु अग्नि की साक्षी का उपयोग किया जा रहा था उनकी जगह उन्होंने जैन आम्नाय के अनुरूप देव, गुरु, अग्नि के समक्ष में विधि-विधान किये जाने की योजना चालू की। तदर्थ उन्होंने पीठिकादि हवन मन्त्रों, गार्हपत्यादि अग्नियों, तीर्थंकरादि अग्निकुण्डों और गर्भाधानादि संस्कारों का प्रतिपादन किया है। साथ ही इन कामों के कराने वाले ब्राह्मण भी चाहिये तो इसके लिए उन्होंने जैन ब्राह्मण बनाने के उपाय भी बताये हैं। उन जैन ब्राह्मणों को खास तौर से हवनादि करने का आदेश देते हुए आदिपुराण पर्व ४० में लिखा है कि—

"तीनों प्रकार की अग्नियों में मन्त्रों के द्वारा पूजा करनेवाला द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकार की पूजा नित्य होती रहती है वह अग्निहोत्री कहलाता है। घर में बड़े यत्न के साथ इन तीनों अग्नियों की रक्षा करनी चाहिये। जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे अन्य लोगों को कभी नहीं देनी चाहिये। ब्राह्मणों को व्यवहारनय की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षा ही अग्नि की पूज्यता इष्ट है। इसलिये जैन ब्राह्मणों को भी आज यह व्यवहारनय उपयोग में लाना चाहिये।"

आदिपुराण के इन सब कथनों से साफ तौरपर यही प्रकट होता है कि श्री जिनसेनाचार्य ने दो जगह हवन करना बताया है। एक तो गर्भाधान-विवाह आदि लौकिक कार्यों में और दूसरे जैन ब्राह्मणत्व के लिये। इनके सिवा जिनालय में मण्डल पूजा विधान आदि अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में हवन किये जाने का अभिप्राय जिनसेन स्वामी का ज्ञात नहीं होता है। और यह अग्नि हवन भी गृहस्थी के घर पर ही होना चाहिये, न कि जिन मन्दिर में। विवाह में तो आमतौर पर हवन घर पर होता ही है और ब्राह्मणों के लिये स्वयं आचार्य श्री ने स्पष्टतया घर पर हवन करने को कहा ही है। अन्य गर्भाधानादि संस्कार भी लौकिक होने से उनका हवन भी घर पर ही होना योग्य है। रही मूर्तिप्रतिष्ठा और वेदीप्रतिष्ठा में हवन की बात सो लौकिक में नये घर में प्रवेश करते समय हवन किया जाता है। उसी की देखा देखी नूतन मन्दिर में श्री जी को पधराते वक्त भी हवन की प्रथा चल पड़ी है, इससे इसकी गणना भी लौकिक विधान में ही जायेगी। इसे भी करना ही है तो संक्षिप्त रूप से कर लेना चाहिये। शान्तिमन्त्र का जितनी संख्या में जाप्य हुआ है उसके दसवें हिस्से की आहुतियाँ देना ऐसा यहाँ कोई नियम नहीं है। ऐसा नियम तो किसी मन्त्र विद्या के साधनों में कहा गया है।

हवन यह जैनधर्म की मूलसंस्कृति नहीं है। जैनधर्म की मूल चीज है अन्तरंग में राग-द्वेषादि कषायों की विजय और बाह्य में जीव दया का पालन। ये दोनों ही हवन में घटित नहीं होते हैं। हवन से अग्निकायिक जीवों की विराधना होती है। दूर दूर तक फैलने वाली अग्नि की गरम-गरम धुवें से वायुकाय आदि जीवों का विघात एवं मक्खी-मच्छर आदि उड़ने वाले छोटे-छोटे त्रस जीवों को बाधा आदि तो प्रत्यक्ष ही दीखती है। साथ ही उसके काले धुँवों से मन्दिर की सफेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीवारों पर के सुन्दर चित्रों, छत्र-चामरों और बहुमूल्य चन्दोवों की भी खासी मिट्टी पलीद हुये बिना नहीं रहती है। इससे कभी-कभी आग लगने की भी सम्भावना रहती है। इस प्रकार हवन से सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं दीखता है। अहिंसामय जैनधर्म में यह निरर्थक सावद्य क्रिया कैसे पनप रही है? आज के जमाने में घृत, मेवा, मिष्ठान्न फलादि पदार्थ वैसे ही मँहगाई की पराकाष्ठा तक पहुंच कर जनसाधारण के लिये अत्यन्त दुर्लभ हो गये हैं। उनको अग्नि में जला कर धर्म मानना इससे बढ़-कर अन्य क्या अज्ञानता हो सकती है? सिद्धचक्रादि विधानों में हजारों रुपयों की सामग्री जला कर खाक की जाती है। अगर ये ही रुपये दीन अनाथों के भी काम में लगाये जायें तो कितना पुण्य हो। यह भी तो सोचना चाहिये कि अग्नि में घृतादि जलाने के साथ धर्म का सम्बन्ध कैसे है? अविचार पूर्ण क्रियाओं का कोई फल मिलने वाला नहीं है। धर्म का असली तत्त्व छिपा जा रहा हैं और थोथे क्रियाकाण्डों का जोर बढ़ता जा रहा है। विवेकी विद्वान् मन में सब कुछ जानते हुए भी अल्पज्ञ लोगों की रुख के विरुद्ध कदम उठाने का साहस नहीं कर रहे यह बड़े ही परिताप का विषय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशाधर प्रतिष्ठापाठ में नवग्रहों का अद्भुत वर्णन

विद्वत् समाज में पं० आशाधर जी की विद्वत्ता की धाक आज ही नहीं सदियों से चली आ रही है। इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर ही पिछले क्रियाकांडी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में प्रायः इन्हीं का अनुसरण किया है। बल्कि इनकी ऐसी ही रचनाओं का बल पाकर ही दि० जैनधर्म में संहिता, त्रिवर्णाचार, प्रतिष्ठापाठ, पूजा अभिषेक पाठादि क्रियाकांडी साहित्य की भरमार हुई है। पं० आशाधरजी भी आचार व क्रियाकांड विषय के ही अधिकतर अभ्यासी मालूम पड़ते हैं, यही कारण है जो उनकी वैद्यक आदि लौकिक रचनाओंके अतिरिक्त जैन रचनाओं में कोई भी जैनसैद्धान्तिक ग्रन्थ नहीं पाया जाता है।

पं० आशाधरजी भले ही कोई भारी से भारी विद्वान् हुए हों परन्तु इसी के आधार पर उनका जो भी वक्तव्य हो उसे गले उतार लेना यह जैनधर्म की नीति नहीं है। जैनधर्म में कोरी विद्वत्ता आदरणीय नहीं है, सम्यक्ज्ञान आदरणीय है चाहे वह थोड़ा ही हो। हमारे यहाँ आशाधरजी तो क्या ग्यारह अंग तक के पाठी भव्यसेन मुनि तक भी सम्यग्ज्ञान के अभाव से आशीर्वाद के पात्र नहीं समझे गये हैं, जबकि स्तोक ज्ञान वाली रेवती महिला आदरणीय मानी गयी है।

पं० आशाधरजी की रचनाओं में कहीं-कहीं ऐसा भी कथन पाया जाता है जिसकी संगति इतर मान्य जैनग्रन्थों से नहीं बैठती, जिसे पढ़-सुन कर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है और कहना पड़ता है कि इस प्रकार का बेढंगा कथन आशाधरजी जैसे प्रकाण्ड विद्वान् की कलम से कैसे लिखा गया। नीचे हम ऐसे ही एक प्रकरण को पाठकों के सामने बतौर नमूने के पेश करते हैं। यह प्रकरण प्रतिष्ठासारोद्धार नामक ग्रंथ के दूसरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय में पाया जाता है। यह ग्रन्थ छप चुका है किन्तु बहुत अशुद्ध छपा है। कहीं-कहीं श्लोकों का हिन्दी अनुवाद भी किया हुआ है, अनुवाद में काफी गलतियाँ भरी हुई हैं। अनुवाद की स्थिति यह है कि कहीं तो श्लोक का पूरा अनुवाद किया है कहीं अधूरा किया है तो कहीं किया ही नहीं गया है। इसलिए पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत विषय के श्लोकों को शुद्ध पाठ और पूरे सही अनुवाद के साथ यहाँ हम दे देना उचित समझते हैं—

ऊर्ध्वं विस्तीर्णमंशान् वसुजलधिमितान् योजनस्यैकषष्ठान्
मुक्त्वाष्टौ तच्छतानि क्षितिमनिलधृतं खे सहस्रैश्चतुर्भिः।
पूर्वाद्याशानुपूर्व्या पृथगिभभिदिभोक्षार्वदेवैर्विमानं
स्वारूढो नीयमानं दशशतशरदन्वीतपल्योत्तमायुः ॥२७॥
त्वं तोष्टा तापसेष्टया कमलकर हरिद्वाह नेता ग्रहाणां
नैवेद्यैः सानुगोऽर्केन्धनश्रृतपरमान्नोद्यसर्पिर्गुड़ाद्यैः।
गंधैः पुष्पैः फलैश्चोत्तमघुसृणजपापक्वनारंगपूर्वै-
स्तादृक्षैश्चाक्षताद्यैरिह हरिहरिति प्रीणितः प्रीणयास्मान् ॥२८॥

जो विमान ऊपर की तरफ एक योजन के ६१ भागों में से ४८ भाग प्रमाण चौड़ा है। और जो पृथ्वी को आठ सौ योजन छोड़कर आकाश में पवन पर स्थित है, तथा जो पूर्वादि दिशाओं में क्रम से सिंह, हाथी, बैल, घोड़ा इन रूप के धारी पृथक् चार-चार हजार देवताओं के द्वारा ले जाया जाता है ऐसे विमान पर जो भले प्रकार आरूढ़ है और जिसकी एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है। जो ग्रहों का नेता है ऐसे हे हाथ में कमल वाले अश्वारोही सूर्य, तू तापस को पूजने से प्रसन्न होनेवाला और आकड़े की लकड़ी की अग्नि से पकाई खीर, तपाये घृत, गुडादि तथा नैवेद्यों से सानुकूल रहने वाला यहाँ पूर्वदिशा में उत्तम केशर, जपा-पुष्पों, पके नारंगी फलों तथा इसी तरह के अक्षतादिकों से पूजा हुआ हम पर प्रसन्न हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तद्विबादुरुबिंबमष्टभिरितो भागैश्चरद्योजना-
शीत्योर्ध्वं तदिवाब्दलक्षयुतपल्यैकायुरग्नेर्दिशि ।
शीतांशो सरलाज्यकिंशुकसमित्सिद्धान्नदुग्धादिभि-
स्त्वं कापालिकसत्क्रियाप्रिय इह घ्राय ग्रहाग्रप्रभो ॥२९॥

उस सूर्य विमान की चौड़ाई से ८ भाग अधिक जिसकी चौड़ाई है अर्थात् एक योजन के ६१ भागों में से ५६ भाग प्रमाण जो चौड़ा है, और जो सूर्यबिम्ब से ८० योजन ऊपर सूर्य के वाहक देवों सदृश देवों द्वारा उसी तरह चलाया हुआ विचरता है ऐसे विमान पर जो आरूढ़ है, जिसकी एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य की आयु है। ऐसा हे सब ग्रहों का प्रधान-स्वामी चन्द्र, तू कापालिक साधु के सत्कार करने से प्रसन्न होने वाला यहाँ अग्निदिशा में देवदारु की धूप, पलाश की लकड़ी से पकाया अन्न, दुग्धादि से तृप्त हो।

न्यूने बिंबमितोऽकयोजनशते क्रोशार्धमात्रं क्षिते-
र्वाह्यं द्विद्विसहस्रकेसरिमुखैर्भिक्षुप्रियः शूलभृत् ।
पल्यार्धायुरपाक् कुजात्र खदिराभृष्टैर्गुड़ाज्योत्कटैः
संतुष्टो यवसक्तुभिर्घृतयुतैर्दुर्ग्रादिभिर्धूप्यसे ॥३०॥

इस खरपृथ्वी से तीन कम नव सौ योजन की ऊँचाई पर पूर्वादिदिशाओं में क्रम से दो दो हजार सिंहादि रूप वाले देवों द्वारा जो ले जाया जाता है, जो आधे कोश का चौड़ा है ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जिसे भिक्षु-साधु प्रिय है और जिसकी आधे पल्य की आयु है ऐसा हे त्रिशूलधारी मंगल, तू इस दक्षिण दिशा में खैर की आग में भुने, उत्कट गुड़, घृत मिले जवों के सत्तुओं से सन्तुष्ट रहने वाले तेरे घृत मिले गुग्गुलादि की धूप देता हूँ।

बिंबं खं शशिनोऽष्टयोजनमतीत्योर्ध्वव्रजद् भूर्जवत्
क्रोशार्द्धप्रमितं कुजस्थितिरितो वर्णीष्टिमुत् पुस्तकम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिभ्रत् त्वं विधुजोपवीतयुगपामार्गैधसिद्धौदन-
क्षीरंसर्जरसाज्यधूपमजगो रक्षोदिशि स्वीकुरु ॥३१॥

चन्द्रविमान से आठ योजन ऊपर आकाश को उलाँघ कर जो मंगल की तरह विचरता है और जो आधे कोश प्रमाण चौड़ा है ऐसे विमान पर जो आरूढ़ है, जिसकी मंगलवत् आधे पल्य की आयु है, जो वर्णी को पूजने से हर्षायमान होता है, बकरे की जिसके सवारी है ऐसा पुस्तक और जनेऊ का धारी हे बुध, तू अपामार्ग की लकड़ी से पकाये भात, खीर व घृत मिली राल की धूप को नैऋत दिशा में स्वीकार कर।

तच्चाराद् रसयोजनैरुपरि यात्तद्वद् विमानं मना-
गूनक्रोशमितः सपुस्तककमंडल्वक्षसूत्रोऽब्जगः।
पल्यैकायुरिहोपवीतरुचिरोरस्कः परिव्राड्रतः
प्रत्यक् पिप्पलपक्वपायसहविर्धूपैर्गुरोऽभ्यर्च्यसे ॥३२॥

उस बुध के विमान के विचरने के क्षेत्र से छह योजन ऊपर बुधविमान की तरह ही चलने वाला, कुछ कम एक कोश प्रमाण चौड़ा ऐसे विमान पर जो आरूढ़ है, जो पुस्तक कमंडलु जपमाला सहित है, जो कमल पर बैठा है, जिसकी एक पल्य की आयु है, जिसका उरस्थल जनेऊ से मनोहर है और परिव्राट् कहिये भागवतीसाधु में प्रीति रखता है ऐसा हे बृहस्पते, तुझे पश्चिम दिशा में यहाँ पीपल की लकड़ी से पकी खीर व नैवेद्यों, धूपों से पूजता हूँ।

सौम्यात्खेऽध्युषितस्त्रियोजनमतिक्रांतेऽभ्रयानं तथा
प्रेयं क्रोशततं त्रिसूत्रफणभृत्पाशाक्षसूत्रैः स्फुरन्।
प्रीतः पाशुपते सवर्षशतपल्यायुः प्लवस्थो मरुत्-
काष्ठायां गुडफल्गुपाचितयवान्नाज्यैः कवे पूज्यसे ॥३३॥

बुध के विमान से ३ योजन ऊपर आकाश में जो बुधविमान की तरह ही विचरता है और जो एक कोश प्रमाण चौड़ा है ऐसे विमान पर जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरूढ़ है। जनेऊ नागपाश जपमाला से जो स्फुरायमान है जिसकी एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य की आयु है। जो पाशुपत कहिए शिवमत के साधु में प्रीति रखता है और जो मैंढ़क पर बैठा है ऐसा हे शुक, तुझे वायु-कोण में काकोदुंवर काष्ठ से भुने हुए यवान्न व गुड़, घृत से पूजता हूँ।

क्रोशार्द्धं पृथु योजनैस्त्रिभिरुपर्यभ्रे कुजान्मंडलं,
तद्वद्गंतृ गतोऽर्धपल्यपरमायुष्कस्त्रिसूत्रीयुतः।
नीतस्तृप्तिमुदक् शमींधनभृतैर्माषैस्तिलैस्तंदुलैः
रालाज्यागुरुणेज्यसे श्रमणमुन्नैपालपूज्यः शने ॥३४॥

जो आधे कोश का चौड़ा है, जो मंगल के विमान से तीन योजन ऊपर आकाश में मंगल विमान की तरह ही विचरता है ऐसे विमान पर जो आरूढ़ है जिसकी आधे पल्य की उत्कृष्ट आयु है, जो जनेऊ का धारी है और नेपाल देशवासियों से पूजा जाता है तथा जो श्रमण कहिये बौद्ध साधु में प्रीति रखता है ऐसा शने, तू शमी की लकड़ी से पकाये उड़द तिल तन्दुलों से तृप्त होने वाला तुझे उत्तर दिशा में राल घृत अगुरु से पूजता हूँ।

त्यक्त्वारिष्टदरोनयोजनततस्वव्योमयानध्वजं,
चत्वारि व्रजदंगुलान्यहरहः षष्ठे च मास्यैंदवम्।
बिंबं छादयिता तदंशुनिवहै राहो द्विजार्चामहो,
दूर्वापिष्टपयोघृताक्तजतुधूपेनेशदिश्यर्च्यसे ॥३५॥

श्याम मणि का वना, कुछ कम एक योजन का चौड़ा ऐसे अपने (राहु के) विमान की ध्वजा को चार अंगुल छोड़कर चलनेवाले चन्द्रबिंब को अपने उस विमान की श्याम किरण समूह से जो प्रतिदिन और छठवें मास में ढकनेवाला है और ब्राह्मण को पूजने से जिसे आनन्द होता है ऐसा हे राहो तुझे ईशानदिशा में दूब की अग्नि से पकाये आटे दूध व घृत मिली लाख की धूप से पूजता हूँ। (यह राहु के द्वारा नित्य और छह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मास में चन्द्रमा को ढकना कहा है वह नित्य राहु और पर्वराहु दोनों राहुओं की अपेक्षा से कहा है)

षष्ठे षष्ठ उपेत्य मासि तपनस्यें दोस्तमोविंबवद्
विम्वाद् विंबमधश्चरन्मलिनयत्यंशूद्गगमैस्तद्वियत्
दर्शांतेऽधिवसन्निहोर्ध्व-दिशि तत्केतो सकुल्मापकं,
स्फूर्जत्केतुसहस्रदेहसकुशं विल्वाज्यधूपं भज ॥३६ ॥

सूर्य के विमान से नीचे चलनेवाला जो विमान छठवें छठवें मास में सूर्य के निकट आकर चन्द्र को आच्छादित करने वाले राहु की तरह अपनी निकलनेवाली किरणों से अमावास्या के अन्त में उस सूर्य विमान के आकाश को मलिन करता है ऐसे विमान पर आरूढ़ हे केतो, हे देदीप्यमान हजार ध्वजा रूप देह वाले, तू ऊर्ध्वदिशा में कुलथ व डाभ सहित घृत मिले विल्व की धूप को ग्रहण कर।

यह है नवग्रहों का वर्णन। इसमें सूर्यादि-विमानों की चौड़ाई, पृथ्वी से उनकी ऊँचाई, उनके वाहक देवों की संख्या रूप व सूर्यादिदेवों की आयु का प्रमाण वस ये ही कथन सिर्फ जैन शास्त्र सम्मत हैं शेष ऊल-जलूल कथन है और वह सव जैनधर्म से वाहर का है इनकी चर्चा अभी न करके पाठकों का ध्यान मैं दो बातों पर ले जाना चाहता हूँ। एक तो यह है कि—ज्योतिष्क देवों का वर्णन प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र और उसके अनेकों भाष्यों व त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति आदि इस विषय के शास्त्रों में पाया जाता है। वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे ऐसे ५ प्रकार के ज्योतिषी देव लिखे हैं जिनमें सूर्य चन्द्रमा से ग्रहों का भेद अलग किया गया है और ग्रहों की संख्या ८८ लिखी है न कि ९। और उन ८८ में भी कहीं भी चन्द्र सूर्य का नाम नहीं है। चन्द्र सूर्य तो जैनागम के अनुसार तमाम ज्योतिषी देवों के इन्द्र प्रतींद्र होते हैं भला इनकी गणना निम्नश्रेणीके ग्रहों में कैसे हो सकती है। सच तो यह है कि "नवग्रह" यह संज्ञा ही जैनधर्म की नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरी बात यह है कि—ऊपर लिखे श्लोकों से यह जाहिर होता है कि—जो कोई इन ग्रहों से इष्ट वस्तु की प्राप्ति चाहे तो वह पहिले तापसी, कापालिक, पाशुपत आदि अन्यमत के साधुओं की सेवा पूजा करके उन्हें प्रसन्न कर लेवे तब ये ग्रह उसे वर दे सकते हैं। बिना ऐसा किये बाला-बाला खाली ग्रहों की ही पूजा कर लेने मात्र से ये ग्रह वर देने वाले नहीं हैं। आशाधरजी का यह अभिप्राय इसी अध्यायके श्लोक २४ से और भी अच्छी तरह स्पष्ट होता है। देखिये

प्रारब्धाः फणियक्षभूतक्रतुभिर्देहार्तिवित्तक्षति-
स्थानभ्रंशरसाद्यसाम्यविपदस्तत्कल्पना कल्पतः।
येष्विष्टेषु च तापसादिषु शमं यांत्याशयित्वार्चिते-
ष्वातन्वंतु गुरुप्रसाद वरदास्तेऽर्कादयो वः शिवम् ॥२४॥

जिन ग्रहों को उनकी स्थापना विधि से पूजने पर और तापस कापालिक आदि साधुओं को भोजन जिमाकर उनको पूजने पर नाग यक्ष भूत राक्षस से उत्पन्न हुई क्रम से देह पीड़ा, धनक्षय, स्थानभ्रष्टता और रसादि धातुओं की विषमता ये विपदायें शांति को प्राप्त होती हैं, ऐसे सूर्यादिग्रह उन तापसादिसाधुओं के प्रसाद से वर देने वाले हैं। वे तुम्हारा कल्याण करें। इस श्लोक के "तापसादि" वाक्य में आये आदि शब्द से शेष साधुओं के कापालिक, पाशुपत आदि नाम ग्रहों के वर्णन में आगे स्वयं आशाधरजी ने लिख दिये हैं इसलिये इसका खैंचतान कर दूसरा तात्पर्य हो ही नहीं सकता है।

आशाधरजी का यह वर्णन कितना अनर्थ पूर्ण है, यह सरासर कुगुरु पूजा का प्रतिपादक है इससे अतिरिक्त मिथ्यात्व पोषक कथन अन्य क्या होगा? जिस प्रकार आशाधर जी ने यक्ष यक्षी आदि रागीद्वेषी देव देवियों की आराधना अव्युत्पन्न सम्यग्दृष्टियों के वास्ते विधेय करार दी है, उसी प्रकार यह कुगुरु आराधना भी शायद उसी अपेक्षा से लिख दी हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ भी हो विषय गंभीरता से विचारणीय अवश्य है। आशाधरजी की ही कृतियों से ऊब कर पहिले ही नरेन्द्रसेन ने इनको अपने गच्छ से निकाल दिया था ऐसा उल्लेख मिलता है। 'देखो 'भट्टारक संप्रदाय, पृ० २५२, तथा प्रस्तावना पृष्ठ २१।

शब्द शास्त्र के अनुसार इन श्लोकों का जो अर्थ निकलता है वह यहाँ प्रकट किया गया है। यदि इनका अन्य गूढ़ अभिप्राय हो तो विद्वज्जन प्रकट करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण का भिक्षा-धर्म

गृहस्थ भोजन देकर साधु पर कोई एहसान नहीं करता। शरीर के लिए मधुकरी वृत्ति से साधु जितना भोजन लेता है उसके बदले में अनेक गुना समाज को लौटा देता है। पैदल गांव-गांव में विहार कर और सरदी, गरमी, भूख, प्यास आदि के कष्टों को उठाता हुआ जनता में जिस लगन के साथ अहर्निश धर्म का प्रचार करता है और उपदेश देकर ज्ञानामृत पिलाता है वैसा अन्य कोई बड़े से बड़ा वेतन लेकर भी नहीं कर सकता है। यह साधु का महान् उपकार है। ऐसे सद्गुरुओं के चरणारविन्दों में शतशः प्रणाम है।

मनुष्य का जन्म होते ही उसे जीवित रहने के लिए खुराक की आवश्यकता भी साथ ही पैदा हो जाती है। किंतु नवजात शिशु उस वक्त इतना असमर्थ और निर्बल होता है कि वह अपनी खुराक आप कहीं से प्राप्त नहीं कर सकता है। उस वक्त प्रकृति उसका साथ देकर उसकी माता के स्तनों में दूध पैदा करती है उससे उसका पोषण होने लगता है। खुराक की यह आवश्यकता मानव के जीवन के प्रारम्भ में ही नहीं अंत तक चलती है। इसे ही जैनधर्म में आहार संज्ञा बताई है। यह इतनी अनिवार्य है कि मुनिदीक्षा लेते वक्त चाहे अन्य सबका परित्याग कर दे पर इसका त्याग नहीं किया जा सकता है। कहा भी है कि—"अन्नं वै प्राणाः" अन्न ही मनुष्य के प्राण हैं। तथापि जैन साधु के लिए जैनधर्म में इसके संबंध में भी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी है। किन्तु कई एक नियमों का प्रतिबन्ध रक्खा है। जिसका विशद वर्णन जैनों के आचार शास्त्रों में लिखा मिलता है। उन नियमों का खास ध्येय यह है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कायो न केवलमयं परितापनीयो,
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः ।
चित्तेन्द्रियाणि न चरंति यथोत्पथेन,
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम् ॥

अर्थ—अनशनादि तपों से न तो शरीर को एक-मात्र इतना सुखा देना चाहिए कि जिस से वह इतना अशक्त और निकम्मा हो जाये कि ध्यान स्वाध्यायादि आवश्यक कार्य भी न कर सके। और न स्वादिष्ट भोजनों से इस शरीर को इतना परिपुष्ट और सुखिया ही बनाना चाहिए कि जिससे वह संयम के पालन में अवहेलना करने लगे एवं परीषह सहने में कातर बन जावे। जैनधर्म में तो वही तप सराहनीय बताया है जिससे इंद्रियाँ और मन अपने काबू में रहें।। वे उन्मार्ग में न जा सकें।

यह माना कि आहार का ग्रहण साधु के लिए अनिवार्य है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह इस दिशा में बिल्कुल स्वच्छंद बन जावे। उसकी दृष्टि यह होनी चाहिये कि—वह संयम की साधना के उद्देश्य से इस काया को आहार देता है वह रसना इंद्रिय की तृप्ति व शरीर को पुष्ट कर उसकी सुन्दरता की कामना से आहार नहीं करता है। आहार का त्याग मानव के लिये अशक्य है, किन्तु उसकी लम्पटता का त्याग तो साधु के लिये अशक्य नहीं है। अगर लंपटता भी नहीं छूटी तो वह साधु ही क्या हुआ। वह तो स्वादु हुआ। ऐसों ही को लक्ष्य में रखकर एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मूँड मुँडाये तीन गुण शिर की मिटती खाज।
खाने को लड्डू मिलै लोग कहे महाराज ॥

आहार की लम्पटता का त्याग ही तो तप है। और तप के अर्थ ही दीक्षा ग्रहण की जाती है। सूत्रकार ने "तपसा निर्जरा च" इस सूत्र में बताया है कि—तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा तथा संवर दोनों होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और "इच्छानिरोधस्तपः" इच्छाओंका रोकना ऐसा तप का लक्षण कहा है। यह निर्विवाद है कि—तपस्वी जीवन में सबसे पहिला काम है इच्छाओं का दमन करना। उनमें भी भोजन की लंपटता पर दमन करना तो साधु के लिये एक मुख्य चीज है। अगर ऐसा भी न कर सका तो उसे नाम मात्र का साधु कहना चाहिये। वह अभी मुनि जीवन की प्रथम सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ पाया है। साधु के लिए भोजन की गृद्धता एक बड़ा दुर्गुण है और इसी से जैन शास्त्रों में १२ प्रकार के तपों में प्रथम नाम अनशन तप का गिनाया है। प्राचीन महर्षियों ने जिह्वा लंपटता में बहुत दोष बताये हैं। यथा—

होई णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरित्तं।
अमिस कलिणा छइओ छायं मइलेइ य कुलस्स॥

अर्थ—आहार का लोलुपी पुरुष निर्लज्ज हो जाता है। वह यह भी नहीं देखता कि मेरा पदस्थ क्या है? वह तो तपश्चरण, ज्ञानाभ्यास, दर्शन चारित्र सबको छोड़ भोजन में पड़ता है। यहाँ तक कि मांस, उच्छिष्ट, अभक्ष्यभक्षण में भी आसक्त हो उत्तम कुल की कांति को मलिन करता है।

अवधिट्ठाणं णिरयं मच्छा आहारहेदु गच्छंति।
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसित्थोवि॥

अर्थ—स्वयंभूरमण समुद्र का महामच्छ जीवों का भक्षण करने से सातवें नरक में जाता है। किन्तु सालिसिक्थ नाम का एक बहुत छोटा सा मत्स्य जो उस महामच्छ के कान में रहता है जिसमें किसी जीव के भक्षण करने की सामर्थ्य नहीं है वह वहाँ बैठा-बैठा ही खाली जीवों के खाने की लालसा किया करता है इसी से वह भी उसी सातवें नरक में जाता है।

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो।
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो सो गओ णिरयं॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—सुभौमचक्रवर्ती जिसकी कथा पुराणों में आती है। उसका एक वैरी देव उसे मारने को भेष बदल कर आया और उसको स्वादिष्ट फल चखाये। उन फलों को खाने की लालसा से ठगाया जाकर वह सुभौम उस देव के साथ हो गया और समुद्र मार्ग से जाता हुआ वह सपरिवार उस देव के द्वारा मारा जाकर नरक में गया।

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भुंजंतयस्स आहारं।
तित्तीए विणा चित्तं उच्छूरं उद्धुदं होइ॥

अर्थ—अनादि काल से आहार करते रहने पर भी इस जीव के तृप्ति नहीं हुई है और तृप्ति के विना चित्त में उद्वेग ही रहा है। वल्कि क्षुधा वेदना से आहार की चाह वढ़ती रही है। यह सुधा तो वेदनीय कर्म के नाश से मिटेगी, आहार से नहीं।

अच्छिणिमेसण मित्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुहं॥

अर्थ—आहार के आस्वादन से उत्पन्न होने वाले सुख का काल नेत्र के टिमकारने मात्र है। ज्यो-ज्यों ग्रास से रस निकलता जाता है त्यों-त्यों यह गृद्धता से उसे जल्दी-जल्दी निगलने लगता है। गृद्धता के विना स्वाद का सुख नहीं और यह गृद्धता ही सब अनर्थों की मूल है।

अतः साधु के लिये आहार लेने में दोष नहीं है। किन्तु आहार की लोलुपता रखने में दोष है। लेकिन कभी कुछ कारण ऐसे भी आ उपस्थित होते हैं जिनकी वजह से साधु को आहार मात्र ही का त्याग करना पड़ता है। शास्त्रों में आहार त्यागने के निम्नलिखित छह कारण बताये हैं।

१. शरीर में ऐसी व्याधि पैदा हो जाने पर कि जिससे संयम न पल सके।

२. प्राण घातक उपसर्ग आ जाने पर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. इंद्रियों का दर्प और काम वासना की उत्कटता को रोकने के लिए।

४. मार्ग में प्रचुर जीव जन्तुओं का संचार हो जाने से उनका बचाव न हो सकने पर।

५. तपश्चरण के अभ्यास के लिए।

६. संन्यास की सिद्धि के अर्थ।

साधु को अपने से ममता नहीं है। इसलिए वह शरीर को बनाये रखने के लिए आहार नहीं लेता है। किन्तु उसे संयम द्वारा अपनी आत्मा को इस दुःखमय संसार से निकालना है। उस संयम की साधना शरीर के बिना नहीं हो सकती है इसलिये वह इस जड़ शरीर की आहारादि से सँभाल करता है। किन्तु साधु अपने शरीर की परवाह तभी तक करता है जब तक कि शरीर से उसका संयम पलता रहता है। जब कभी ऐसा अवसर आ जाय कि शरीर जाता है पर संयम रहता है तब वह संयम को ही रखने का उद्यम करेगा, शरीर भले ही जावे तो जावो। साधु को तो संयम ही अधिक प्यारा है। शरीर से तो उसका इतना ही सरोकार है कि—जैसे रोगी घाव पर बाँधने की पट्टी से प्रीति न होते भी उसकी सँभाल करता है क्योंकि वह घाव को मेटने में सहायक है। उसी तरह साधु की शरीर से प्रीति न होते हुए भी संयम में सहायक होने के कारण वह उसकी सार-संभाल करता है। साधु को अपने शरीर की सुन्दरता-असुन्दरता से भी कोई प्रयोजन नहीं है। उसे तो संयम के साधनार्थ किसी तरह इस शरीर को टिकाये रखने के लिये आहार मात्र देना है। व आहार रूखा-सूखा नीरस कैसा भी हो। हाँ इस सम्बन्ध में भी वह इतना विचार जरूर रखता है कि आहार शुद्ध और प्रासुक हो तथा देने वाले ने साधु के लिये न बनाया हो। किन्तु अपने ही वास्ते बनाया हो साथ ही वह साधु को आदर और मान के साथ भक्ति-पूर्वक देता हो एवं दाता को किसी तरह की बाधा न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहुँचती हो ऐसा आहार साधु के लिये ग्रहणयोग्य माना है। जैनशास्त्रों में साधु की भिक्षावृत्ति के संबंध में पांच उदाहरण बताये हैं। वे ऐसे कि—

१—जैसे उद्यान में घास चरने वाली गाय का ध्यान घास पर रहता है। उद्यान की शोभा पर नहीं उसी तरह भिक्षार्थ दाता के घर पर जाने वाले साधु की दृष्टि केवल भिक्षाप्राप्ति की ओर रहती है। उसे दाता के घर, स्त्री, सामान आदि की मनोज्ञता अमनोज्ञता से कोई प्रयोजन नहीं है। इसे गोचरीवृत्ति कहते हैं।

२—जैसे व्यापारी मालको ढोने के लिए गाड़ी को घृतादि से वांगता है। उसी तरह साधु गुणों की भरी आत्मा को मोक्षपुरी में ले चलने के लिए गाड़ीरूप शरीर को वांग की माफिक आहार देता है। इसे अक्षम्रक्षण-वृत्ति कहते हैं।

३—जैसे भण्डार में आग लग जाने पर उसे जैसे-तैसे बुझाकर भंडार के माल की रक्षा की जाती है। उसी तरह उदर में लगी क्षुधारूप आग को साधु रस नीरस रूखा-सूखा भोजन जैसा भी मिले उससे बुझाता है। इसे उदराग्नि प्रशमनवृत्ति कहते हैं।

४—जैसे घर में गढ्ढा होने पर उसे कूड़ा कचरा मिट्टी आदि से किसी भी तरह भर कर बराबर कर दिया जाता है उसी तरह साधु उदररूप गड्ढे को रूखा-सूखा कैसे भी आहार से भरता है। इसे गर्तपूरण-वृत्ति कहते हैं।

५—जैसे भ्रमर बगीचे के अनेक सुगंधित फूलों की गन्ध लेता हुआ फूलों को रंचमात्र भी खराब नहीं करता है उसी तरह साधु भोजन ग्रहण करता हुआ दाता को किंचित्मात्र भी बाधा नहीं पहुँचाता है उसे भ्रामरीवृत्ति कहते हैं।

इस प्रकार प्रशंसनीयवृत्ति से आहार ग्रहण करने वाला साधु उस आहार से भी अपना उदर इतना पूरा नहीं भरता है, जिससे आलस्य पैदा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर अपने ध्यान स्वाध्याय में बाधा पैदा हो जावे। वह उदर के चार भागों में दो भाग तो भोजन से भरता है। एक भाग जल से भरता और एक भाग खाली रखता है। इस विधि से आहार करने वाले साधु के उदर संबन्धी व्याधि पैदा नहीं होती, शरीर में भारीपन नहीं आता और अपने दैनिकधर्म कृत्यों में जी लगा रहता है।

जैन के साधु महाव्रती होते हैं। भोजन के तैयार करने में आरंभादि से षट्काय के जीवों की विराधना हुए बिना नहीं रह सकती। अतएव जैनसाधु कदाचित् भी अपने हाथ से भोजन नहीं बनाते हैं। वह भी गृहस्थी के यहाँ से पाते हैं। वह भी गृहस्थी खुद अपने वास्ते बनाकर उसमें से साधुओं को देता है तो साधु ग्रहण करते हैं। अगर साधुओं को यह मालूम हो जाये कि दाता ने यह आहार हमारे वास्ते बनाया है तो वे कदापि उस आहार को ग्रहण नहीं करते हैं। ऐसा करने से साधु के उद्दिष्ट-दोष नहीं लगता है।

आहार देने वाला श्रावक भी साधु को याचक समझ कर आहार नहीं देता है। किन्तु पूज्य गुरुदेव मानकर बड़े ही सम्मान के साथ आहार देता है और आहार देकर अपना धन्यभाग समझता है। साधु भी ऐसी भावना श्रावक की नजर आने पर ही उसके यहाँ से आहार ग्रहण करते हैं। इस रवैये से साधु श्रावक के लिए भाररूप नहीं बनता है। श्रावक आहार देकर साधु पर कोई एहसान करता हो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि साधु श्रावक से आहारादि रूप से जो कुछ पाता है उससे कई गुणा बदला वह वापस चुका देता है। आहारदान से दाता को विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है। उसके फल से जन्मान्तर में वह भोगभूमि के उत्तम सुख भोगता है। यह तो परोक्ष फल की बात हुई इसे छोड़िये। प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि—साधु केवल आहार मात्र लेकर पैदल गाँव-गाँव में घूम-फिर कर और सरदी-गरमी भूख-प्यास आदि अनेक कष्टों को उठाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ जनता में जिस लगन के साथ अहर्निश धर्म का प्रचार करता है और उपदेश देकर ज्ञानामृत पिलाता है वैसा अन्य कोई बड़ा से बड़ा वेतन लेकर भी नहीं कर सकता है। क्या यह साधु का प्रत्यक्ष में कोई महान् उपकार नहीं है। साथ ही अपनी वीतराग संयमपूर्ण चर्या से एक महान् आदर्श उपस्थित करके वे साधुगण लोगोंको संयम की ओर आकर्षित भी करते हैं। ऐसे सद्गुरुओं के चरणारविंदों में हमारा शतशः प्रणाम है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंगलोत्तमशरण-पाठ

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥*

यह जैनसंस्कृति का अति प्रसिद्ध मूलमन्त्र है। यह नमस्कार महामंत्र, अपराजित मंत्र, ओंकार, प्रणव (प्रणम) मंत्र, पंचपरमेष्ठी मन्त्र—आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

यह एक ही मंत्र सब सम्पदाओं—अभ्युदय एवं निश्रेयस का दाता है। इसमें का एक प्रारम्भिक 'अर्हम्, पद ही ऐसा है कि उसमें अकार से लेकर हकार तक सब स्वर और व्यंजन आ जाते हैं। अनेक नवीन-नवीन मन्त्रों का जो निर्माण हुआ है, वे सब इसीके रूपान्तर हैं, अतः नवीन-नवीन मन्त्रों को सिद्ध करने के झमेले में न पड़कर एकाग्रमन से एक मात्र इसी का सदैव आराधन करना चाहिए। इस मन्त्र के विषय में बताया है कि—

†एसो पंचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ॥१३॥

—'मूलाचार, अधिकार ७'

---

* काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
आइरियउवज्झाये लोगम्मि य सव्वसाहूणं ॥१॥

—'मूलाचार, अधिकार ७'

† अपराजितमंत्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—यह पंचनमस्कार मन्त्र सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में प्रथम मंगल है। श्वे० संप्रदाय में इस गाथा के पद और नमस्कार मन्त्र के ५ पदों को मिलाकर ९ पद वाला नवकारमंत्र भी माना है।

गुरुपंचनमस्कारलक्षणं मंत्रमूर्जितम्।
विचिन्तयेज्जगज्जंतुपवित्रीकरणक्षमम् ॥३८॥
श्रियमात्यंतिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन।
अमुमेव महामंत्रं ते समाराध्य केवलम् ॥४१॥
प्रभावमस्य निश्शेषं योगिनामप्यगोचरम्।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलार्दितः ॥४२॥
अनेनैव विशुद्ध्यंति जन्तवः पापपंकिताः।
अनेनैव विमुच्यंते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥४३॥
असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसनबांधवः।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्कृपाकरः ॥४४॥
—ज्ञानार्णव, (शुभचन्द्र कृत) अध्याय ३८।

अर्थ—यह पंचनमस्कार मंत्र सर्वोत्कृष्ट है और संसारके प्राणियों को पवित्र करने में समर्थ है अतः इसका ध्यान करना चाहिए। ३८। जिन ऋषियों ने मोक्ष प्राप्त किया है वह सिर्फ इस मन्त्र का आराधन करके ही प्राप्त किया है। ४१। इसका प्रभाव योगियों के भी अगोचर है। अज्ञानीजन जो इसके विषय में कुछ भी कहने का दावा करते हैं वह पागल का प्रलाप समझना चाहिए।४२। एकमात्र इसी के द्वारा पापी अपने पापों से शुद्ध होते हैं और इसी के द्वारा ज्ञानी संसार के दुःखों से विमुक्त होते हैं।४३। इस संसार में भव्यजीवों का संकट में यही एक बन्धु है इसको छोड़कर संसारी प्राणियों का और कोई सहायक नहीं है।४४।

इस पंचनमस्कार महामन्त्र के साथ—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहु सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥

यह 'चत्तारिदंडक पाठ' भी बोला जाता है । इस मंगलोत्तम शरण पाठका सम्बन्ध नमस्कार मंत्र के साथ शुरू से ही बहुत प्राचीन समय से आज तक चला आ रहा है । नीचे एतद्पियक कुछ प्राचीन प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

(१) सामायिक दंडक (गौतम महर्षिकृत) में नमस्कार मंत्र मंगलोत्तमशरणपाठपूर्वक दिया हुआ है इस पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत प्राचीन संस्कृत टीका भी है । देखो "क्रियाकलाप" पृ० १४२ से १४५ ।

(२) पाक्षिकादिप्रतिक्रमण (गौतम कृत) देखो 'क्रियाकलाप पृ० १०५—

इच्छामि भंते ! पडिक्कमणमिदं सुत्तस्स मूलपदाणं उत्तरपदाणमच्चासणदाए तं जहा—णमोक्कारपदे अरहंतपदे सिद्धपदे आइरियपदे उवज्झायपदे, साहुपदे मंगलपदे, लोगोत्तमपदे सरणपदे····अंगंगेसु पुव्वंगेसु पाहुडेसु····से अक्खरहीणं वा पदहीणं वा सरहीणं वा वंजणहीणं वा अत्थहीणं वा····तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

इसमें नमस्कार मन्त्र को मंगलोत्तमशरणपाठ पूर्वक उल्लेखित किया है और अंग पूर्वांग पाहुडादि से पूर्व स्थान दिया है इससे इसकी महत्ता और अतिप्राचीनता का परिचय मिलता है ।

(३) भावपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) (षट् पाहुड,—श्रुतसागरी टीकायुक्त पृ० २७३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झायहि पंच वि गुरवे चउमंगलसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेचरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२२॥

टीका—ध्याय त्वं हे मुने ! पंचापि गुरून् पंचपरमेष्ठिनः चतुःमंगल-लोकोत्तमशरणभूतानित्यर्थः ।

(४) पउमचरिय (विमलसूरि कृत) पर्व ८६

इणमो अरहंताणं सिद्धाण णमो सिवं उवगयाणं ।
आयरियउवज्झायाणं णमो सया सव्वसाहूणं ॥६३॥
अरहंतो सिद्धो वि य साहू तह केवलीण धम्मो य ।
एए हवंति नियय, चत्तारि वि मंगलं मज्झं ॥६४॥
जावइया अरहंता माणुसखित्तादि होंति जयनाहा ।
तिविहेण पणमिऊणं ताणं सरणं पवण्णोऽहं ॥६५॥

पर्व ४८—अरहंतसिद्धसाहूधम्मो तुह मंगलं होउ ॥१०७॥

(५) पद्मचरित (रविषेणाचार्य कृत) पर्व ८९

अर्हद्भ्योऽथ विमुक्तेभ्य आचार्येभ्यस्तथा त्रिधा ।
उपाध्याग्रगुरुभ्यश्च साधुभ्यश्च नमो नमः ॥१०४॥
अर्हन्तोऽथ विमुक्ताश्च साधवः केवलीरितः ।
धर्मश्च मंगलं शश्वदुत्तमं मे चतुष्टयम् ॥१०५॥

पर्व ४८—अर्हन्तो मंगलं संतु तव सिद्धाश्च मंगलम् ।
मंगलं साधवः सर्वे मंगलं जिनशासनम् ॥२१२॥

(६) वरांगचरितं (जटासिंहनंदि कृत) सर्ग १५

शरणोत्तममांगल्यं नमस्कारपुरस्सरम् ।
व्रतवृद्ध्यै हृदि ध्येयं संध्ययोरुभयोः सदा ॥१२१॥

(७) हरिवंशपुराण (जिनसेनाचार्यकृत) सर्ग २२

पुण्यपंचनमस्कारपदपाठपवित्रितौ ।
चतुरुत्तममांगल्यशरणप्रतिपादिनौ ॥२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८) महापुराण (जिनसेनाचार्यकृत) पर्व २५

चतुःशरणमांगल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः ।
पंचब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥७७॥

(९) अनेकार्थनाममाला (धनंजय कृत)

अर्हत्सिद्धमिति द्वावप्यर्हत्सिद्धाभिधायिनौ ।
अर्हदादीनपि प्राहुः शरणोत्तममंगलान् ॥४६॥

(१०) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य कृत) अध्याय ३८

गुरुपंचनमस्कारलक्षणं मंत्रमूर्जितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥३८॥
मंगलशरणोत्तमपदनिकुरंबं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥५७॥

(११) सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति कृत) अध्याय ३१

नमस्कारादिकं ध्येयं शरणोत्तममंगलम् ।
संध्यानत्रितये शश्वदेकाग्रकृतचेतसा ॥८०५॥

(१२) चारित्रसार (चामुंडराय कृत) के प्रारम्भ में

अरिहननरजोहननरहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम् ।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमंगलाय,
लोकोत्तमाय शरणाय विनेयजंतोः ।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं,
स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि ॥

(१३) सागारधर्मामृत (आशाधर कृत) अध्याय २

जिनानिव यजन्सिद्धान् साधून् धर्मं च नंदति ।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मंगलं च यत् ॥४२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१४) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय ५

ये मंगललोकोत्तमशरणात्मानः समृद्धमहिमानः ।
पांतु जगंत्यर्हत्सिद्धसाधुकेवल्युपज्ञधर्मास्ते ॥९॥

(१५) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय २

तेऽमी पंच जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्सिद्धांतदिक्साधवो
मांगल्यं भुवनोत्तमाश्च शरणं तद्वज्जिनोक्तो वृषः ।
अस्माभिः परिपूज्य भक्तिभरतः पूर्णार्घ्यमापादिताः
संघस्य क्षितिपस्य देशपुरयोरप्यासतां शांतये ॥२१॥

इन सब प्रमाणों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि—नमस्कार-मन्त्र के साथ प्राचीन समय से ही चत्तारि मंगलोत्तम शरण पाठ प्रचलित रहा है। इस तथ्य को किस खूबी के साथ प्रत्येक प्रमाण में ग्रथित किया गया है यह इन प्रमाणों को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर प्रत्येक पाठक को स्वयं अनुभव हो जायगा।

इस विषय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अभिमत भी दिगम्बरवत् ही है इसके लिए ग्रन्थाभाव से सिर्फ एक ही प्रमाण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

(१) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य कृत) प्रकाश ८

तथा पुण्यतमं मन्त्रं जगत्त्रितयपावनम् ।
योगी पंचपरमेष्ठिनमस्कारं विचिन्तयेत् ॥३२॥
मंगलोत्तमशरणपदान्यव्यग्रमानसः ।
चतुःसमाश्रयाण्येव स्मरन्मोक्षं प्रपद्यते ॥४२॥

नोट—श्लोक ४२ की स्वोपज्ञटीका में पूरा और शुद्ध चत्तारिदण्डक पाठ दिया हुआ है जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं।

अब इस पाठ के कुछ पदों पर नीचे किंचित् ज्ञातव्य प्रस्तुत किया जाता है :—

१. आइरियाणं की जगह आयरियाणं, लोगुत्तमा की जगह लोगोत्तमा और पव्वज्जामि की जगह पवज्जामि पाठ भी पाया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. 'साहु, एकवचन है' और 'साहू' बहुवचन है (प्राकृत में.) ।

३. चत्तारि सरणं पवज्जामि····में पवज्जामि का संस्कृत रूपान्तर प्रायः विद्वान् 'प्रपद्ये' करते हैं* और अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

मैं चारों की शरण को प्राप्त होता हूँ—चारों की शरण अंगीकार करता हूँ किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपनी संस्कृत टीका में इसका अर्थ इस प्रकार किया है :—

अर्हदादीन् चतुरः शरणं प्रव्रजामि । इसमें 'पव्वज्जामि' का अर्थ 'प्रपद्ये' न करके 'प्रव्रजामि' किया है । गमनार्थक 'व्रज' धातु से पहिले उत्कृष्टार्थक 'प्र' उपसर्ग लगाकर सम्भवतः यह द्योतित किया गया है कि—अन्य सबकी शरण में जाना छोड़कर इन चारों की ही शरण में जाता हूँ । वैसे 'प्रव्रजन' का अर्थ संन्यास, दीक्षा होता है । किन्तु प्राकृत में गमन और संन्यास दोनों होते हैं देखो 'प्राकृत शब्द महार्णव' और 'जैनागमशब्द-संग्रह' में—पव्वज्जा (प्रव्रज्या) तथा पव्वय (प्रव्रज) शब्द ।

* (आदिपुराण पर्व ४० श्लोक २७ में—
'शरणं प्रपद्यामि, प्रयोग है अतः पव्वज्जामि का 'प्रपद्यामि' संस्कृत रूप भी होता है ।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधिमरण : जीवन सुधार की कुंजी

काय और कषायों को कृश करते हुए शांत भावोंसे शरीरके त्याग को समाधिमरण कहते हैं। सल्लेखना, संन्यास मरण, अन्त्यविधि, पंडित मरण, अंतक्रिया, मृत्यु-महोत्सव, आर्याणां महाक्रतुः आदि सब इसी के नाम हैं। समाधिमरण धारण करनेवाले को—साधक, क्षपक, प्रेयार्थी आदि कहते हैं।

अनेकों अपराध करने पर भी अंत में मनुष्य क्षमा मांगने पर जैसे अपराधों से मुक्त हो जाता है, उसी तरह जीवन भर पापारंभ करनेवाला भी अगर अन्त समय में समाधि धारण कर लेता है तो अवश्य सुगति का पात्र होता है। 'अन्त भला सो भला' की इस बात को जैन ही नहीं जैनेतर संप्रदायों में भी महत्त्व दिया गया है—वैदिक पुराणों में अनेक ऐसे आख्यान आते हैं जिनमें अन्त समय में नारायण का नाम लेनेवाले पापी भी वैकुंठगामी हुए हैं। अजामील ने सारी जिन्दगी पापकर्म में बिताई परन्तु अन्त समय में नारायण का नाम लेने से वह वैकुण्ठवासी हुआ। इसी बात को जैन कथाकारों ने भी दूसरे शब्दों में चित्रित किया है। जीवन्धरकुमार ने मरणासन्न कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया तथा तीर्थंकर पार्श्वप्रभु ने अग्नि में जलते हुए दो सर्पों को नमस्कार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से ये तिर्यंच जीव भी देवगति को प्राप्त हुए। महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद अपना कार्य पूरा हुआ जानकर सहर्ष मृत्यु का स्वागत करने वाले भीष्म पितामह की 'इच्छा मृत्यु' (इच्छा पूर्वक मरण) भी जैन सल्लेखना से मिलती हुई है।

सारी जिन्दगी जप तप करने पर भी अगर मृत्यु समय समाधि धारण न की जावे तो सारा जप तप उसी तरह वृथा होता है जिस तरह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यार्थी पूरे वर्ष भर पाठ याद करे और परीक्षा के समय उसे भूल जाये या शस्त्राभ्यासी योद्धा रण क्षेत्र में जाकर कायर वन जाये या कोई दूर देशान्तर से धनोपार्जन करके लाये और उसे गाँव के समीप आकर लुटा वैठे। विना समाधिमरण के चारित्रवान् जीवन भी फलहीन वृक्षकी तरह निस्सार होता है। इसी को स्वामी समन्तभद्रने कितने सुन्दर शब्दों में कहा है—अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्मात् यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥ (रत्नकरंडश्रावकाचार) अर्थ—समस्त मतावलम्बी तपका फल अन्तक्रिया समाधिमरण पर ही आधारित वताते हैं अतः पुरुषार्थ भर समाधिमरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भारतीय संस्कृति में जो अन्तक्रिया पर इतना महत्त्व दिया गया है उसमें वैज्ञानिक रहस्य है, इससे भारतीय महर्षियों के आत्म-तत्त्व ज्ञान की पराकाष्ठा जानी जाती है। मृत्यु के समय अगर आत्मा कषायों से सचिक्कण (चीकनी) नहीं होती तो वह अनायास शरीर त्याग कर देती है और उसे मारणांतिक संक्लेश भी विशेष नहीं होता, उसका मानसिक संतुलन ठीक रहता है जिससे स्वेच्छानुसार सद्गति प्राप्त करने में वह समर्थ होती है, और जब सद्गति प्राप्त हो जाती है तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्म भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते, और अगर अन्त समय में परिणाम कलुषित हो जाते हैं तो दुर्गति प्राप्त होती है जिसमें पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों को भोगने का अवसर ही नहीं मिलता। इस तरह सारा काता पींदा कपास या गुड़ गोवर हो जाता है और दुर्गति की परम्परा वढ़ जाती है। इससे जाना जा सकता है कि समाधिमरण की जीवन में कितनी महत्ता है।

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥१६॥

—मृत्यु महोत्सव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(तपे हुए तप, पालन किए हुए व्रत और पढ़े हुए शास्त्रों का फल समाधिमरण में ही है—विना समाधिमरण के ये वृथा हैं।)

यहाँ यह शंका नहीं करना चाहिए कि—"जब समाधिमरण से ही सब कुछ होता है तो क्यों जप-तप-चारित्र की आफत मोल ली जाय, मरण समय समाधि ग्रहण कर लेंगे।" परन्तु ऐसा विचारना ठीक नहीं क्योंकि सारी जिन्दगी तप और चारित्र–काय तथा कषाय के कृश करने का अभ्यास इसी लिए किया जाता है कि अन्त समय में भी परिणाम निर्मल रहे और समाधि ग्रहण करने में सहूलियत रहे। संभवतः इसी लिए कुन्दकुन्द आचार्य ने सल्लेखना को शिक्षाव्रत में स्थान देने की दूरदर्शिता की है। समाधिमरण और तपःचारित्र में परस्पर कार्य-कारणरूपता है। जब उपसर्ग और अकाल मृत्यु का अवसर आ उपस्थित हो यथाः– सिंहादि क्रूर जन्तुओं का अचानक आक्रमण, सोते हुए घर में भयंकर अग्नि लग जाना, महावन में रास्ता भूल जाना, बीच समुद्र में तूफान से नाव डूबना, विषधर सर्प का काट खाना, आदि, तब पूर्वकृत चारित्र का अभ्यास ही काम आता है। सारी जिन्दगी चारित्र में बिताने वाला अगर अन्त समय में असावधान होकर अपने आत्मधर्म से विमुख हो जाये तो उसका दोष तपः चारित्र पर नहीं है यह तो उसके पुरुषार्थ की हीनता और अभ्यास की कमी है या बुद्धि विकार है—इसे ही तो "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" कहते हैं।

समाधिमरण का इच्छुक मृत्यु से भयभीत नहीं होता। वह अच्छी तरह समझता है कि मरण आत्मा का नाश नहीं है, मरण तो दूसरा जन्म धारण करने को कहते हैं। वह मृत्यु को महोत्सव समझता है, इसे आत्मा का शरीर के साथ विवाह समझता है; शरीर का शरीर के साथ विवाह तो लौकिक है वह इसे अलौकिक विवाह समझता है और इस तरह मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करता है। तेल हीन दीप और दग्धरज्जु तथा वृक्षके सूखे हुए पत्ते की तरह जीर्ण और शिथिल शरीररूपी नौकर को जब वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने चारित्र साधन के लिए अयोग्य समझता है तो उसे पेंशन देकर दूसरा योग्य नौकर (शरीर) का प्रबन्ध करता है। इतनी उदात्त भूमिका पर स्थित साधक कभी कायर नहीं हो सकता, वह तो परम शूर–आत्म विजयी मृत्युंजयी है।

आत्मघात (विष खाकर, तालाब कुँए आदि में डूबकर, स्वयं फांसी लगाकर या शस्त्रास्त्र से अपनी जीवन लीला समाप्त करना), सती प्रथा (मृत पति के साथ चिता में जल जाना), आमरण अनशन (अपनी किसी मांग की पूर्ति के लिए मरण पर्यन्त आहार त्याग करना), आदि समाधिमरण की कोटि में नहीं आ सकते। समाधिमरण और इनमें आकाश-पाताल, काच-हीरा, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, और ३, ६ के अंक की तरह महान् अन्तर है। ये कषायों की तीव्रता से, स्वार्थ की भावना से, और कलुषित हृदय से किए जाते हैं जब कि समाधिमरण शान्त परिणामों से विवेक पूर्वक बिना किसी वाञ्छा के किया जाता है।

दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरणं च बोहिलाओ य।
मम होउ जगद् वन्धव तव जिणवर चरण सरणेण ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनसंघ और जैनसंदेश

जैनसंघ

श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैनसंघ, मथुरा को कौन नहीं जानता, यह जैन समाज और जैनधर्म की अनुपम सेवा करनेवाली एक पुरानी यशस्वी कार्यशील संस्था है। इसका उदय सन् १९३० में 'श्री भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ' के नाम से हुआ था उस समय आर्यसमाज का बड़ा जोर था। आर्यसमाजी जैनों को हर कहीं शास्त्रार्थ का चैलेंज दे देते थे। आर्य-समाज के इन वितंडावादों का समुचित उत्तर देने के लिये शास्त्रार्थ संघ का उदय हुआ।

सन् १९३०–३१ में केकड़ी (अजमेर) में भी कुछ जैन युवकों ने "श्री अनेकांत प्रभाकर मंडल" की स्थापना की और उन्हीं दिनों वीरजयन्ती के अवसर पर इस आशय का एक पेम्पलेट छपवाकर वितरित किया :—

"भव्याः ! भविष्यति महोत्सव एक एव
वीरस्य केकड़ि पुरे प्रथिता जयन्ती।
संगीत नृत्य गुण गीत्युपदेश वाद्यो–
त्थार्हन्मत प्रभवनादि विधिर्विधेयः ॥

—जिस महानुभाव को जैनधर्म के विषय में किसी भी प्रकार की शंका हो पूछने पर सबका यथोचित युक्तिशास्त्र द्वारा संतोषजनक उत्तर दिया जायगा।"

जयंती के रोज शहर में विद्यार्थियों ने—मिथ्यामत विध्वंसक जैनधर्म और सर्वधर्म शिरोमणि जैनधर्म की जय के नारे भी लगाये। इस सब से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्यसमाजी चिढ़ उठे और स्वामी कर्मानन्द जी को शास्त्रार्थ के लिए अजमेर से ले आये। स्वामी जी ने समस्त जैन समाज को शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया, जिसे स्वीकार कर लिया गया।

शास्त्रार्थ के दो विषय चुने गए (१) क्या ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है? (२) क्या जैनशास्त्र सर्वज्ञ कथित हैं?

मंडल के मंत्री श्री सुवालालजी कटारिया थे और अध्यक्ष श्री कानमलजी कर्णावट (श्वे०)। मंत्रीजी ने पं० माणिकचन्द जी और पं० मक्खनलाल जी मोरेना आदि दि० जैन विद्वानों को आने के लिए पत्र दिये, सबने आनाकानी और बहानेबाजी की ही बातें कीं, किन्तु कोई आने को तैयार नहीं हुआ। सेठ लोगों के पास गए तो उन्हों ने भी निष्ठुरता का ही जवाब दिया कि—आप लोगों को समस्त जैन समाज के नाम से चैलेंज लेने का क्या अधिकार था आदि। किसीने इस संकट के समय किसी प्रकार का कोई आश्वासन तक नहीं दिया।

उधर अध्यक्ष जी ने अनेक श्वेतांबर श्रीमंतों को तथा न्यायविजय जी, पुण्यविजय जी, विद्याविजय जी, इन्द्रविजय जी आदि विजयांत नामधारी अनेक विद्वान् संवेगी साधुओं को एवं पंडितों को पत्र दिये किन्तु किसी की ओर से कुछ भी जवाब नहीं आया। इससे स्थानीय जैन समाज में गहरी चिन्ता व्याप्त हो गई।

उस समय शास्त्रार्थ संघ अम्बाला नया ही प्रकट हुआ था। जैन पत्रों में उसकी विज्ञप्ति देखकर उसे भी निराशभाव से योंही एक पत्र डाल दिया। पत्र का जवाब तत्काल आया—"घबराने की कोई जरूरत नहीं, हम तैयार हैं, तिथि से सूचित करें ताकि २–३ दिन पहिले आ जायें"। उत्तर पढ़कर सब लोगों को बड़ी खुशी हुई। इधर कुछ लोग सेठ चम्पालाल जी रामस्वरूप जी के यहाँ ब्यावर गए तो उन्होंने भी बड़े प्रेम से मुलाकात की और बोले–जब चैलेंज ले ही लिया तो घबराने की कोई बात नहीं है। अपने को नीची नहीं खानी है। विद्वानों को बुलाने आदि में जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी खर्चा हो वह हमारी केकड़ी दुकान से आप ले लें और उन्होंने दुकान के नाम चिट्ठी लिखकर दे दी।

शास्त्रार्थ संघ अम्बाला से सेठ शिव्वामल जी, पं० राजेन्द्रकुमार जी, वर्धमान जी शास्त्री, मंगलसेन जी, अजितकुमार जी आदि की मंडली आई, बैंड बाजे से शानदार स्वागत किया गया। संघ के विद्वान्, स्वामी कर्मानन्द जी से मिले और उनसे कहा—पहिले आपके दर्शनानन्द जी अजमेर में हमारे पंडित गोपालदास जी से परास्त हो चुके हैं फिर आप यह शास्त्रार्थ की बला मोल न लें। स्वामी जी बोले—उन्होंने विषय ही ऐसा ले लिया था मैंने जो विषय चुना है वह एकदम अनूठा है इसमें आप लोगों की कुछ नहीं चल सकेगी, मेरा विषय पुराणों का है दर्शनशास्त्रादि का नहीं। (सही बात यह थी कि—उन दिनों कर्मानन्द जी को बाबू सूरजभान जी जैन वकील कृत—आदिपुराण पद्मपुराण की समीक्षाएँ मिल गई थीं, यह सधा-सधाया मसाला था उसी के आधार से उन्होंने १–सीता किसकी पुत्री है, २–एक लाख योजन का हाथी, ३–दो कोस की जूं, ४–भोगभूमियों की विशाल शरीर-अवगाहना, ५–हनुमान जी का सूर्य मंडल को लात मारना, आदि प्रश्न तैयार कर लिए थे)

आखिर ६ दिन तक शास्त्रार्थ होना तय हुआ। शास्त्रार्थ के निम्न नियम निर्धारित किए गये :—

(१) कोई भी पक्ष आदर के शब्दों में ही प्रतिपक्ष के मान्यपुरुष का नाम लेवे, (२) कोई भी पक्ष अपने महापुरुषों की जय, शास्त्रार्थ की सीमा में नहीं बुलावे।

ज्येष्ठ मास में यह शास्त्रार्थ बड़ी ही शांति से हुआ। प्रतिदिन करीब ३–४ हजार के जनता इकट्ठी होती थी। लोग सांस खींचकर एकाग्रमन से कान लगाकर सुनने को बैठ जाते थे। सुई गिरने तक का शब्द मालूम पड़ जाये ऐसी निस्तब्धता रहती थी।

दोनों पक्षों के मंच कुछ दूरी पर अलग-अलग लगे हुए थे, दोनों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभापति अलग-अलग थे, दोनों के पास घड़ियाँ पड़ी थीं। प्रत्येक को बोलने के लिए १० मिनट तक का समय था।

आर्यसमाज की तरफ से रामचन्द्र देहलवी, लक्ष्मणानन्द आदि २–३ लम्बे सोटे वाले संन्यासी एवं कुछ अन्य विद्वान् आये थे। आर्यसमाज की ओर से ४ दिन कर्मानन्द जी बोले और २ दिन रामचन्द्र देहलवी बोले। जैन समाज की तरफ़ से छहों दिन पं० राजेन्द्रकुमार जी ही बोले। स्वामी कर्मानन्द जी बड़े ही ओजस्वी और मधुर वक्ता थे। इधर पं० राजेद्रकुमार जी भी कम नहीं थे। वे भी बड़े ही आत्मविश्वासी, प्रत्युत्पन्नमति और निर्भीक युवक वक्ता थे। सेठ शिब्बामल जी वृद्ध होते हुए भी बड़े उत्साही और फुर्तीबाज थे। शास्त्रार्थ के समय किसी ग्रंथ की जरूरत होते ही झट भागकर लाते थे, और जैन विद्वानों की युक्तियों से आर्य विद्वानों को निरुत्तर होते देखकर मारे खुशी के उनकी भुजाएँ फड़क उठती थीं। संघ के विद्वानों ने स्वामी कर्मानन्द जी को खूब छकाया और जैनधर्म की दुन्दुभी बजाई। अन्तिम उत्तर-पक्ष जैनों का था यह भी विजय में सहायक रहा।

संघ के आने से जैन समाज का गौरव बढ़ा और धर्म की काफी प्रभावना हुई। अगर संघ ऐन मौके पर न आता तो इधर के प्रांत में जैनधर्म की बहुत अवज्ञा होती। तभी से केकड़ी और आस-पास के ग्रामों में संघ के प्रति काफी श्रद्धा है, जो अब तक उसी तरह कायम है।

संघ का पहला शास्त्रार्थ केकड़ी में ही हुआ। उसके बाद तो अनेक मौखिक और लिखित शास्त्रार्थ हुए जिनकी संख्या करीब १५० होगी। ये सभी शास्त्रार्थ बड़ी शांति और सुव्यवस्था पूर्वक संपन्न हुए—यह कम महत्त्व की बात नहीं है। बहुत से लोगों को तो शास्त्रार्थ लड़ाई-झगड़े का दूसरा नाम प्रतीत होता है किन्तु इन झगड़ा कहे जाने वाले शास्त्रार्थों ने उस समय बहुत ही शांति और प्रेम की परिस्थापना की थी। अगर ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रार्थ न होते तो उल्टे अनेक झगड़े-टंटे बढ़ जाते और परस्पर हिंसा-द्वेष भभक उठता।

संघ ने, जैन समाज के दिल में जो परवादियों से शास्त्रार्थ करने में भय और संकोच घुस गया था उसे निकाल कर निर्भीकता प्रदान की और बहुत से जैन बन्धुओं की चलायमान धार्मिक आस्था का स्थितिकरण किया। जहाँ कहीं भी शास्त्रार्थ का मौका आया, संघ सदा तैयार रहा। दो-एक स्थानों पर आर्यसमाज ने केवल २४ घंटे का नोटिस देकर, शास्त्रार्थ के लिए जैन समाज को ललकारा। जैन समाज का तार आते ही शास्त्रार्थ-संघ २४ घंटे के भीतर ही वहाँ जा पहुँचा।

केकड़ी शास्त्रार्थ के चार वर्ष बाद ही सन् १९३५ दिसम्बर में स्वामी कर्मानन्द जी जैन हो गए। यह संघ की एक महान् विजय थी। शास्त्रार्थ संघ की एक निष्ठा और करारी चोटों से प्रतिपक्षी तिलमिला उठे। आर्य-सभा ने हार-थककर जैनों से शास्त्रार्थ नहीं करने का निश्चय कर लिया। यहाँ तक कि आर्यसमाजी बन्धुओं के आग्रह प्रेरणा करनेपर भी फिर आर्य-सभा, शास्त्रार्थ के लिये कभी तैयार नहीं हुई।

यह तो हुई अन्य मतवादियों के साथ शास्त्रार्थ की बात, किन्तु घर में भी शास्त्रार्थ संघ को पं० दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ से लोहा लेना पड़ा—उन दिनों पं० दरबारीलाल जी 'जैनजगत्' में 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक लेखमाला बड़े जोर-शोर से निकाल रहे थे। 'मर्म' के नाम से वे जैन सिद्धान्तों और आचारों की कड़ी आलोचना कर रहे थे। उनके लेखन कौशल, युक्ति और तर्कवाद ने अनेक बुद्धिवादियों को प्रभावित करना शुरू कर दिया था, कोई जैन पंडित उनकी धारा प्रवाह लेखनी का जवाब देने की अपने में हिम्मत नहीं पा रहा था—इसका कारण यह था कि पंडितों में दरबारीलाल जी जैसी चतुर्मुखी प्रतिभा नहीं थी। ज्यादा से ज्यादा पंडितगण दि० ग्रंथों के विशेषज्ञ थे, परन्तु दरबारीलाल जी का मुकाबिला करने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था, प्रत्युत श्वेताम्बर एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनेतर साहित्य के विशाल अध्ययन के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पारायणता की भी जरूरत थी। श्री० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थपरीक्षादि समीक्षात्मक लेख लिखनेवाले प्रकांड विद्वान् को भी इस विकट समस्या पर 'एक अमोघ उपाय' शीर्षक विस्तृत लेख पत्रों में लिखना पड़ा, जिसमें उन्होंने बतलाया कि—पं० दरबारीलाल जी की लेखनीका उत्तर देना हँसी खेल नहीं है, वह एक दो विद्वानों के बल-बूते का काम नहीं। इसके लिए तो सारे जैन विद्यालयों को ६ महीने के लिए बन्द कर एक जगह सब विद्वान् इकट्ठे होकर फिर उत्तर लिखें तो सिद्धि मिल सकती है अन्यथा नहीं····आदि। मुख्तार साहब के इस कथन से प्रमाणित होता है कि—दरबारीलालजी का पाण्डित्य कितना बढ़ा-चढ़ा था। मुख्तार साहब के अमोघ उपाय को अव्यावहारिक होने से जैन समाज ने नहीं अपनाया किन्तु दूसरा भी कोई मार्ग किसी को नहीं सूझ रहा था। इस विषय में जैन विद्वान् जितने ज्यादा अकर्मण्य और कायर बनते जा रहे थे उतने ही दरबारीलालजी के हौसले बढ़ते जा रहे थे। शास्त्रार्थसंघ ने इस भीषण स्थिति को परिलक्षित किया और सन् ३४ में 'जैनदर्शन' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। जिसमें पं० राजेन्द्रकुमारजी ने दरबारीलाल-जी के 'मर्म' का धारावाहिक रूप से जवाब देना शुरू किया। प्रथम ही दरबारीलालजी के 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक पर आपत्ति उठाई गई, कुछ वाद-विवाद के बाद आखिर दरबारीलालजी को मानना पड़ा और अपने लेखों को पुस्तकाकार छपाते वक्त उसका नाम 'जैनधर्म मीमांसा' रखना पड़ा। संघ ने भी जवाब में अपनी 'विरोध परिहार' लेखमाला को इसी नामसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया। पं० राजेन्द्रकुमारजी ने दरबारी-लालजी के साथ थूवौनजी क्षेत्र पर मौखिक शास्त्रार्थ भी किया। इस तरह समय पर बुद्धिवादियों की भ्रांति का निराकरण और चलित श्रद्धा का स्थितिकरण किया गया।

'जैन दर्शन' पत्र ३ वर्ष तक पाक्षिक रूप में और करीब ३ ही वर्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक मासिक रूप में कुल ६ वर्ष तक निकला। इसके सम्पादक पं० कैलाशचन्द जी, अजितकुमार जी और चैनसुखदास जी थे। इसमें अनेक उत्तम लेख निकले।

इस तरह शास्त्रार्थों का समाप्त हो गया। इन शास्त्रार्थों में पं० राजेन्द्रकुमार जी ने ही प्रमुख भाग लिया। उनमें नेतृत्व का गुण गजब का था। लोगों का कहना है कि राजेन्द्रकुमारजी अगर इस क्षेत्र में न होकर राजनैतिक क्षेत्र में होते तो अवश्य ही बहुत ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होते।

सन् ३७ में संघ के नाम में से 'शास्त्रार्थ' शब्द निकालकर उसका नाम 'भारतवर्षीय दि० जैन संघ' कर दिया गया।

सन् ४० में श्रवणबेलगोला में गोम्मट स्वामी के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर संघ ने प्रचार की दृष्टि से एक स्पेशल ट्रेन यात्रा का प्रबन्ध किया और श्रवणबेलगोला में जैन धर्म का खूब प्रचार किया, इससे संघ की चारों ओर धूम मच गई।

संघ ने सन् ४१, ५१, ६१ की सरकारी मनुष्य गणना में 'जैन लिखाओ' आन्दोलन का अच्छा संचालन किया।

तथा—बयाना, कुड़ची, शिवहरा, खेखड़ा, जबलपुर, बिजौलिया आदि काण्डों, भिवानी मन्दिर के मामले में और चन्देरी देवगढ़ मूर्ति विध्वंस काण्ड में जैनों की अनुपम सेवा-सहायता की तथा हिसार सरक्यूलर को खत्म करवाया और 'जैनीदंडनम्' पुस्तक को जब्त करवाया।

संघ ने इतिहास संशोधन, विश्व विद्यालयों में जैन कोर्स, मुनि उपसर्ग निवारण, स्वाध्याय मंडल स्थापन, सर्व धर्म सम्मेलनों में जैन प्रतिनिधित्व, रेडियो पर जैन कार्य-क्रम, बन्द शास्त्र भण्डारों का खुलाना, पंचायती झगड़ों के फैसले आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये और कर रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सितम्बर सन् ५६ में पं० सुमेरचन्द्र जी दिवाकर को 'विश्व धर्म परिषद्, में जैन धर्म प्रचारार्थ जापान भेजा गया।

संघ का अपना एक अलग पुस्तक प्रकाशन विभाग है जिससे अब तक छोटे-बड़े करीब ५० महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें सिद्धान्त ग्रन्थ 'जयधवला' के भाग और पंडित प्रवर कैलाशचन्द जी लिखित महान् लोक प्रिय पुस्तक 'जैन-धर्म' अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सन् ४०-४१ में अम्बाला से संघ मथुरा आ गया और मथुरा में संघ का अपना विशाल भवन निर्माण हुआ।

संघ को शुरू से ही कर्मठ और सुयोग्य सेवाभावी संचालक मिले। आजकल पं० जगन्मोहन लाल जी, पं० कैलाशचन्द्र जी, प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरावाला आदि महानुभाव बड़े ही निस्वार्थ भाव से इस संस्था की सेवा कर रहे हैं।

संघ का एक प्रचार विभाग भी है जो संघ की जान है। करीब २८ वर्ष से यह जैन धर्म का अनुपम प्रचार और महान् धर्म प्रभावना कर रहा है। इसमें ५-७ वैतनिक सुयोग्य प्रचारक विद्वान् हैं जो दो श्रेणी में विभक्त हैं। एक तत्त्वोपदेशक, दूसरे संगीतोपदेशक। ये विद्वान् ग्रामों-शहरों में जाकर जैन मन्दिरों और पब्लिक स्थानों पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। हर एक प्रचारक अपनी कला में काफी दक्ष होता है। अतः जनता अच्छी संख्या में एकत्रित होती है और इनके रोचक उपदेश एवं मधुर संगीत को बड़ी तन्मयता से श्रवण करती है। संघ के पास कोई ध्रौव्य-फन्ड नहीं है उसके ये एक-एक प्रचारक ही उसकी एक-एक लाख की निधि हैं। ये प्रचारक दि० समाज में ही अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करें ऐसी कोई बात नहीं है। निमंत्रण पर श्वे० समाज में भी जाकर अपना कार्य-क्रम प्रस्तुत करने में इन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं है। कोई भी जैन प्रतिष्ठा, उत्सव विधान आदि हों, लोग संघ के विद्वानों को धर्म प्रभावना और उत्सव की शान बढ़ाने के लिए अवश्य बुलाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तव में इनके आने से उत्सवों की काफी रौनक बढ़ जाती है, लोग भी काफी इकट्ठे होते हैं। विना इनके, उत्सव फीके-फीके से लगते हैं। इस विषय में प्रमाण के लिए मैं जैन कुबेर सर सेठ हुकुमचन्दजी का एक पत्र उद्धृत करता हूँ—"श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, समाज की एक मात्र कर्मठ और क्रिया-शील संस्था है। इसके यशस्वी विद्वान् प्रचारकों से मैं बड़ा प्रभावित हूँ। इन्दौर समाज के बड़े-बड़े उत्सव संघ के विद्वानों से सदा मुखरित रहे हैं। यही कारण है कि हमें अपने यहाँ कोई बड़ा आयोजन करने में धर्म प्रभावना के लिए कभी चिन्तित नहीं होना पड़ता। इस संस्था के विद्वानों में लगन और काम करने का ढंग है। मेरी शुभ कामनाएँ और शुभाशीर्वाद सदा इस संस्था के साथ हैं। इसके प्रचारक, निष्ठा और विश्वास पूर्वक सदा धर्म-प्रचार करते रहें, यही भावना है।

—हुकुमचन्द सरूपचन्द जी।"

संघ ने अपनी कार्य कुशलता से लोगों के हृदय में काफी स्थान बना लिया है। विद्वानों की मान्य संस्था 'विद्वद् परिषद्' का संघ को अच्छा सहयोग है। संघ का कोई विरोधी नहीं है। अपने गुणों और कार्यों से इसने अपने को सभी का प्रिय बना लिया है। संघ अपने "न धर्मो धार्मिकैर्विना" इस सिद्धान्त का पूरा परिपालक है।

जैन समाज में संघ ही एक जीती-जागती संस्था है। इतने महान् उपयोगी और सुव्यवस्थित कार्य करने वाली कोई दूसरी संस्था समाज में नहीं है।

'अखिल भारतीय', नाम रखने वाली दि० जैनों की महासभा और परिषद् आदि संस्थाएँ अगर संघ में मिल जायें और उसका महासंघ नाम रख दिया जाय तो यह जैन समाज के लिए बड़े ही सौभाग्य की बात हो। फिर अलग-अलग परीक्षालयों, अलग-अलग जैन पत्रों और अलग-अलग नीतियों के रूप में जो हमारी बहुमूल्य शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह संगठित होकर, समाज का ठीक दिशानिर्देशादि के द्वारा वास्तविक हित संपादन कर सके।

यह जमाना संगठन का है—अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलापने से कुछ नहीं होने वाला है। सभी को अपने 'स्व और अहं' का त्याग कर एक सूत्र में बद्ध होना है। "संघे शक्तिः कलौ युगे" समाज के नेताओं को इस ओर ध्यान देने की खास जरूरत है।

जैन सन्देश

सन् ४०-४१ में संघ मथुरा में अपने निजी भवन में रहने लगा। तभी बाबू कपूरचन्द जी आगरा के साप्ताहिक 'जैन सन्देश' को संघ ने चौथे वर्ष से अपना मुखपत्र बना लिया। वही टाइटिल पेज, आकार, पृष्ठ संख्या, शैली, टाइप, और प्रति बृहस्पतिवार को प्रकाशन शुरू से आज तक निर्बाध गति से चला आ रहा है।

प्रारम्भ में करीब ४-५ वर्ष तक इसके संपादक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, बनारस रहे बाद में पं० बलभद्र जी जैन इसके संपादक और प्रकाशक दोनों हो गए, जो वर्ष १९ तक रहे। २० वें वर्ष से पं० जगन्-मोहनलाल जी शास्त्री कटनी इसके संपादक हुए और २१वें वर्ष से फिर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणसी भी सम्पादन में सम्मिलित हो गए। अब तक दोनों माननीय शास्त्री जी इसका बहुत ही सुन्दर सम्पादन कर रहे हैं।

सन्देश की रीति-नीति युगानुरूप है। यह पत्र "यथा नाम तथा गुणः" है। इसकी यह उद्घोषणा है :—

अभिलाषा है सभी सुखी हों साहस धारी।
पौरुष पुण्य विवेक बनें उनके सहचारी॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जग सेवा के हेतु चाहते हैं हम जीवन।
महावीर का लिए हुए संदेश पुरातन॥

संदेश की खास विशेषताएँ हैं—

प्रति बृहस्पतिवार को नियमित प्रकाशित होना, शुद्ध कलात्मक छपाई, सफाई, सुन्दर संपादन, साधारण और विद्वान् दोनों की योग्य रोचक सामग्री का चयन, समाचारों और लेखों का अविकल व अविलम्ब प्रकाशन, निर्भीक-उद्बोधक-सामयिक-तात्त्विक-संपादकीय लेख, जैन तिथि दर्पण, प्राप्त ग्रन्थों की निष्पक्ष और वास्तविक समालोचना, सुन्दर और सरस कविताएँ आदि। संदेश के अब तक अहिंसा अंक, मूर्ति पूजा अंक, राष्ट्रीय अंक, आदि अनेक पठनीय एवं संग्रहणीय विशेषांक निकल चुके हैं। ग्राहकों को "दिगंबरत्व और दि० मुनि" तथा "विरोध परिहार" जैसे बृहद् ग्रन्थ उपहार में दिये जा चुके हैं।

प्रतिवर्ष इसका एक पर्यूषण विशेषांक निकलता है जो बड़ा सुन्दर और सारगर्भित लेखों से पूर्ण होता है।

इसमें सन् ५४ (वर्ष १८) से सन् ५८ (वर्ष २२) तक कुल ५ वर्षों में करीब ६०० महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान पं० रतनचन्दजी मुख्तार के संयोजकत्व में प्रकट हुए हैं। अगर ये विषयवार परिमार्जित हो अलग पुस्तक रूप से प्रकाशित हो जायें तो श्रेष्ठ रहे। इसी तरह महत्त्वपूर्ण संपादकीय लेखों और सुन्दर कविताओं के भी अलग-अलग पुस्तकाकार संस्करण निकल जायें तो साहित्य जगत् को अनुपम लाभ हो।

जुलाई ५८ से जैन सन्देशका त्रैमासिक शोधांक भी अलग निकलने लगा है जिसमें इतिहास, पुरातत्त्व, सिद्धान्त, दर्शन आदि के खोजपूर्ण लेख रहते हैं। शोधांक के प्रमुख संपादक—डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन, लखनऊ हैं। शोधांक समेत संदेश का वार्षिक मूल्य ७) मात्र है। पता है—

—"जैन संदेश, साप्ताहिक, चौरासी, मथुरा"—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन सब विशेषताओं को देखते हुए 'जैन-संदेश' के सामने अन्य पत्र घासलेटी रद्दी सूचीपत्र से मालूम पड़ते हैं। 'संदेश' समाज का एक यशस्वी और उच्चकोटि का पत्र है। हर एक जैन परिवार, जैन संस्था और पुस्तकालय को 'संदेश' का ग्राहक होना चाहिए। नये-पुराने सभी ग्राहकों को 'संदेश' के प्रत्येक वर्ष की पूरी फाइल बना लेनी चाहिए, यह अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण होगी। संघ का अपना निजी प्रेस नहीं है अगर यह हो जाये तो संघ को ग्रन्थ एवं पत्र प्रकाशन में अर्थ और समय की काफी बचत हो तथा अनेक सुविधाएँ और दूसरे लाभ मिलने लगें। संघ के अधिवेशन पर जो अध्यक्ष बनते हैं उन्हें अपनी दानराशि को इस ओर लगाना चाहिए।

२५ वर्ष पूरे होने पर रजतजयंती, ५० पर स्वर्ण जयंती, ६० पर हीरक जयंती मनाई जाती है और ७५ वर्ष पर अमृत महोत्सव मनाया जाता है। तदनुसार मार्च ६२ में जैन संदेश, पत्र के भी २५ वर्ष पूरे हो गए इस उपलक्ष्य में संदेश का रजत जयंती विशेषांक निकाला गया है। हम 'संदेश' का हृदय से अभिनंदन करते हैं एवं साथ में यह भावना करते हैं कि—'जैन संदेश' इसी तरह समाज और धर्म की चिरकाल तक सेवा करता रहे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण

चौवीस तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण–रंग शास्त्रों में निम्न प्रकार बताया है:—

१—"तिलोय पण्णत्ती" अधिकार ४

चन्दपह पुप्फदन्त कुन्देन्दुतुसार हार संकासा ।
हरिदा सुपास पासा सुव्वय णेमी सणील वण्णाओ ॥५८८॥
विद्दुम समाणदेहा पउमप्पह वासुपुज्ज जिणणाहा ।
सेसाण जिणवराणं काया चामीयरायारा ॥५८९॥

२—'पउम चरिय' (विमल सूरि कृत) पर्व २०

चन्दाभो चन्द्र निभो बीओ पुण पुप्फदन्त जिणवसभो ।
कुसुम पियंगु सवण्णो हवइ सुपासो विगयमोहो ॥५४॥
वर तरुण सालि वण्णो पासो णागिंद संथुओ भयवं ।
पउमाभो पउमनिभो वसुपुज्जो किंसुय सवण्णो ॥५५॥
अंजन गिरि सरिस निभो हवइ य मुणि सुव्बओ तियस णाहो ।
बरहिण कंठावयवो नेमि जिणो जाय वा णंदो ॥५६॥
निद्धन्त कणय वण्णा सेसा तित्थंकरा समक्खाया ॥५७॥

३—'पद्म चरित' (रविषेणाचार्य कृत) सर्ग २०

चन्द्राभश्चन्द्रसंकाशः पुष्पन्दतश्च कीर्तितः ।
प्रियंगु मंजरी वर्णः सुपार्श्वो जिनसत्तमः ॥६३॥
अपक्वशालिसंकाशः पार्श्वो नागाधिपस्तुतः ।
पद्मगर्भसमच्छायः पद्मप्रभ जिनोत्तमः ॥६४॥
किंशुकोत्कर संकाशो वासुपूज्यः प्रकीर्तितः ।
नीलांजनगिरिच्छायो मुनिसुव्रत तीर्थकृत् ॥६५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मयूरकण्ठसंकाशो जिनो यादवपुंगवः ।
सुतप्तकांचनच्छायाः शेषाः जिनवराः स्मृताः ॥६६॥

४—"अकृत्रिम चैत्यालय पूजा"—
द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ, द्वाविन्द्रनीलप्रभौ
द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ, द्वौ च प्रियंगुप्रभौ ॥
शेषाः षोड़श जन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभाः ।
ते सज्ज्ञानदिवाकराः सुरनुताः, सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥

५—पूजासार (हस्त लिखित पत्र ५३)
पार्श्वसुपार्श्वौ हरितौ नीलाभौ नेमिसुव्रतौ ।
चन्द्रदंतौ सितौ शोणौ पद्मपूज्यौ परे परे ।

इन सब ग्रन्थों में—चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत को कुंदपुष्प, चन्द्र, बर्फ एवं हीरा–मुक्ताहार की तरह 'श्वेत', सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को प्रियंगु मंजरी (मेंहदी के पत्तों) की तरह अथवा बिना पके धान्य के पौधों की तरह 'हरित', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को नीलांजन गिरि अथवा मयूरकंठ की तरह 'नील', पद्मप्रभु और वासुपूज्य को कमल अथवा टेसू के फूल की तरह 'लाल' और शेष १६ तीर्थकरों को तपाये सोने की तरह 'पीत' वर्ण वाले बताये हैं ।

६—वरांग चरित (जटासिंहनंदि) सर्ग २७
सुवर्णवर्णा खलु षोड़शैव चन्द्रप्रभौ द्वौ च जिनौ सिताभौ ।
द्वौ द्वौ च संध्यांजनतुल्यवर्णौ द्वावेव दूर्वांकुरकांडभासौ ॥८७॥

७—जिनयज्ञ कल्प (आशाधर कृत) अध्याय १
सितौ चन्द्रांकसुविधी श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ।
पद्मप्रभ सुपूज्यौ च रक्तौ मरकतप्रभौ ॥८०॥
सुपार्श्वपार्श्वौ स्वर्णाभान्शेषांश्चालेखयेत्स्मरेत् ॥८९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८—अनगारधर्मामृत अध्याय ८ श्लो. ४१ की टीका (पृष्ठ ५६९)

श्रीचद्र प्रभनाथ पुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी
रक्तांभोजपलाश र्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ ॥
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै
शेषाः संतु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोड़शाघच्छिदे ॥

९—गौतम चरित (मंडलाचार्य धर्मचन्द्र कृत) अधिकार ५

चन्द्राभपुष्पदंतेशौ श्वेतवर्णौ प्रकीर्तितौ ।
पद्माभद्वादशौ रक्तौ श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ॥१२८॥
सुपार्श्वनाथ पार्श्वौ द्वौ हरिद्वर्णौ च षोड़शः ।
तीर्थंकरा बुधैर्ज्ञेयाः संतप्तकनकप्रभाः ॥१२९॥

१०—चर्चाशतक (द्यानतरायजी कृत)

पहुपदंत प्रभुचंद चंदसम सेत विराजे ।
पारसनाथ सुपास हरित पन्नामय छाजे ॥
वासुपुज्य अरु पदम रक्त माणिक द्युति सोहे ।
मुनिसुव्रत अरु नेमि श्याम सुन्दर मन मोहे ॥
बाकी सोले कंचन वरण यह विवहार शरीर थुत ।
निहचे अरूप चेतन विमल दरस ज्ञान चरित–जुत ॥४६॥

इन ग्रन्थों में भी उपर्युक्त ५ नंबर तक के ग्रन्थों की तरह ही तीर्थंकरों का रंग बताया है सिर्फ मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को 'नील' वर्ण की बजाय 'कृष्ण' वर्ण बताया है

११—हरिवंश पुराण (जिनसेनाचार्य कृत) सर्ग ६०

चन्द्राभ एव चन्द्राभः सुविधिः शंख सत्प्रभः ।
प्रियंगुमंजरी पुंजवर्णः सुपार्श्व तीर्थकृत् ॥२१०॥
मेघश्यामवपुः श्रीमान् पार्श्वस्तु धरणस्तुतः ।
पद्मगर्भनिभाभश्च पद्मप्रभ जिनाधिपः ॥२११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रक्तकिंशुकपुष्पाभो वासुपूज्यो जिनेश्वरः ।
नीलांजनचलच्छायो मुनीन्द्रो मुनिसुव्रतः ॥२१२॥
नीलकंठस्फुरत्कंठरुचिर्नेमिः समीक्षितः ।
सुतप्त कनकच्छायाः शेषास्तु जिनपुंगवाः ॥२१३॥

(इसमें और तो सब उपर्युक्त ग्रन्थों की तरह ही बताया है सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को कंगणी के फूल एवं बादलों की तरह श्याम-कृष्ण वर्ण बताये हैं। साथ ही मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को नीलवर्ण बताये हैं)।

१२—तिलोयसार (नेमिचन्द्र कृत)

पउमप्पह वसु पुज्जा रत्ता धवला हु चन्दपहसुविही ।
णीला सुपास पासा णेमी मुणि सुव्वया किण्हा ॥८४७॥

१३—संस्कृत चौबीसी पूजा-जयमाल (ज्ञानचन्द्र जैनी लाहौर द्वारा प्रकाशित)।

१४—चौबीस तीर्थंकरों का ज्ञातव्य नकशा (जीयालालजी, जौहरी नगर-मैनपुरी)

(इन सबमें और कथन तो यथा पूर्व है सिर्फ सुपार्श्व पार्श्व को 'नील' वर्ण और नेमि मुनिसुव्रतको 'कृष्ण' वर्ण बताया है। भूधरदासजी कृत 'पार्श्व पुराण' में भी पार्श्वनाथ प्रभु को नील वर्ण लिखा है। देखो—अधिकार ७ श्लोक ३०—नील वरण नौ हाथ उतंग।)

१५—गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण का एतत्सम्बन्धी कथन ठीक 'तिलोयपण्णत्ती' के समान है। *पुष्पदंत कृत अपभ्रंश उत्तर पुराण का

---

* देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन—पृष्ठ ४१ प्रियंगु प्रसवच्छविः (सुपार्श्व) पृष्ठ ४३५—बालशालितनुच्छायः (पार्श्व) पृ० २४६ सर्पाशनगलच्छायः (मुनिसुव्रत)
पृष्ठ ३७७—नीलांभोजदलद्युतिः (नेमिनाथ)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथन गुणभद्रानुसार है सिर्फ नेमिनाथ को नील के बजाय कृष्ण बताया है।

१६—'एकसंधि जिन संहिता' (प्रतिमा लक्षण-परिच्छेद श्लोक नं० १४१) —हरिवंश पुराण की तरह कथन है (पार्श्व-सुपार्श्व = श्याम। मुनिसुव्रत-नेमि = नील बताये हैं।)

१७—कल्याण मन्दिर स्तोत्र श्लोक २३ में पार्श्वनाथ को श्याम वर्ण बताया है। इसीलिए पाटण आदि में पार्श्व नाथ 'साँवलिया पारसनाथ' कहलाते हैं।

१८—पार्श्वनाथ चरित (वादिराज कृत सर्ग १ श्लोक ९, सर्ग १० श्लोक ६९ में पार्श्व प्रभु को श्याम बताया है और सर्ग ११ श्लोक २३, ४५ एवं सर्ग १० श्लोक ६८ में मरकत (पन्ना) की तरह हरित वर्ण बताया है।

१९—'स्वयंभू स्तोत्र' (२०-२) में मुनिसुव्रत को मयूर कंठवत् नील वर्ण बताया है।

२०—मुनिसुव्रतकाव्य (अर्हदास कृत) सर्ग ७ श्लोक ४-६ में मुनिसुव्रतनाथ को कृष्ण वर्ण और सर्ग ६ श्लोक ३३ में 'तमाल नीलाकृति' सर्ग ४ श्लोक २३ में 'नीलांजन सन्निभ' बताया है।

२१—दौलतरामजी ने 'पद्म चरित' की वचनिका में नेमिनाथ को मयूर कण्ठ समान श्याम बताया है (जबकि मयूर का कण्ठ नीला होता है) सर्ग २० श्लोक ६५।

२२—रामचन्द्र कृत 'चौबीसी पूजा'
सुपार्श्वनाथ को हरितवर्ण। पार्श्वनाथ को मेघ समान कृष्ण वर्ण। मुनिसुव्रत को श्याम वर्ण बताया है।

२३—वृन्दावन कृत 'चौबीसी पूजा'। पार्श्वनाथ को हरित वर्ण। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को श्याम वर्ण बताया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४—कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यपूज ।

जंबू धातकि पुष्करार्द्ध वसुधा क्षेत्र त्रये ये भवा-
श्चन्द्रांभोजशिखंडिकंठकनकप्रावृड्घनाभाः जिनाः ॥
सम्यग्ज्ञान चरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धनाः
भूतानागतवर्त्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥*

(जम्बू द्वीप, धातकी द्वीप, आधा पुष्करद्वीप अर्थात् अढाई द्वीप (मनुष्य लोक) के भरत ऐरावत और विदेह इन तीन क्षेत्रों में उत्पन्न, श्वेत-रक्त-नील-पीत और कृष्ण वर्ण वाले, रत्नत्रय के धारी, अष्ट कर्मों के हंता, भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालीन तीर्थंकरों के लिए नमस्कार हो ।)

इन २४ प्रमाणों से स्पष्ट है कि १६ तीर्थंकरों के पीत वर्ण, चन्द्रप्रभ-पुष्पदंत के श्वेत वर्ण और पद्मप्रभ-वासुपूज्य के रक्त वर्ण होने में सब ग्रन्थ एक मत हैं। सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्व तथा मुनिसुव्रत और नेमि इनके वर्ण के विषय में परस्पर मतभेद है। कोई सुपार्श्व पार्श्व को हरित, कोई कृष्ण और कोई नील वर्ण बताते हैं। इसी तरह कोई मुनिसुव्रत और नेमि को नील और कृष्ण वर्ण बताते हैं जिसकी उपरोक्त २४ प्रमाणों के अनुसार निम्नांकित तफसील है :—

१ से ५ और १५—सुपार्श्व पार्श्व = हरित । सुव्रत-नेमि = नील ।
६ से १०—सुपार्श्व-पार्श्व = हरित । सुव्रत-नेमि = कृष्ण ।
११ और १६—सुपार्श्व-पार्श्व = कृष्ण । सुव्रत-नेमि = नील ।
—२४—
१२ से १४—सुपार्श्व-पार्श्व = नील । सुव्रत-नेमि = कृष्ण ।
१७—पार्श्व = श्याम । १८—पार्श्व = श्याम और हरित । १९—सुव्रत = नील ।

---

* 'ज्ञानपीठ पूजांजलि', पृ० ६४ में इसका अधूरा और गलत अर्थ किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२०—सुव्रत = कृष्ण (नील)। २१—नेमि = श्याम। २२—सुपार्श्व = हरित। पार्श्व, सुव्रत = श्याम।

२३—पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = श्याम।

ऐसी हालत में यह विचारणीय हो जाता है कि—ग्रन्थों में यह परस्पर विरुद्ध और भिन्न कथन क्यों है? क्या इसका कोई समाधान या संगति भी है या नहीं?

नीचे समाधान प्रस्तुत किया जाता है :—

काला, नीला और हरा ये तीनों रंग एक (कृष्ण) ही माने जाते हैं—ऐसा कवि संप्रदाय है। महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' सर्ग २ श्लोक १७ में लिखा है :—

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥

नंदिनी गाय को चरा कर शाम के वक्त राजा दिलीप वापस घर को लौटने लगे तो इस प्रकार उन्होंने वन की शोभा देखी—

"सरोवर से निकले (कीचड़ से लिप्त अतः श्याम वर्ण) शूकर समूह और अपने आवास की ओर जाते (नील वर्ण) मयूर तथा जिस पर मृग बैठे हैं ऐसी (हरी) दूब इन तीनों से मानो वन श्याम वर्ण हो रहा था।"

इस प्रकार कवि ने चमत्कारिक शैली से कृष्ण, नील और हरित इन तीनों को एक श्याम वर्ण द्योतित किया है।*

---

* धनंजय नाममाला के अमरकीर्ति भाष्य (ज्ञानपीठ प्रकाशन) पृ० ७२ में भी कृष्ण रंग के पर्यायवाची नामों में हरित और नील-मेचक (मेचकः शिखिकण्ठायः इति दुर्गः) शब्द दिये हैं इससे भी जाना जाता है कि हरे नीले को काले कहने की कवियों की मान्यता रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कवि संप्रदाय कोरी कल्पना मात्र ही हो ऐसा नहीं है प्रत्युत प्रत्यक्ष अनुमानादि से भी इसकी पुष्टि होती है यथा—गहरे नीले रंग के पदार्थ जैसे नीलम का पत्थर, मोर तूते की डली सामान्य तौर से काली ही दिखाई देती है। रोशनी के सामने करने पर या टुकड़े करने पर ही वह नीली दिखाई देती है। इसी तरह गहरे हरे रंग के पदार्थ भी काले ही दिखाई देते हैं जैसे पन्ने का पत्थर आदि।

संस्कृत शब्दकोशों में भी नीला रंग अलग नहीं बताया गया है। वह कृष्ण रंग के पर्यायवाची रूप में ही बताया गया है; देखो—"अमर कोष" काण्ड १ वर्ग ५ श्लोक २३ –कृष्णे नीलाऽसित श्याम काल श्यामल मेचकः, ये ७ नाम काले रंग के दिये हैं जिनमें १ नाम 'नील' भी है। और इसीलिए भौंरे को नीलक, नीलंगु। काले उड़द को नील माष। कीचड़ और अन्धकार को नील पंख। कृष्णांजनगिरि को नीलगिरि। अग्नि को नील पृष्ठ। काली मक्खी को नील मक्षिका। शनिश्चर को नीलवसन। काले सुरमे को नीलांजन। काले बादल को नीलाभ कहते हैं। इसी दृष्टि से प्रमाण नं० २० के 'तमालनील' और 'नीलांजन' शब्दों में प्रयुक्त 'नील' शब्द का अर्थ नीला न होकर काला ही है क्योंकि तमाल वृक्ष काला ही होता है (देखो अमर कोष—"कालस्कंधस्तमालः स्यात्")। इसी तरह अंजन सुरमा भी काला ही होता है।

'जिन सहस्र नाम' की श्रुतसागरी टीका पृष्ठ २११ में 'केशव' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए लिखा है—"प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णाः केशा मस्तके विद्यते यस्य स केशवः" अर्थात् जिसके शिर पर भँवरे के समान काले केश हों उसे केशव कहते हैं। इसमें भी स्पष्टतया नील शब्द को कृष्ण वर्ण के ही रूप में प्रयुक्त किया है। इन सब प्रमाणों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि—'नील' का अर्थ कृष्ण भी होता है। अब 'हरित' के विषय में नीचे कुछ विवेचन किया जाता है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि लोग इस पृथ्वी को "शस्यश्यामला" अर्थात् हरे हरे पौधों से श्याम वर्ण वाली, इस विशेषण से व्यक्त करते हैं। इससे हरे को काला कहने की पद्धति का पता लगता है। इसी दृष्टि से वादिराज ने 'पार्श्वनाथ चरित' में पार्श्वप्रभु को एक जगह हरा और एक जगह श्याम लिखा है। देखो प्रमाण नं० १८। तिलोयसार गाथा ७८४ में तीसरे काल के मनुष्यों का शरीर 'प्रियंगु-श्याम = हरित-श्याम वर्ण वाला बताया है। इस तरह स्पष्ट है कि हरे को श्याम भी कहा जाता है।

इन सब विवेचन से जिन्होंने नील अथवा हरित की जगह श्याम-कृष्ण वर्ण लिखा है वह तो समझ में बैठ जाता है किन्तु जिन्होंने हरित की जगह नीलवर्ण लिखा है उसका क्या समाधान है ?

लोक में हरित शाक सब्जी को नीलोती कहते हैं। मालवा में हरे चनों को लीलवा कहते हैं (नील और लील एक ही शब्द हैं यथा नीलगर, लीलगर)। हरी दूब को हिन्दी और संस्कृत में 'नील दूर्वा' कहते हैं। कोंकण में 'नीली हरियाली,' गुजराती में 'नीलोध्रा,' लीलीध्रो। मराठी में 'नील दूर्वा' हरयाली, काली दूर्वा कहते हैं।

(प्राकृत शब्द महार्णव, में भी 'णील' शब्द का अर्थ हरा और नीला दोनों बताया है और प्रमाण में ठाणांग व पण्णवणा सुत्त १ का नाम दिया है। इसी तरह कोशों में इन्द्रनीलमणि का अर्थ नीलम (नीले रंग की मणि) और मरकत (हरे रंग का पन्ना) दोनों दिया है।

गोम्मटसार जीव काण्ड गाथा ४९५ में जघन्यभोगभूमि वालों का शरीर हरित वर्ण बताया है, इसे ही 'गौतम चरित्र, अ० ५ श्लोक ९२ में 'नील' वर्ण से कहा है।

इस सबसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि–हरे रंग को नीला कहने की भी प्रणाली है। हरा रंग बनता भी नीले और पीले रंग के संयोग से है।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थकारों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने जो हरित, कृष्ण, और नील इन तीनों को परस्पर उलट-पुलट अथवा एक श्याम वर्ण ही प्रयुक्त किया है, वह अयुक्त नहीं है।

फिर भी एक सवाल उत्पन्न होता है कि तब क्या हरे और नीले कोई अलग रंग नहीं हैं? अगर हैं तो पार्श्व-सुपार्श्व और मुनिसुव्रत-नेमी का वास्तविक रंग क्या है? क्या ये चारों काले ही हैं? अगर ये काले ही होते तो ग्रन्थकार इन को अलग अलग नहीं बताते, चारों को एक कृष्ण वर्ण का ही लिख देते। अलग अलग (युग्म) बताने से और साथ में अलग अलग रंग के वैसे ही उदाहरण देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि—इनका रंग भिन्न रहा है।

वह भिन्न रंग काले हरे और नीले में से कौन से तीर्थंकर का वास्तविक कौनसा है इसको निर्णय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। जो भी मान्य ग्रन्थकारों ने लिखा है वह परस्पर विरुद्ध होने पर भी उसे संग्रह करके चलना ही श्रेयस्कर है।

फिर भी युक्तिवाद का आश्रय लें तो निम्न तथ्य सामने आता है। काले रंग के मनुष्य तो देखे जाते हैं किन्तु हरे और नीले रंग के मनुष्य कहीं देखने में नहीं आते—हाँ नीली आँखों के मनुष्य अवश्य देखे जाते हैं।

हरा रंग कोई स्वतंत्र रंग नहीं है वह पीले और नीले रंग के संयोग से बनता है इसीलिए उसका एक नाम 'पीतनील' है। देखो—'अभिधान चिन्तामणि' कोश पृष्ठ ५५९—'पीतनीलः पुनर्हरित्'।

जैन शास्त्रकारों ने रंग के ५ भेद बताये हैं—ये ही चौबीस तीर्थंकरों के वर्ण के आधार रहे हैं। ये ५ भेद इस प्रकार हैं—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इनमें नीला रंग तो है किन्तु हरा नहीं।

इसी तरह वर्ण नाम कर्म के उदय से जो कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म (लाल), शुक्ल ये ६ द्रव्यलेश्या—शरीर का रंग बताया है, उसमें भी नीला रंग तो है किन्तु हरा नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस दृष्टि से तिलोयसारादि (प्रमाण नं० ११–१२–१३–१४–१६–२४) क ।कथन जिनमें हरे रंग के तीर्थंकर नहीं बताये हैं विशेष उचित प्रतीत होता है—बशर्ते कि 'नील' का अर्थ 'हरा' न लिया जाय। ('तिलोय सार' के कर्ता ने 'नील' के साथ कोई उदाहरण भी नहीं दिया है जिससे जाना जाता कि उन्हें नील से कौनसा वर्ण विशेष इष्ट था।

यह तो हुआ २४ तीर्थंकरों का वर्ण विवेचन। अब प्रसंगोपात्त अन्य पौराणिक महापुरुषों का भी शरीर-वर्ण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

(१) तिलोयसार, गाथा ८१८

१२ चक्रवर्तियों का शरीरवर्ण सुवर्ण सदृश (पीत) बताया है।

(२) जंबूदीव पण्णत्ती—उद्देश्य २ गाथा १८२, १८३, १८४

९ बलदेवों का श्वेत तथा ९ नारायण-प्रतिनारायणों का नील कमल के समान (नीला) बताया है।

(३) तिलोय पण्णत्ती (भाग १ पृ० २०० से २०६)

१४ कुलकरों का रंग सुवर्ण सदृश (पीत) बताया है।

(४) हरिवंश पुराण सर्ग ६० श्लोक ५६७

नवनारायणों को अंजनच्छाय (कृष्ण वर्ण) बताया है। श्लोक ५६९ में नव बलदेवों को चन्द्रसम—श्वेत वर्ण बताया है।

(५) उत्तर पुराण (गुणभद्र कृत) में ९ वासुदेवों का रंग नील-कृष्ण बताया है और ९ बलदेवों का श्वेत बताया है। देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० ३८३-(श्रीकृष्ण) लसन्नीलाब्जवर्णाभो। पृ० ८५, १२६, २४१, २५५ में क्रमशः बलदेव नारायण का रंग इस प्रकार द्योतित किया है—शंखेन्द्रनीलसंकाशौ, शुक्ल-कृष्णत्विषौ, चन्द्रेन्द्रनीलसंकाशौ, अमेयवीर्यौ हंसांशनीलोत्पल-समत्विषौ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस विषय में श्वेताम्बर-मान्यता क्या है वह नीचे प्रकट की जाती है :

१—अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्राचार्य कृत) काण्ड १ श्लो० ४९—

रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ शुक्लौ तु चन्द्रप्रभपुष्पदंतौ ।
कृष्णौ पुनर्नेमिमुनी विनीलौ श्री मल्लि पार्श्वौ कनत्विषोऽन्ये ॥

अर्थ—पद्मप्रभ और वासुपूज्य 'लाल', चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत 'श्वेत', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ 'कृष्ण', मल्लि और पार्श्व 'नील' एवं शेष १६ तीर्थंकर सुवर्ण रंग के हैं ।

२–३—"त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित" (हेमचन्द्र) में तथा "जैनरत्न-सार" पृ० २८८ में भी उपर्युक्त ही कथन है ।

४—विचार सार प्रकरण (प्रद्युम्नसूरि)

पउमाभ वासुपुज्जा रत्ता ससि पुप्फदंत ससि गोरा ।
सुव्वय नेमि काला पासो मल्ली पियंगु निभा ॥११॥
वर कणय तविय गोरा सोलस तीत्थंकरा मुणेयव्वा ।
एसो वण्ण विभागो चउवीसाय जिणवराणं ॥१११॥

अर्थः—इसमें पार्श्व-मल्लि को प्रियंगु सदृश (हरित) वर्ण वाले बताये हैं—शेष कथन उपर्युक्त ही की तरह हैं ।

५—"मंत्राधिराज चिन्तामणि" में सागरचन्द्र सूरि रचित 'मंत्राधिराज कल्प' तृतीय पटल श्लोक ८८, ९० में—मुनिसुव्रत और नेमि को "तैलाक्तकज्जलकलेवर—कृष्णांग (गहरे काले) लिखा है । श्लोक ८७, ९१ में—मल्लि और पार्श्वनाथ को "कदलीदल नीलदेह" अर्थात् केले के पत्तों की तरह नील वर्ण वाले बताये हैं किन्तु केले के पत्तों का रंग हरा होता है नीला नहीं । अतः यहाँ 'नील' का अर्थ उदाहरण के अनुसार 'हरा' ही लेना चाहिए । पूर्व में हरे को नीला कहने की पद्धति का दिग्दर्शन करा ही आये हैं । ऊपर भी प्रमाण नं० ४ में पार्श्व मल्लि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्रियंगु–हरित वर्ण ही लिखा है। ऐसी हालत में एक बात विचारणीय है कि—ऊपर प्रमाण नं० १–२–३ में जो हेमचन्द्राचार्य ने पार्श्व मल्लि को 'नील' बताया है सो उससे कौनसा रंग ग्रहण करना चाहिए? नील का अर्थ आसमानी और हरा ही नहीं होता, काला भी होता है। अगर हरा ही ग्रहण करें तब तो श्वे० आम्नाय में कोई मान्यता भेद नहीं होता और अगर आसमानी भी काला ग्रहण करें तो मान्यता भेद उत्पन्न होता है। हेमचन्द्राचार्य ने कहीं भी नील के साथ कोई उदाहरण नहीं दिया है इससे यह निर्णय करना कठिन हैं कि—'नील' से कौनसा वर्ण विशेष उन्हें इष्ट था।

"त्रिपष्टिशलाका पुरुष चरित" गुजराती अनुवाद पर्व ९ सर्ग ३ पृष्ठ ४७०–७१ में पार्श्व प्रभु को नीलमणी और नीलकमल की सदृश्य कांति वाले नीलवर्ण, लिखा है—यह ज्ञातव्य है।

६—ऋषि मण्डल स्तोत्र*

शिरः संलीन ईकारो विनीलो वर्णनः स्मृतः।
वर्णानुसारसंलीनं तीर्थकृन्मंडलं नमः ॥१३॥
शिरः ई स्थिति संलीनौ पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ ॥१५॥

अर्थ—'ह्रीं' इस बीज अक्षर की ईकार मात्रा का रंग विनील (विशेष नीला) किया जावे और उस पर उसी रंग के तीर्थंकर–पार्श्व मल्ली के नाम लिखे जावें) इसका कथन ठीक हेमचन्द्राचार्य ही की तरह है।

श्वेतांबर आम्नायानुसार यह २४ तीर्थंकरों का वर्ण विभाग है। इससे स्पष्ट है कि—दि० श्वे० आम्नाय में खास अन्तर निम्न प्रकार है—

---

* यह कृति श्वेतांबरी ही है इस विषय में एक खोजपूर्ण लेख "क्या ऋषि मण्डल स्तोत्र दि० परम्परा का है?" इस शीर्षक से इसी ग्रंथ में देखिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मल्लिनाथ को श्वेताम्बर नील वर्ण और सुपार्श्वनाथ को कनकवर्ण मानते हैं जब कि दिगम्बर, मल्लिनाथ को सुवर्ण वर्ण और सुपार्श्वनाथ को हरित या नील वर्ण मानते हैं अर्थात् श्वेताम्बर सुपार्श्वनाथ की जगह मल्लिनाथ को विनील लिखते हैं। इस नाम-व्यत्यय के सिवा रंग के विषय में श्वे० हेमचन्द्राचार्य का कथन दि० 'तिलोयसार' ग्रन्थ के कथन से मिलता है।

अब ६३ शलाका पुरुषों में से शेष का शरीर वर्ण श्वेताम्बराम्नायानुसार क्या है यह नीचे बताया जाता है :

१—विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरि)

वन्नेण वासुदेवा नीला सव्वे बला च सुक्किलया ॥५७०॥
सच्चे विरागवण्णा निम्मल कणगप्पभा मुणेयव्वा ।
छह खंड भरह सामी तेसिं पमाणं अओ वुच्छे ॥५४३॥

(९ वासुदेव तथा ९ प्रति वासुदेव नीलवर्ण हैं और ९ बलदेव शुक्ल वर्ण हैं १२ चक्रवर्ती कनकवर्ण हैं)।

२—'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' (हेमचन्द्र) पर्व १ सर्ग ६

वासुदेवाः नवाऽसिताः ॥३३८॥
बलदेवाः सिता नव ॥३३९॥
काश्यपश्च कृष्णः स्वर्ण वर्णा अष्टैषु मोक्षगाः ॥३२६॥

[इसमें वासुदेवों (प्रतिवासुदेवों) को कृष्ण वर्ण बताया है शेष पूर्ववत् है]

३—'अभिधानचिन्तामणि' (हेमचन्द्र) काण्ड ३

वासुदेवा अमी कृष्णा नव शुक्ला बलास्त्वमी ॥३६१॥
[इसमें भी प्रमाण नं० २ की तरह ही कथन है]।

ऊपर के विषय में दि० श्वे० आम्नाय में परस्पर क्या अन्तर पड़ता है यह बताना अनावश्यक है। यह दोनों आम्नायों के दिये गये प्रमाणों से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विज्ञपाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं। निर्णय की विधि पूर्व में प्रदर्शित कर ही आये हैं।

अब नीचे कतिपय ऐसे ग्रन्थोल्लेख प्रस्तुत किये जाते हैं जो तीर्थंकरों के शरीर-वर्ण विषय में कुछ विलक्षण ही प्रकाश डालते हैं—

१—अपराजित पृच्छा (भुवनदेवाचार्य कृत)

चन्द्रप्रभः पुष्पदंतः श्वेतौ वै क्रौंचसंभवौ।
पद्मप्रभो धर्मनाथो रक्तोत्पलनिभौ मतौ॥
सुपार्श्वः पार्श्वनाथश्च हरिद्वर्णौ प्रकीर्तितौ।
नेमिश्च श्यामवर्णः स्यान्नीलो मल्लिः प्रकीर्तितः॥
शेषाः षोडशसंप्रोक्तास्तप्तकांचनसप्रभाः।
वर्णानि कथितान्यग्रे लांछनानि ततः शृणु॥

—प्रतिमालक्षण (सं० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल पृ० २७१

इसमें सुपार्श्वनाथ को जो हरिद्वर्ण बताया है वह दि० संप्रदायानुसार है और मल्लिनाथ को जो नील वर्ण बताया है वह श्वे० संप्रदायानुसार है इस तरह इसमें दोनों आम्नाओं को ग्रथित किया है किन्तु धर्मनाथ को रक्त वर्ण और मुनिसुव्रतनाथ को कांचन वर्ण बताया है वह दोनों आम्नायों से विरुद्ध है। इस तरह इस ग्रन्थ का कथन बड़ा ही विलक्षण मालूम पड़ता है।

यह 'अपराजित पृच्छा' ग्रन्थ जैनेतर है। इसके कथन से सिद्ध है कि इसके कर्त्ता को जैन (दि० श्वे०) ग्रन्थों का प्रामाणिक ज्ञान नहीं था। आजकल जिस तरह अनेक जैनेतर विद्वान् जैन मान्यताओं के विषय में अन्यथा प्रतिपादन करते देखे जाते हैं उसी तरह पूर्वकाल में भी ऐसा होता रहा है—यह इससे स्पष्टतया प्रमाणित होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२—"मूर्त्तिविज्ञानम्" (जी० एच० खरे कृत) पृ० २०२–२०५ में दिगम्बर मतानुसार तीर्थंकरों का वर्ण निम्न प्रकार बताया है। (देखो–पुष्पदंत कृत महापुराण भाग २ पृ० ५५८)

सुमति, पद्म = कुंकुम। वासुपूज्य = रक्त। पार्श्व, मल्लि = नील। मुनिसुव्रत, नेमि = कृष्ण। सुपार्श्व = कांचन।

इसमें मल्लिनाथ को नील और सुपार्श्व को कांचन वर्णी बताया है। वह श्वे० संप्रदायानुसार है जबकि ग्रंथकार ने यह वर्ण विवेचन दि० मतानुसार होने की बात कही है जो गलत ठहरती है। इसके सिवा सुमतिनाथ को जो कुंकुम (रोली केशर) के समान लाल वर्ण के बताये हैं वह दोनों संप्रदायों की दृष्टि से विरुद्ध हैं इस तरह इस ग्रंथ का कथन भी विलक्षण ही ज्ञात होता है। अगर 'सुमति' विषयक कथन को मुद्रण की गलती मान ली जाय तो समग्र कथन श्वे० आम्नायानुसार हो जाता है किन्तु ग्रंथकार ने समग्र कथन को दिगम्बर मत का बताया है यह विलक्षणता फिर भी रहती है*

इस सब विवेचन से तीर्थंकरों के शरीर-वर्ण विषय में ग्रंथकारों के परस्पर भिन्न–विरुद्ध कथनों के तथ्य को पाठकों ने अच्छी तरह हृदयंगम

---

* वसुनंदिकृत—प्रतिष्ठार संग्रह अ० ५—

चन्द्रप्रभजिनः श्वेतः पुष्पदंत जिनस्था
पद्मप्रभः सुपद्माभः सुपूज्यो विद्रुमप्रभः ॥६९॥
सुपार्श्व पार्श्वनाथौ च द्वौ जिनेन्द्रौ हरित्प्रभौ।
मुनिसुव्रतनेमी च जिनौ मरकतप्रभौ ॥७०॥
ये षोड़शजिना शेषा ज्ञेयाश्चामीकरप्रभाः।
विज्ञाय वर्णकानेनं भोजयेच्चित्रकर्मसु ॥७१॥

(इसमें पार्श्व सुपार्श्व सुव्रत नेमि चारों को ही एक हरे रंग के बताया है)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर लिया होगा। अंत में यह और बताना चाहता हूँ कि—ग्रंथों में अन्यत्र भी जहाँ रंगों को लेकर परस्पर भिन्नता विरुद्धता पाई जाती हो वहीं उपर्युक्त विवेचन को लगा लिया जाना चाहिये। चन्देरी के भोयरों में चौबीसी की मूर्त्तियाँ हैं जो रंग के अनुसार पत्थरों की बनी हुई हैं।

जिस तरह हरित, नील आदि में विविधार्थकता पाई जाती है उसी तरह 'गौर' शब्द में भी। देखो हेमचन्द्र कृत अनेकार्थ संग्रह, द्वितीय कांड श्लोक–४२५" गौरः श्वेतेऽरुणे पीते विशुद्धे चन्द्रमस्यपि"। अर्थात् "गौर" शब्द सफेद, लाल और पीले तीनों रंगों में प्रयुक्त होता है।

संस्कृत भाषा में एक शब्द के अनेक अर्थ और आशय होते हैं, यह इसकी खासियत है। इस खासियत को अव्यवस्था, जटिलता या विरुद्धता का जनक नहीं समझना चाहिए किन्तु यह अनेकान्तता का द्योतक है, अतः समीचीन है।

परस्पर भिन्नता में जो यथोचित समन्वय नहीं कर सकते उन्हें ही विरुद्धता मालूम पड़ती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मग्रन्थ त्रय

चूर्णी सहित कम्मपयडी, सतक और सित्तरी ग्रन्थ त्रय के विषय में क्षु० श्री सिद्धसागरजी ने 'जैनसंदेश' के शोधांक नं० २ में एक लेख लिखा है। समीक्षात्मक रूप से नीचे उस पर कुछ विचार किया जाता है—

लेख के आदि में क्षुल्लक जी ने 'कम्मपयडी संगहणी' की मंगल गाथा देते हुए उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"सिद्धं सिद्धत्थ सुयं वंदिय णिद्धोय सव्वकम्ममलं।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदय अंताणि वोच्छामि।

इसमें सिद्ध, सिद्धार्थ, श्रुतगणधर तथा श्रुत को वंदन कर आठ कर्मों के आठ और दो दस करणों का विस्तार पूर्वक वर्णन है।"

समीक्षा—क्षुल्लकजी ने जो अर्थ दिया है वह बिल्कुल गलत है ठीक अर्थ इस प्रकार होना चाहियेः—"जिन्होंने सर्व कर्ममलों को निःशेष रूप से धो दिया है और सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धार्थ सुत–भगवान् महावीर को नगस्कार कर आठ कर्मों के आठ करण और उदय व सत्त्व का वर्णन करता हूँ।"

मूल गाथा में "अंताणि' की जगह 'संताणि' होना चाहिये। 'संत' का अर्थ 'सत्त्व' होता है। क्षुल्लकजी को शायद यह मालूम नहीं प्रतीत होता। इसी लिए २०-५-५८ के जैन-दर्शन में आपने एक लेख में 'संत सूत्र' लिख दिया है, जो गलत है सित्तरी चूर्णि में वहाँ 'सत्त्व सूत्र' (कर्मों के सत्त्व विषयक सूत्र) अभिप्रेत हैं।

क्षुल्लक जी—"निद्रादयः समधिगताया एव दर्शलब्धेरुपघाते वर्त्तते दर्शनावरणचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात्समूलघातं हंति दर्शनलब्धिमिति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गंधहस्ती।" उपाध्याय यशोविजय ने उक्त उद्धरण गंधहस्ती के नाम से उद्धृत किया है। इसी आशय वाला वर्णन शतक व्याख्या में प्रकृति समुत्कीर्तन के समय यतिवृषभ ने किया है अतः गंधहस्ती या गंधहस्ती-महाभाष्य व्याख्या चूर्णिकार से पहिले अवश्य रहा होगा। चूर्णिकार ने गंधहस्ती महाभाष्य का उपयोग भी सिद्धसेन, अकलंक और पूज्यपाद की तरह अवश्य किया है।

समीक्षा—उपाध्याय यशोविजय १८वीं शताब्दी के श्वे० आचार्य हैं उन्होंने जो गंधहस्ती के नाम से उल्लेख दिया है वह सिद्धसेन गणी (९वीं शताब्दी) की तत्त्वार्थवृत्ति का उल्लेख है। अध्याय ८ सूत्र ८ की वृत्ति में पृ० १३५ पर वह इस प्रकार पाया जाता है—"निद्रादयो यतः समधिगताया एव दर्शनलब्धेः उपयोगघाते प्रवर्त्तंते, चक्षुर्दर्शनावरणादि-चतुष्टयं तद्गमोच्छेदित्वान्मूलं निहंति दर्शनलब्धि" यह उल्लेख क्षुल्लकजी के द्वारा उद्धृत उल्लेख से प्रायः अक्षरशः मिलता है। श्वे० संप्रदाय में सिद्धसेन 'गंधहस्ति' के नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। उपाध्याय यशोविजय आदि बहुत से श्वे० आचार्यों ने जो अनेक जगह गंधहस्ती के नाम से उल्लेख दिये हैं वे सब प्रायः सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थवृत्ति में पाये जाते हैं। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोविजयजी द्वारा गंधहस्ती के नाम से दिया हुआ उपर्युक्त उद्धरण सिद्धसेन की वृत्ति का ही है—यह उद्धरण और भी अनेक श्वे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थ में 'गंधहस्ती' ही के नाम से दिया है (देखो प्रवचनसारोद्धार टीका पत्र ३५८ तथा देवेन्द्र-सूरि कृत प्रथम कर्मग्रन्थ (गाथा १२) की टीका)। यहाँ एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि इन सभी श्वे० उद्धरण कर्ताओं ने 'गंधहस्ती' व्यक्ति नाम ही दिया है कहीं भी 'गंधहस्ति महाभाष्य' ऐसा ग्रन्थ नाम नहीं दिया है अतः यशोविजयजी के उद्धरण से न तो किसी गंधहस्ति महाभाष्य का समर्थन होता है और न उसका दिगंबरीय होना ही सिद्ध होता है—आज तक किसी भी दि० ग्रंथकारके द्वारा गंधहस्ति महाभाष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का कोई भी वाक्य उद्धृत हुआ नहीं पाया जाता है। ऐसी हालत में यह कैसे हो सकता है कि १८वीं शती के श्वे० यशोविजयोपाध्याय को तो दिगम्बर सम्मत गंधहस्ति महाभाष्य उपलब्ध हो और दिगम्बर आचार्यों को वह उपलब्ध ही न हो।

इस तरह जब यशोविजय का उद्धरण ही दिगम्बर सम्मत गंधहस्ति महाभाष्य का सिद्ध नहीं होता तब उसके बल पर शतक चूर्णि के वाक्यों का बादरायण सम्बन्ध जोड़ना और उन्हें दिगम्बरीय गंधहस्ति महाभाष्य का बताना कितना निराधार और भूलभरा है, यह साधारण पाठक भी सहज समझ सकता है।

शतक चूर्णिकार के वे वाक्य यशोविजय के उद्धरण से शब्दशः बिल्कुल भी नहीं मिलते अर्थशः कुछ कुछ मिल सकते हैं। संभव है शतक व्याख्याकार ने वे वाक्य सिद्धसेन की तत्त्वार्थवृत्ति पर से गढ़े हों अथवा दोनों ने ही किसी प्राचीन स्रोत से स्वतन्त्र रीत्या निर्मित किये हों, इसके सिवा व्याख्या चूर्णिकार ने वहाँ कहीं भी गंधहस्ति महाभाष्यका कोई भी नामोल्लेख नहीं किया है। ऐसी हालत में उन वाक्यों को दि० गंधहस्ति महाभाष्य के बताना किसी भी तरह समुचित नहीं कहा जा सकता। और शतक चूर्णि को बिना किसी प्रमाण के यतिवृषभ की कृति बताना भी निराधार है। इसी तरह बिना किसी प्रमाण के पूज्यपाद सिद्धसेन और अकलंक तक को गंधहस्ति महाभाष्य का उपयोगकर्त्ता लिखना भी बड़ा साहसपूर्ण प्रतीत होता है, जब कि इन आचार्यों के किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी गंधहस्ती महाभाष्य का कोई भी उल्लेख नहीं पाया जाता है।

क्षुल्लकजी—मूलाचार की "पंच नव दोन्नि अट्ठावीसा" यह गाथा कम्मपयडी, शतक तथा सत्तरि चूर्णि में उद्धृत पाई जाती है। तथा दि० 'पंचसंग्रह' में पाई जाने वाली "निद्दापयलाय तहाँ" गाथा सत्तरी चूर्णि में उक्तंच रूप से पाई जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समीक्षा—ऊपरके कथन से क्षुल्लकजी का यह आशय प्रतीत होता है कि दि० ग्रन्थों में पाई जाने वाली उक्त गाथाएँ ही इन चूर्णि ग्रन्थों में पाई जाती हैं इससे ये दि० ग्रन्थ हैं तो यह नतीजा ठीक नहीं है—यह कोई दिगम्बरत्व का नियामक नहीं माना जा सकता, अगर ऐसा ही माना जायगा तो फिर मूलाचार की अनेक गाथायें श्वे० आवश्यक निर्युक्ति में भी पाई जाती हैं तो क्या श्वे० निर्युक्ति भी दि० ग्रन्थ है ? पर ऐसा नहीं है, सही बात यह है कि दि० श्वे० दोनों को विरासत में मूल सामग्री एक ही जगह से मिली है अतः दोनों के किसी अंश में साम्य पाये जाने से ही सारा ग्रंथ किसी एक आम्नाय का नहीं हो सकता उसमें पाई जाने वाली दूसरी विरुद्ध बातों का भी ख्याल करना होगा। शोधांक १ में पं०कैलाशचंद्रजी ने चूर्णि ग्रंथों का अंतःपरीक्षण करके कुछ प्रमाण देते हुए यह बताया था कि ये यतिवृषभ कृत और दिगम्बर नहीं हैं क्योंकि इनमें यतिवृषभ के मंतव्यों से विरुद्ध मंतव्य पाये जाते हैं पर क्षुल्लकजी ने उनपर कोई ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है। उन्होंने पं० हीरालालजी सिद्धांतशास्त्री की ही तरह बिना विशिष्ट मनन किये इन चूर्णि ग्रन्थों को यतिवृषभकृत लिख दिया है। इन चूर्णियों में श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ भी पाई जाती हैं तथा इनमें दि० ग्रन्थकारों को 'अन्य' शब्द से भी उल्लेखित किया है। ऐसी स्थिति में ये चूर्णियाँ दिगम्बर ग्रन्थ सिद्ध नहीं होतीं। जो विद्वान् इन ग्रंथों को दि० मानने का आग्रह रखते हों उनका कर्त्तव्य हो जाता कि—वे सबसे पहिले उन बातोंका समाधान करें जो इनमें श्वे० आम्नाय को समर्थन करने वाली हैं और फिर साथ में ऐसे स्थल भी खोजकर बतावें जो स्पष्टतः श्वेताम्बर विरुद्ध हों और दिगम्बर सम्मत हों। बिना इस प्रकार का परिश्रम किये केवल यह लिख देना कि—"ये चूर्णियां यतिवृषभ की चूर्णियों से मेल खाती हैं अत दिगम्बर हैं, कोई वकत नहीं रखता।

मूलग्रंथ और उनकी चूर्णियों पर विशिष्ट अध्ययन होने की सख्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जरूरत है। (प्राकृत) पंचसंग्रह को छोड़कर किसी भी दि० ग्रंथ में इन ग्रंथों का उल्लेख तक नहीं पाया जाता जब कि इन ग्रंथों पर श्वेताम्बरों की विस्तृत टीकायें पाई जाती हैं। (श्वे०) सिद्धसेन गणि ने भी तत्त्वार्थ-वृत्ति (अध्याय ८ का अन्तिम सूत्र) में 'कर्मप्रकृति' का उल्लेख किया है। ऐसी हालत में इन ग्रन्थों के श्वेताम्बर होने का ही समर्थन होता है।

क्षुल्लकजी—"व्याख्या चूर्णि के रचयिता यतिवृषभ माने जाते हैं, लगभग ५वीं सदी में यह व्याख्या चूर्णियां बनी हैं यही शिवशर्म का वास्तव में काल है।"

समीक्षा—क्षुल्लकजी एक जगह तो यतिवृषभ और शिवशर्म का काल २री से ५वीं सदी लिखते हैं और एक जगह स्पष्टतः ५वीं सदी लिखते हैं जब कि एक दफा इन्होंने ही जैन-सन्देश में यतिवृषभ का काल प्रथम द्वितीय सदी बताया था। इसके सिवा २०-५-५८ के जैन-दर्शन में इन्होंने आचार्य शिवशर्म को भगवंत भूतबलि के समकालीन या उनसे भी कुछ पहिले रहा बताया है। इस तरहके परस्पर- विरुद्ध कथन अनिश्चयात्मक होने से भ्रांति जनक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काव्यों के अंक

सुगमता से अपनी वस्तु अलग पहचान ली जाय इसके लिये मानव समाज उनमें अपने अलग-अलग चिन्ह कायम कर देता है जैसे साबुन के व्यापारी अपने-अपने साबुन के अलग-अलग चिन्ह 'सनलाइट', 'लक्ष', 'वतनी', 'रेक्सोना', पामोलिव' आदि रखते हैं। अलग-अलग देशों की सरकारें अपने राष्ट्रध्वजों और मुद्रादि पर अलग-अलग चिह्न रखती हैं। उसी तरह कवि भी अपनी अपनी कृतियों में अपना इच्छित शब्दचिह्न रख देते हैं उसे ही काव्यों का अंक यानी चिह्न कहते हैं। ये 'अंक' (संकेताक्षर) काव्यों के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में प्रयुक्त होते हैं— माघकविकृत माघमहाकाव्य का अंक 'श्री' है। भारवी ने 'लक्ष्मी', प्रवरसेन ने 'अनुराग', पंचशिख ने 'आनन्द' शब्दांक का प्रयोग किया है।

नीचे कुछ जैन काव्यों के अंक खोजकर बताये जाते हैं—

१—पार्श्वनाथ चरित (वादिराज सूरिकृत) इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'श्री' शब्द का प्रयोग है। अर्थात् यह काव्य 'श्र्यंक' है।

२—यशोधर चरित (वादिराज सूरिकृत) यह काव्य भी श्र्यंक है।

३—चन्द्रप्रभ चरित (वीरनंदिकृत) इस काव्य का अंक 'उदय' है। इसके १२वें सर्ग के अन्तिम श्लोक में—'गुरुवचनं हृदयैषिणामलंघ्यं' ऐसा बंबई से प्रकाशित प्रति में छपा है। इसमें 'हृदय' पाठ अशुद्ध है। ह्युदय' पाठ चाहिए तभी अर्थ-संगति होगी और सर्गान्त में 'उदयांक' की सिद्धि होगी।

४—महावीर चरित (अशगकृत) इस काव्य का अङ्क 'सम्पद' है।

५—गौतम चरित (मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रकृत) इसका अङ्क 'सदा' या नित्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६—'भरतेश्वराभ्युदय' अनुपलब्ध (आशाधरकृत) इसका अङ्क 'सिद्धि' है। देखो आशाधरप्रशस्ति,—सिद्ध्यंकं भरतेश्वराभ्युदय सत्काव्यं निबंधोज्ज्वलं।

७—'श्रावक धर्मविधि प्रकरण' (प्राकृत) सिर्फ अन्तिम गाथा १२० में 'विरह' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरिकृत है। इनके और भी ग्रन्थों के अन्त में 'विरह' शब्दाङ्क पाया जाता है। हरिभद्रसूरि नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं किंतु इस विरहांक से यह अलग पहिचाने जा सकते हैं।

८—शासन चतुस्त्रिंशिका (मदनकीर्तिकृत) प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'दिग्वाससां शासनं' पदका प्रयोग है।

कुछ काव्य ऐसे हैं जिनमें कवियों ने अपने नाम का पूर्व भाग या पूरा नाम अंकित किया है वे इस प्रकार हैं—

१—पउम चरिय-प्राकृत (विमलसूरिकृत) इस काव्य के प्रत्येक उद्देश के अन्त में 'विमल' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

२—पद्मचरित (रविषेणकृत) 'रवि' अङ्क का प्रयोग है। किन्तु पर्व ८० के अन्त में 'रवि' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता है। कवि ने वहाँ 'रवि' के पर्यायवाची 'प्रांशुविहारी' शब्द का प्रयोग किया है—खास शब्द के बजाय पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग की भी प्रणाली रही है।

३—आदिपुराण (जिनसेनाचार्यकृत) यह जिनांक है। किंतु पर्व ३१, ३५, ३९ के अन्त में 'जिन' अङ्क नहीं पाया जाता है। कवि ने वहाँ 'जिन' के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है।

ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित संस्करण के पर्व १५ के अन्त में 'जनश्रीः' छपा है वह गलत है। वहाँ 'जिनश्री' शुद्ध पाठ होना चाहिए तभी अर्थ-संगति और अङ्क की निष्पत्ति होगी।

४—हरिवंशपुराण जिनसेन (द्वितीयकृत) यह भी जिनांक है। किन्तु सर्ग ५ और ५६ के अन्त में 'जिन' अङ्क का प्रयोग नहीं पाया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि ने वहाँ 'जिन' के पर्यायवाची 'मुनि' और 'तीर्थकृत्' शब्दों का प्रयोग किया है। माणिकचंद ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित संस्करण के सर्ग ६२ के अन्त में 'जनतया' छपा है जो अशुद्ध है उसकी जगह 'जिनतया' शुद्ध पाठ होना चाहिए तभी अर्थसंगति और जिनांक की निष्पत्ति होगी।

५—प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधरकृत) आशाधरांक है।

६—महापुराण (अपभ्रंश)—पुष्पदंतकृत। इसमें 'पुफ्फयंत—पुफ्फदंत' शब्द का प्रयोग है। कहीं-कहीं पर्यायवाची 'कुसुमयंत' शब्द का भी प्रयोग है। देखो संधि १०, ६ आदि में।

७—यशोधर चरित (अपभ्रंश)—पुष्पदंतकृत। इसमें भी 'पुफ्फदंत' प्रयुक्त है।

८—नागकुमार चरित (अपभ्रंश)—पुष्पदंतकृत। इसमें भी 'पुफ्फयंत' प्रयुक्त है।

९—करकंडु चरित (अपभ्रंश) मुनि कनकामर रचित। इसमें 'कणयामर' प्रयुक्त है।

१०—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पद्मनंदिकृत) प्राकृत। इसमें 'वरपउमणंदि' प्रयुक्त है।

११—श्रावकाचार (अमितगतिकृत) यह अमितगत्यंक है।

१२—त्रैवर्णिकाचार—धर्मरसिक (सोमसेन भट्टारककृत) सब अध्यायों के अन्त में सोमसेन नामांक है। १०वें अध्याय के अन्त में 'सोमदेव' नाम है। 'सोम' का अर्थ चंद्र होता है। अतः ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ में चन्द्रप्रभदेव की स्तुति की है।

१३–१४—पउम चरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (अपभ्रंश)—स्वयंभूकृत। प्रत्येक सन्धि (सर्ग) के अन्त में 'सयंभु' 'सइंभु' स्वनामांक का प्रयोग है।

१५—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (सकलकीर्तिकृत) सर्गों के अन्त में 'सकल' या उसके पर्यायवाची सर्व, समस्त आदि शब्दों का प्रयोग है। इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ के कुल २४ सर्ग हैं। प्रत्येक की आदि में क्रमशः ऋषभादि २४ तीर्थंकरों का मङ्गलाचरण है।

१६—यशस्तिलकचंपू (सोमदेवकृत) प्रत्येक आश्वास के अन्त में अपना नाम दिया है। आश्वास १ के अन्त में लिखा है :—

सोऽयमाशार्पितयशा, **म**हेन्द्रामरमान्यधीः।
देयात्ते संततानंदं **व**स्त्वभीष्टं जिनाधिपः॥

इस श्लोक के चारों चरणों का आदि अक्षर लेने से 'सोमदेव' ग्रन्थकार का नाम निकल आता है। चौथे आश्वास के अन्त में 'सोमदेव' नाम नहीं है। किन्तु 'मया' शब्द से अपनी सूचना की है:—

मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यंति नूनमुच्छिष्टभोजनाः॥

प्रत्येक आश्वास के आदि में मङ्गलाचरण किया है और मङ्गल श्लोकों का प्रारम्भ 'श्री' शब्द से किया है। प्रत्येक आश्वास के अन्त में भी मङ्गल श्लोक दिया है। किन्तु आश्वास ६–७ के अन्त में न तो मङ्गलश्लोक पाया जाता है और न कवि का नाम ही। इसी प्रकार आश्वास ६, ७ और ८के आदि में भी मङ्गलश्लोक नहीं पाये जाते हैं। जब हम इसके कारण पर विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि ५वें आश्वास के बाद जो ३ आश्वास मुद्रित में प्रकट किये गये हैं उन ३ आश्वासों की जगह एक आश्वास होना चाहिए क्योंकि ग्रंथकार ने ५वें आश्वास के अन्त में यशोधर चरित की समाप्ति की सूचना की है और आगे श्रुत पठित उपासकाध्ययन वर्णन करने की बात कही है। जैसा कि उनके निम्नांकित शब्दों से प्रकट है :—

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्॥

यह उपासकाध्ययन चूलिका रूप है और इसके अलग ४६ कल्प—विभाग किये गए हैं। फिर अलग आश्वास करना संगत प्रतीत नहीं होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह ६–७–८ आश्वास–विभाग वाद में किन्हीं लेखकों के द्वारा किया गया सम्भव मालूम होता है, यह कविकृत नहीं है। और इसीलिए इनमें मङ्गलश्लोक नहीं हैं और ६–७ के अंत में कविनाम भी नहीं है।

१७—द्विसंधान (धनंजयकृत) यह महाकाव्य धनंजयांक है।

१८—तत्त्वज्ञान तरंगिणी (ज्ञानभूषणकृत) यह चिदंक है। इसके अध्याय १८, श्लोक २१ में कर्त्ता ने अपना नाम 'चिद्भूषण' सूचित किया है—'तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः।' 'चिद्' का अर्थ 'ज्ञान' भी होता है। अतः ग्रन्थकार का नाम 'ज्ञानभूषण' प्रसिद्ध है।

१९—तिलोय पण्णत्ति (प्राकृत) इसके प्रत्येक अधिकार के अंत में जो शब्द चिह्न दिया है वह ग्रंथकार के नाम पर न होकर ग्रन्थ के नाम पर है। ग्रंथनाम के पूर्वभाग 'तिलोय' शब्द का पर्यायवाची 'तिभवण' या 'लोक' अङ्क का इस ग्रन्थ के प्रत्येक अधिकार की अन्तिम गाथा में प्रयोग किया गया है।

नीचे कुछ ऐसे ग्रन्थों के नाम दिये जाते हैं जिनमें ग्रन्थकार ने अपने नामांक का प्रयोग प्रत्येक सर्ग के अन्त में न करके सिर्फ ग्रन्थ के अन्तिम भाग में ही किया है :—

१—अनगार धर्मामृत (आशाधर कृत)

२—विषापहार स्तोत्र (धनंजय कृत)

३—भव्यजन कंठाभरण (अर्हद्दास कृत)

४—भक्तामर स्तोत्र (मानतुङ्ग कृत)

५—कल्याण मंदिर (कुमुदचंद्र कृत)

६—स्वयंभू स्तोत्र (समंतभद्र कृत)

७—युक्त्यनुशासन (समंतभद्र कृत) ६२वीं कारिका में 'समंतभद्र' शब्द है।

८—अध्यात्मतरंगिणी (सोमदेव कृत)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९—रत्नमाला (शिवकोटि कृत)

१०—भावसंग्रह (देवसेन कृत)

११—आराधनासार (देवसेन कृत)

ग्रंथ के प्रारंभ में भी अपना पर्यायवाची 'सुरसेन' नाम श्लेष रूप से दिया है।

१२—क्षत्रचूड़ामणी (वादीभसिंह कृत) ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक में ग्रंथकार ने अपने नाम के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है जो शब्द-कुशलता को लिये हुए हैं—

सोऽयं दुर्मतकुंजरप्रहरणे पंचाननं पावनं।

(दुर्मत = वादी, कुंजर = इभ, पंचानन = सिंह।)

इस प्रकार के और भी बहुत से ग्रन्थ हैं स्थानाभाव और लेखवृद्धि के कारण उनके नाम छोड़े जाते हैं।

कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जिनमें कवि ने अपना नाम ग्रन्थ के प्रारंभ में श्लेष रूप से सन्निविष्ट किया है:—

१—नीति वाक्यामृत (सोमदेव कृत) सोमदेवं मुनिं नत्वा नीति वाक्यामृतं ब्रुवे।

२—नीतिसार (इन्द्रनंदि कृत) इन्द्रनंदित संपदः (अंत में—शक्रनंदित संपदः)।

३—दर्शनसार (देवसेन कृत) 'सुरसेण' आद्यगाथा में।

४—आराधनासार (देवसेन कृत) 'सुरसेण' आद्यगाथा में।

५—सन्मति सूत्र (सिद्धसेन कृत) नामैकदेश 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग।

इस प्रकार यह जैन काव्यों के अंकों का संक्षिप्त इतिहास है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टोडरमल श्रावकाचार

'मनोमति खंडन्' जिसे बम्बई के श्रीधर शिवलाल के छापे खाने में सं० १९४२ में पं० मन्नालाल जी मानपुर वालों ने छपाया था उसके पत्र तीन में लिखा है।

"बहुरि टोडरमल्ल कृत श्रावकाचार विषै तो जिन विम्ब के केसर चंदनादि का लगवाना निषेध्या है।" इन वाक्यों पर से बहुत से भाइयों की सम्मति बन गई है कि—पूज्यवर पंडित टोडरमल जी का एक श्रावकाचार ग्रन्थ भी रहा है। इस विषय में अजमेर, जयपुर के कुछ स्वाध्याय शील व्यक्तियों ने भी मुझसे कई वार पूछा कि—'क्या आपको कहीं 'टोडरमल श्रावकाचार' देखने में आया है? आज उक्त जिज्ञासा के समाधान रूप में नीचे प्रकाश डाला जाता है :—

१—अनेकान्त वर्ष ४ किरण ८ पृ० ४७३ पर देहली के जैन मन्दिर की शास्त्र-सूची देखते हुए ज्ञानानन्द श्रावकाचार पत्र संख्या २२५ की १ प्रति को पं० टोडरमल्ल कृत बताया है।

२—राजस्थान जैन शास्त्रभंडार, जयपुर की ग्रन्थ सूची भाग २ पृष्ठ १५५ पर ज्ञानानन्द श्रावकाचार पत्र सं० १४४ लिपिकाल १९९० की १ प्रति को पं० टोडरमल्ल जी कृत बताया है।

३—दि० जैन संघ मथुरा से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाश की प्रस्तावना पृ० ४८-४९ पर पं० लालबहादुर शास्त्री ने लिखा है :—

"भाई रायमल्लजी की केवल दो ही रचनायें उपलब्ध हैं एक तो श्रावकाचार है और दूसरी कोई चर्चा सम्बंधी रचना है। बाबा दुलीचंदजी की सूची में इस श्रावकाचार का पूरा नाम ज्ञानानंद निजरस निरभर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावकाचार लिखा है। लेकिन हमारे सामने जो लिखित प्रति मौजूद है उस पर केवल श्रावकाचार लिखा है साथ ही मुख पृष्ठ पर टोडरमल्लजी कृत लिखा है जो लेखक के प्रमाद से ही हुआ जान पड़ता है। इसमें २२७ पृष्ठ हैं और श्रावकाचार की करीब-करीब सभी बातों का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। कुछ बातों का विशेष वर्णन भी है।

आपका दूसरा ग्रंथ चर्चा ग्रंथ है। रायमल्लजी की टोडरमल्ल जी के साथ जो धार्मिक चर्चायें होती थीं उन्हीं का इसमें संग्रह है। इस तरह हम पं० टोडरमल्लजी की तरह ही भाई रायमल्लजी को सरल स्वभावी समाजसेवी और महा परोपकारी पाते हैं। सच पूछा जाय तो उस समय के ये दो ही महानुभाव युग प्रवर्तक थे। एक ने अपने ज्ञान से जनता का स्तर ऊँचा उठाया तो दूसरे ने अपनी सेवाओं से लोगों को नैतिक बल दिया। एक ने अपने प्राणों का बलिदान कर धर्म और समाज की शान कायम रखी तो दूसरे ने अपने सुखों का बलिदान कर धर्म और समाज की सेवा में अपने को खपा दिया। वे दो आत्माएँ थीं जिन्होंने ज्ञान और त्याग के क्षेत्र को अमर बना दिया।"

इन तीनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि—'मनोमतिखंडन्' के कर्त्ता को भी कोई ऐसी ही प्रति मिली जिसमें ज्ञानानंद श्रावकाचार को पं० टोडरमलजी कृत लिखा था, उसी के आधार से उन्होंने भी रायमल्लजी कृत श्रावकाचार को टोडरमल्ल श्रावकाचार लिख दिया। जो उद्धरण 'मनोमतिखंडन्' कार ने दिया है वह (सद्बोध रत्नाकर कार्यालय सागर से वीर नि० सं० २४४५ में मुद्रित) ज्ञानानंद श्रावकाचार के पृष्ठ ९६ पर इस प्रकार पाया जाता है।

"प्रतिमाजी का अंग कै केसर चंदन आदि का चरचन करै नाही.....। मुन महाराज कै भी तिलतुसमात्र ग्रहन न कहा तो भगवान कै केसर आदि का संयोग कैसे चाहिये।" इससे दोनों का एकत्व सिद्ध हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१—मुद्रित ज्ञानानंद श्रावकाचार के अंत में पृ० २९२ पर लिखा है:—इति श्री पं० रायमल जी कृत श्री ज्ञानानंद श्रावकाचार ग्रंथ संपूर्ण। शुभं मंगलं।

२—जैन सिद्धान्त भवन, आरा में ज्ञानानंद श्रावकाचार की २ प्रतियाँ हैं जिनकी पत्र संख्या १३६, तथा २१९ है और जिनका लिपिकाल क्रमशः संवत् १८५८ और १८८८ है। इन दोनों का कर्ता रायमल्लजी को लिखा है।

३—राजस्थान जैन शास्त्रभंडार ग्रन्थ सूची भाग ३ पृ० २८ पर ज्ञानानंद श्रावकाचार की १ प्रति का परिचय इस प्रकार दिया है—कर्त्ता-रायमल्ल, पत्र सं० १११ लिपिकाल १९२६।

४—अनेकांत वर्ष ४ किरण ६–७ पृ० ४२२ पर ज्ञानानंद श्रावकाचार की १ प्रति का परिचय इस प्रकार दिया है, कर्ता–पं० रायमल्ल, पत्र सं० १३१ लिपिकाल १९२९।

५—"दि० जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रंथ" (नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५२ पर ज्ञानानंद श्रावकाचार को रायमल्लजी कृत बताया है।

इन सब उल्लेखों से जाना जाता है कि—ज्ञानानंद श्रावाकाचार के कर्त्ता पं० रायमल्ल जी ही हैं। कुछ प्रतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें कर्त्ता का कहीं नाम नहीं दिया है, हो सकता है इसी से आनुमानिक तौर पर कुछ लिपिकारों ने कर्त्ता के रूप में पं० टोडरमलजी का नाम लिख दिया है किन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ के कर्त्ता टोडरमलजी नहीं हैं क्योंकि उनके अन्य ग्रन्थों की शब्द-शैली इससे नहीं मिलती।

इस ग्रन्थ का पूरा नाम—"ज्ञानानंद पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार" है जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है (देखो मुद्रित ग्रन्थका पृ० २६) "अपने इष्ट देव तांकू विनय पूर्वक नमस्कार करि आगे ज्ञानानंद पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार नाम शास्त्र ताका प्रारम्भ करिये हैं।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस नाम के आदि पद ज्ञानानंद को लेकर लोक में ग्रन्थ का नाम "ज्ञानानंद श्रावकाचार" प्रसिद्ध हो गया है। ज्ञानानंद कोई कर्त्ता का नाम नहीं है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि—पं० टोडरमलजी कृत कोई श्रावकाचार नहीं है। फिर भी यह जरूर है कि—ज्ञानानंद श्रावकाचार शब्दशः टोडरमल जी कृत न होने पर भी अर्थशः उनका माना जा सकता है क्यों कि पं० रायमल्ल जी और पं० टोडरमल जी दोनों धार्मिक और साहित्यिक कार्यों में परस्पर एक दूसरे के साथी थे।

पं० रायमल्ल जी का एक और ग्रंथ हैः— "चरचा (सार) संग्रह"। यह भी पं० टोडरमलजी के नाम पर चढ़ गया है।

अहिंसावाणी (हिन्दी मासिक) जनवरी सन् ५८ के अंक में पृ० ४०५ पर घाटोल वासगंज में 'चरचासार संग्रह' का होना सूचित किया है और उसे टोडरमलजी कृत बताया है।

इस पर हमने श्री कामताप्रसाद जी को लिखकर पूछा तो २८-२-५८ को उनका पत्र आया जिसमें लिखा था—"अहिंसा वाणी" में सूचना प्रचारक जी के विवरण पर प्रगट की थी। उसके पश्चात् हमने वह (चर्चा संग्रह) ग्रन्थ मंगा कर देखा वह पूज्य पं० टोडरमल जी की रचना नहीं है जैसे आप लिखते हैं वह रायमल्लजी का ही हो सकता है, आप चाहें तो घाटोल वालों से मंगवालें हम उनको वापिस भेज रहे हैं।"

पं० रायमल्लजी सा० को हुए मात्र २५० वर्ष हुए हैं फिर भी उनके ग्रन्थों के कर्तृत्व विषय में इस प्रकार के भ्रम प्रचलित हो गए हैं—यह आश्चर्य की बात है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेष्यगिरि नहीं, तक्षकपुर

जैनसंदेश के शोधांक ९ में एक शिलालेख को उद्धृत करते हुए उसके आधार से श्री क्षु० सिद्धसागर जी ने टोडारायसिंह का प्राचीन नाम 'तेष्य गिरि' प्रकट किया है, किन्तु यह गलत है। उद्धृत शिलालेख में 'तेष्यक महादुर्गे' वाक्य दिये हैं कहीं भी 'तेष्य गिरि' नाम नहीं दिया है। अर्ध विदग्ध लेखक ने 'तक्षक' की बजाय 'तेष्यक' लिख दिया है अथवा क्षु० जी ने पढ़ने में गलती की है। 'तेष्य' का संस्कृत में कोई अर्थ भी नहीं होता और न इस नाम की अन्यत्र से कोई उपलब्धि ही होती है। सही पाठ 'तक्षक महादुर्गे' है।[1] अबतक टोडा नगर के विषयमें जितने भी उल्लेख प्राप्त हुए हैं उन सब में टोडा का नाम 'तक्षकपुर, तक्षकनगर, तक्षक गढ़ महादुर्ग' ही दिया है देखो–

१—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह प्रथम भाग पृष्ठ २०६, प्रस्तावना पृष्ठ १०२ और ३९। (तक्षक नगर)

२—भट्टारक संप्रदाय, पृष्ठ १०५, १५१ और ९८ (तक्षकपुर, टोडागढ़ महादुर्ग = विक्रम सं० १४९० से १७६२)

३—प्रशस्ति संग्रह (आमेर भंडार) पृ० ८९, ११३, १६२, १६३ (तक्षक गढ़ महादुर्ग = विक्रम सं० १६१० से १६६४)।

---

१ हस्त लिखित ग्रंथों में 'अंतरीक्ष, को अंतरीष (अंतरीष्य) तथा मनुष्यणी को मनुक्षणी लिखा मिलता है। इससे सिद्ध है कि क्ष को प-ष्य और ष्य को क्ष भी लेखक लिख देते हैं। अतः यहाँ भी तक्षक को 'तेष्यक, लिख दिया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट जाना जा सकता है कि-टोडारायसिंह का प्राचीन संस्कृत नाम 'तक्षकपुर' ही रहा है 'तेष्यगिरि' नहीं।

तक्षक का अर्थ होता है शिल्पकार = कारीगर–जो लकड़ी पत्थर को छीलने काटने का काम करते हैं। टोडा नगर इस काम के लिये प्राचीन समय से काफी प्रसिद्ध रहा है। अब भी वहाँ इमारती पत्थर का कार्य काफी होता है।

इस प्रकार 'तेष्य गिरि' नाम सर्वथा अशुद्ध और भ्रामक सिद्ध होता है। उद्धृत उक्त सं० १६८७ के शिलालेख के अन्त में लिखा है :—

"समस्त महाजन टोडा का निसिहीं प्रणमंति"

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि तक्षकपुर का आम बोलचाल में टोडा यह नाम भी प्रचलित था।

'भट्टारक संप्रदाय पृष्ठ ९८ में वि सं० १४९७ का एक उल्लेख है उसमें भी 'श्री टोडा महादुर्गे' लिखा है इसी तरह पृष्ठ १०५ में सं० १६१५ का उल्लेख है उसमें भी 'टोडागढ़ महादुर्गे' लिखा है।

अतः यह टोडा नाम भी काफी प्राचीन है। यह टोडा नाम कैसे प्रचलित हुआ इस पर जब हम विचार करते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि—टोडियों को संस्कृत में 'मत्त वारण' कहते हैं। इस नगर में टोडियाँ–इमारती कार्य में उपयोग आने वाले पत्थर प्राचीन समय से ही बहुत बनते आ रहे हैं इसी पर से इसका नाम टोडा प्रसिद्ध हो गया है।[1]

---

१. इसे टोडारायसिंह भी कहते हैं इसका कारण यह है कि एक दूसरा टोडा नगर भी है जो 'भीम का टोडा' कहलाता है उससे अलग पहचान के लिए इसे टोडारायसिंह कहते हैं। भीम और रायसिंह ये दो राजा हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ के एक मन्दिर में जो रैण का मन्दिर नाम से प्रसिद्ध है उसमें सैकड़ों की संख्या में हस्तलिखित प्राचीन जैन शास्त्र थे जिन्हें धीरे-धीरे बाहर के लोग ले गये अब तो थोड़े से शास्त्र बचे हैं।

इस मन्दिर को रैण का मन्दिर इसलिए कहते हैं कि पहले इसमें खिरणी जिसे इधर राणी बोलते हैं[1] उसका वृक्ष लगा हुआ था।

इस प्रकार यह टोड़ा नगर का संक्षिप्ततम प्रासंगिक परिचय है।

---

१. राजादनः फलाध्यक्षः क्षीरिकायामथ द्वयोः (अमरकोष, १, ४, ४५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेमिप्रभु की बारात

वीरवाणी वर्ष ३ पृष्ठ २५ पर क्षुल्लक श्री सिद्धसागर जी ने पंडित कैलाशचन्द्र जी कृत 'जैनधर्म' पुस्तक की समालोचना करते हुए लिखा है :—

'नेमिनाथ की बारात का जो वर्णन है वह जूनागढ़ की ओर जाने के साथ दिगम्बरों की मान्यता के अनुसार सम्बन्ध नहीं रखता। जो वैराग्य उत्पन्न करने का छल रचा गया था उसका सम्बन्ध द्वारिका के उद्यान आदि के साथ है इसे पद्मपुराण से जान लेना चाहिए। वरात सजकर जूनागढ़ नहीं गई किन्तु द्वारिका से ही नेमिनाथ दीक्षा के लिए पालकी में बैठकर निकले, बारात जाने की जो कविता या कथा है वह दंतकथा है उसका आधार चित्र है, ।

समीक्षा :—'जैनधर्म' (प्रथम संस्करण) पृ० १८ में लिखा है :—
'जूनागढ़ के राजा की पुत्री राजमती से नेमिनाथ का विवाह निश्चित हुआ, बड़ी धूमधाम के साथ बारात जूनागढ़ पहुँची, इसपर आपत्ति करते हुए क्षुल्लक जी ने नेमिप्रभु की बारात की बात की गलत बताया है। ऐसा ही कुछ अन्य विद्वानों का भी ख्याल है परन्तु यह सब ठीक नहीं है। मन्दिरादि में जो नेमिप्रभु की बारात के चित्र पाये जाते हैं वे शास्त्र संमत ही हैं। उन्हें जो शास्त्राधार से रहित, दन्तकथामात्र या श्वेतांवरों की नकल बताते हैं उन्होंने इस विषय में दि० शास्त्रों का ठीक से अध्ययन नहीं किया है। देखिये—

उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत) पर्व ७१ में लिखा है—

पंचरत्नमयं रम्यं समानयदनुत्तरम् ।
विवाहमंडपं तस्य मध्यस्थे जगतीतले ॥१४९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विस्तृताभिनवानर्घ्यवस्त्रे सौवर्णपट्टके ।
वध्वा सह समापार्द्रतंडुलारोपणं वरः ॥१५१॥
परेद्युः समये पाणिजलसेकस्य माधवः ॥
यियासुर्दुर्गतिं लोभसुतीव्रानुभवोदयात् ॥१५२॥

अर्थ—पंचरत्नों का सुन्दर विवाह-मंडप बनवाया उसके बीच में वेदी बनवाई जिसके ऊपर विस्तृत बहुमूल्य वस्त्र तना हुआ था वहाँ सुवर्ण की चौकी पर नेमिकुमार ने वधू राजमती के साथ—चावलों के पौधे रोपने (अंकुरारोपण) की विधि सम्पन्न की । दूसरे दिन हाथ में जलधारा देने के समय [illegible] श्रीकृष्ण के विचार लोभ कषाय से अभिभूत हो गये ।

इससे साफ सिद्ध है कि नेमिप्रभु राजमती से विवाह के लिए उग्रसेन के यहाँ (जूनागढ़) गये थे अतः उनकी बारात की बात भी स्वतः सिद्ध हो जाती है ।

नेमिनिर्वाण (वाग्भट कृत) पर्व १२ में लिखा है—

विवाहार्थं प्रतिष्ठासुरुग्रसेनपुरीं प्रति ।
अंगीचकार नेपथ्यं नेमिनाथो यथा विधि ॥१॥
समेत बंधुवर्गस्य वरस्यास्य प्रसर्पतः ।
संबंधितः पुरे वार्ता सह तूर्यरवैरगात् ॥२६॥

जगत्त्रय वरस्यास्य वरस्यालोकहेतवे ।
जवान्नगरनारीभिरध्यासे सौधमूर्धसु ॥४९॥
इत्थं पुरपुरंध्रीणां शृण्वन्नन्योन्यसंकथाः ।
नेमिः समासदत्तत्र द्वारं संबंधिनः शनैः ॥६९॥

दूर्वाक्षतैर्मलयजेन घनेन दध्ना,
विभ्राजितं कनकभाजनमाददाना ।
तत्रोग्रसेननृपतेर्दयिता वरस्य,
कर्तुं विवाहमहमंगलमग्रतोऽभूत् ॥७०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ--विवाह के लिए उग्रसेन की नगरी को प्रयाण करने के इच्छुक नेमिप्रभुने अलंकार धारण किये। बंधु बांधवों के साथ वर के प्रस्थान करने की सूचना तुरही के शब्दों के साथ समधी के नगर में पहुँची, तीन लोक के वर ऐसे नेमिनाथ वरको देखनेके लिए भगकर नगरकी स्त्रियाँ मकानों के ऊपरी खंड पर जा बैठीं और परस्पर नेमिनाथ के रूप की चर्चा करने लगीं जिसे सुनते हुए नेमिप्रभु धीरे-धीरे समधी के गृह द्वार पर पहुँचे। वहाँ मांगलिक द्रव्यों के साथ सुवर्ण पात्र को हाथ में लिये उग्रसेन की रानी ने वर की अगवानी की।

पांडव पुराण (शुभचन्द्र कृत) पर्व २२ में लिखा है—

विवाहार्थं जिनो गच्छन्वीक्ष्य बद्धान् बहून्पशून्।
पृष्ट्वा तद्रक्षकानाप वैराग्यं रागदूरगः ॥४३॥

अर्थ--नेमिकुमार ने विवाह के लिए प्रस्थान किया और बँधे हुए पशुओंको देखा तथा इसका कारण जानकर उन्हें वैराग्य हो गया।

इन्हीं संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर प्राचीन हिन्दी कवियों ने भी नेमिप्रभु के विवाह-बारात का हृदयग्राही वर्णन किया है। देखिए—

१—विनोदीलाल जी कृत 'बारहमासा' (राजुल नेमिका)

तुम आगे आषाढ़ में क्यों न लियो
व्रत काहें को एती बारात बुलाई॥
अरु छप्पन कोड जुड़े यदुवंशी
व्याहन आय निशान बजाई॥
संग समुद्र विजय बलभद्र मुरारि हु
की तुम्हें लाज न आई॥
नेमि पिया उठ आवो घरे
इन बातन में कहो कौन बड़ाई॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१—खेमचन्द्रजी कृत 'नेमिव्याह'

समुद्र विजय यादव नृपति तिन सुत नेमकुमार।
जूनागढ़ व्याहन चले उग्रसेन दरबार ॥

३—विनोदीलालजी कृत 'नेमिव्याह'

मौर धरो शिर दूलह के
कर कंकण बाँध दई कस डोरी।
कुण्डल कानन में झलके अति,
भाल में लाल बिराजत रोरी।
मोतिन की लड़ शोभित है छवि
देखि लजे बनिता सब गोरी।
लाल विनोदि के साहिब को मुख
देखन को दुनिया उठ दौरी।

'गिरिनार गौरव' (पृ० २६) में इतिहासज्ञ विद्वान् बाबू कामता-प्रसादजी ने भी लिखा है—

'जब नेमिकुमार का विवाह होने लगा और बारात जूनागढ़ गई तब एक करुणाजनक दृश्य ने उन्हें संसार से विरक्त कर दिया, तोरण द्वार से वह लौट गये।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि—नेमिकुमार विवाह के लिए बारात सजाकर गये थे। पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने जो इस विषय में लिखा है वह गलत नहीं है बल्कि शास्त्राधार से युक्त है।

क्षुल्लक जी ने अपने कथन के समर्थन में यह लिखा है कि 'इसे पद्म-पुराण से जान लेना चाहिए, सो बिलकुल भ्रान्त है क्योंकि पद्मपुराण में एतद्विषयक कहीं कोई कथन नहीं है।

हरिवंश पुराण (सर्ग ५५ श्लोक ७१ से २०८) में जरूर क्षुल्लकजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का कथन पाया जाता है यानी उसमें नेमिकुमार का विवाहार्थ प्रस्थान करने का वर्णन नहीं है किन्तु मात्र हरिवंशपुराण के आधार से नेमिनाथ की बारात के वर्णन को दन्तकथा कहना, किसी लेखक के ऐसे कथन पर आपत्ति करना, ऐसे चित्रादि को गलत और दिगम्बर विरुद्ध बताना, तो उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अन्य अनेक ग्रन्थों में स्पष्टतया नेमिप्रभु की बारात का वर्णन है अतः उत्तरपुराण, नेमिनिर्वाणादि प्राचीन मान्य ग्रन्थों के आधार से नेमिप्रभु की बारात की बात को सही ही समझना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह अष्टमूल गुण-प्रतिपादक श्लोक किसका है ?

गवेषक विद्वान् अनुसंधान करें

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्म परिग्रहाच्च वादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद् विरतिर्गृहिणोऽष्ट (सन्त्यमी) मूलगुणाः ॥

इस श्लोक को विद्वान् अष्ट मूलगुणों के विवेचन में जिनसेन और उनके आदिपुराण के नाम से देते हुए देखे जाते हैं पर खोज करने पर भी यह श्लोक समग्र महापुराण में कहीं नहीं मिला, समझ में नहीं आता यह श्लोक जिनसेन के नाम पर कैसे चढ़ा दिया गया ? जहाँ तक मेरा खयाल है सर्वप्रथम पण्डितवर्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने करीब तीस वर्ष पहिले "जैनाचार्यों का शासनभेद" नाम के अपने ट्रेक्ट में इस श्लोक को आदिपुराण के प्रणेता श्री जिनसेनाचार्य के नाम से उद्धृत किया था फिर तो इसकी परम्परा चल पड़ी और विद्वानों ने विना इस बात की स्वयं जाँच किये कि—यह आदिपुराण के किस पर्व का कौन से नम्बर का श्लोक है, योंही जिनसेन के नाम से इस श्लोक को देना शुरू कर दिया; यथा पण्डित हीरालाल जी ने वसुनन्दि श्रावकाचार की अपनी प्रस्तावना पृष्ठ ३५ पर, पण्डित दरबारीलाल जी सत्यभक्त ने "जैनधर्म मीमांसा" भाग ३ पृष्ठ ३२२ पर, स्व० मास्टर विहारीलालजी ने "बृहज्जैन शब्दार्णव" भाग २ पर, श्री भँवरलालजी पोल्याका शास्त्री ने "वीरवाणी" वर्ष ९ अंक १९-२० पृष्ठ २३० पर इसका उल्लेख किया है ।

इसके लिए मैंने दो-तीन विद्वानों से पत्र-व्यवहार भी किया पर किसी ने कोई समुचित उत्तर नहीं दिया ।

अब मैं यह बताना चाहता हूँ कि—जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्व ३८ श्लोक १२२ में कुछ जुदे ही आठ मूलगुण बताये हैं यथा—मधु-मांसपरित्यागः पंचौदुंबरवर्जनम्। हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्व-कालिकम् ॥ (मधुत्याग, मांसत्याग, पंचौदुम्बर त्याग, हिंसादि पाँच पापों का त्याग इस प्रकार आठ सार्वकालिक व्रत—मूलगुण होते हैं)। ऐसी हालत में यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि—फिर विद्वान् इन मूल-गुणों का जिनसेन के नाम से उल्लेख न कर उस अनुपलब्ध श्लोक का क्यों उल्लेख करते हैं ? प्रतीत होता है कि—पर्व ३८ का यह उपलब्ध श्लोक सम्भवतः विद्वानों के ध्यान में ही नहीं है, वे तो एक दफे जो परम्परा चल पड़ी उसी का अनुसरण करते हैं। इस विषय में एक बात और जानने योग्य है वह यह कि—

चारित्रसार (शास्त्राकार पृष्ठ ३०) में चामुण्डराय जी ने 'तथा चोक्तं महापुराणे' लिखकर यह "हिंसाऽसत्यस्तेय" नाम का श्लोक उद्धृत किया है सम्भवतः इसी का अनुसरण कर सागारधर्मामृत अध्याय २ श्लोक ३ के स्वोपज्ञ भाष्य में पण्डित आशाधर जी ने भी 'महापुराण मते तु स्मरेत्', लिखकर पंजिका में इस श्लोक को उद्धृत किया है। पर इन दोनों विद्वानों ने आचार्य जिनसेन का और पर्व श्लोक संख्यादि का कोई उल्लेख नहीं किया है अतः इस बात की सख्त जरूरत है कि—यह श्लोक किस ग्रन्थ का है और उसका कर्त्ता कौन है तथा पर्व और श्लोक संख्या उसकी क्या है, इसका पूरा पता लगाया जाय।

अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार से सम्पादित महापुराण के ज्ञानपीठ प्रकाशन की श्लोक सूची बड़ी सावधानी के साथ देखी गयी पर वहाँ हमें इस श्लोक का कोई पता नहीं लगा, हो सकता है चारित्रसार और सागारधर्मामृत में उल्लिखित 'महापुराण' जिनसेन कृत न होकर किसी अन्य कवि कृत हो और अगर जिनसेन कृत ही हो तो फिर ऐसी हस्त-लिखित प्रति की खोज होनी चाहिये जिसमें यह श्लोक पाया जाता हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशाधर जी ने जहाँ भी जिनसेन के महापुराण से कुछ उद्धृत किया है वहीं महापुराण या जिनसेन का नामोल्लेख न करके सिर्फ 'इत्यार्षे' लिखा है और साथ में पर्व संख्या दी है। अगर यह श्लोक जिनसेन गुणभद्र के महापुराण का होता तो वे अवश्य इत्यार्षे लिखकर पर्व संख्या भी देते अतः यह श्लोक किसी अन्य महापुराण का ज्ञात होता है, सम्भव है मल्लिषेण कृत महापुराण का हो।

जिनसेन के महापुराण का इस श्लोक को मानने में सबसे बड़ी बाधा यह भी आती है कि पर्व ३८ के श्लोक १२२ के कथन के साथ इसमें भिन्नता पाई जाती है। अतः अन्वेषक विद्वानों का कर्तव्य हो जाता है कि वे इस श्लोक के ठीक उद्गम स्थान का पता लगायें। तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी यह श्लोक कहीं उद्धृत हुआ हो तो उससे सूचित करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नौ बलदेवों के नाम और पद्मचरित

निम्नांकित दिगम्बर ग्रन्थों में ९ बलदेवों के नाम इस प्रकार दिये हैं:–

१—'तिलोयपण्णत्ती' अधिकार ४ गाथा १४११ ।

विजयो अचलो धम्मो सुप्पह णामो सुदंसणो णंदी ।
णंदिमित्तो य रामो पउमो णव होंति बलदेवा ॥

१ विजय, २ अचल, ३ धर्म, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ नन्दी, ७ नन्दिमित्र, ८ राम, ९ पद्म ये नव बलदेव होते हैं ।

२—ऐसा ही 'तिलोयसार' गाथा ८२७ में है ।

३—'वरांग चरित, सर्ग २७ में भी ऐसा ही लिखा है—

गुणैरुपेतो विजयोऽचलश्च धर्मस्ततोऽभूदथ सुप्रभश्च ।
ततः सुदृष्टोऽपि च नंदिनामा स्यान्नंदिमित्रश्च हि रामपद्मौ ॥४३॥

४—यही 'हरिवंश पुराण' पर्व ६० में लिखा है :—

विजयोऽचलः सुधर्माख्यः सुप्रभश्च सुदर्शनः ।
नंदी च नंदिमित्रश्च रामः पद्मो बला नव ॥२९०॥

५—'गौतम चरित' (मंडलाचार्य धर्मचन्द्रकृत) अधि० ५ श्लोक १५८-१५९ :—

प्रथमो विजयाभिख्योऽचलः सुधर्मसुप्रभौ ।
स्वयंप्रभस्तथा नंदी नंदिमित्राभिधः क्रमात् ॥
रामः पद्मो बलाः प्रोक्ताः जिनदीक्षाप्रधारकाः ।
मोहमदनजेतारो निर्निदानास्तथोर्ध्वगाः ॥

इसमें और नाम तो पूर्ववत् दिये हैं किन्तु ५वां नाम 'सुदर्शन' की जगह 'स्वयंप्रभ' दिया है यह अंतर है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६—एक 'जिनवाणी संग्रह' में पृष्ठ ६२२ पर इस प्रकार नाम दिये हैं–

१ विजय, २ अवध, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ आनन्द, ७ नंदननंद, ८ पद्म-रामचंद्र, ९ बलभद्र। (ये नाम और भी विशेष अन्तर को लिए हुए हैं न जाने कहाँ से संग्रह किये हैं)।

७—उत्तरपुराण (गुणभद्र कृत) त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र (आशाधर कृत) अपभ्रंश महापुराण (पुष्पदन्त कृत) में भी 'तिलोयपण्णत्ती' के समान नाम दिये हैं किन्तु छठा नाम पूरा 'नंदिषेण' दिया है।

अब श्वेताम्बर आम्नाय में ये नाम किस प्रकार दिये हैं यह बताया जाता है :—

१—'अभिधान चिन्तामणी' शब्दकोश (हेमचन्द्र कृत) काण्ड ३

अचलो विजयो भद्रः सुप्रभश्च सुदर्शनः।
आनंदो नंदनः पद्मो रामः शुक्ला बलास्त्वमी ॥३६२॥

१ अचल, २ विजय, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ आनन्द, ७ नंदन, ८ पद्म, ९ राम। ये ९ बलदेव हैं जिनका वर्ण श्वेत है।

२—'विचारसार प्रकरण' (प्रद्युम्न सूरि कृत) गाथा ५६७ में भी इसी प्रकार लिखा है—

अयले विजये भद्दे सुप्पभे य सुदंसणे।
आणंदे नंदणे पउमे रामे आवि अपच्छिमे ॥

३—विमल सूरि कृत 'पउमचरिय' पर्व ५ गाथा १५४ में भी ऐसा ही लिखा है—

अयलो विजओ भद्दो सुप्पभ सुदंसणो य नायव्वो।
आणंदो नंदणो पउमो नवमो रामो य बलदेवो ॥

ऐसा ही पर्व ७ गाथा ३५ में लिखा है।

४—प्रवचनसारोद्धार और समवायांग सूत्र में भी ये ही नाम दिये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन उल्लेखों के आधार पर दिगम्बर श्वेताम्बर आम्नाय के नामों में परस्पर क्या अन्तर है यह नीचे बताया जाता है :—

दिगम्बर आम्नाय में पहिला दूसरा नाम विजय अचल है श्वेताम्बर में अचल विजय है इस तरह परस्पर उलटे नाम हैं। दिगम्बर में तीसरा नाम 'धर्म' है श्वेताम्बर में 'भद्र' है। दिगम्बर में छठा सातवां नाम नंदि, नंदिमित्र है, श्वेताम्बर में 'आनन्द, नंदन, है तथा दिगम्बर में ८वें ९वें नाम क्रम से 'राम' 'पद्म' हैं जब कि श्वेताम्बर में 'पद्म' 'राम' हैं दोनों संप्रदायों के नामों में इस प्रकार काफी अन्तर है।

दिगम्बर आम्नाय में रविषेणाचार्य कृत एक 'पद्मचरित' ग्रन्थ है उसमें कहीं भी बलदेवों के ९ नाम नहीं पाये जाते हैं, उसके पर्व २० में ६३ शलाका पुरुषों का विस्तृत वर्णन है पर वहाँ भी बलदेवों के ९ नाम उपलब्ध नहीं होते हैं। इसका क्या कारण है यह कुछ समझ में नहीं आता।

पद्मपुराण-वचनिका पर्व २० में पं० दौलतरामजी ने ९ बलदेवों के नाम इस प्रकार दिये हैं—

१ अचल, २ विजय, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ नंदिमित्र, ७ नंदिषेण, ८ रामचंद्र, ९ पद्म। मूल में ये नाम नहीं हैं फिर पंडितजी ने कहाँ से दिये हैं यह कुछ पता नहीं लगता।

ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित संस्करण भाग १ पृ० ४४२ में संपादक जी ने भी पं० दौलतरामजी की तरह बलदेवों के ९ नाम दिये हैं किन्तु ८वां और ९वां नाम इस क्रम से दिया है—रामचंद्र (पद्म) और बल। संपादकजी ने भाग ३ पृष्ठ ४६ के पाद टिप्पण में भी बलदेवों के ९ नाम दिये हैं जो बिल्कुल श्वे० आम्नाय अनुसार है ऐसा किस आधार से किया गया है वहाँ यह कुछ सूचित नहीं किया है संभवतः विमलसूरि के 'पउमचरिउ' से ये नाम दिये हों, अस्तु। मूल 'पद्मचरित' पर्व २५ श्लो० ३४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में प्रथम बलभद्र का नाम 'विजय' दिया है और पर्व ७३ श्लोक ९९ में 'विजय और अचल सिर्फ ये २ नाम दिये हैं इनसे साफ मालूम होता है कि रविषेण ने ये नाम दि० आम्नाय के क्रम से दिये हैं किन्तु पं० दौलतराम जी ने और संपादक पं० पन्नालाल जी ने 'अचल विजय' इस श्वे० क्रम से अपने अनुवादों में नाम दिये हैं। (रविषेण ने पर्व २० श्लो० २४४-२४५ में प्रतिनारायणों के नाम दि० क्रम से दिये हैं किन्तु पं० पन्नालालजी सा० ने भाग ३ पृष्ठ ४६ के पाद टिप्पण में ये नाम श्वे० क्रमानुसार दिये हैं शायद यह भी विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के अनुसार किया गया है)।

यहाँ मैं पाठकों को यह बताना आवश्यक समझता हूँ कि—श्वेताम्बर आम्नाय में ८वें बलदेव का नाम 'पद्म' माना गया है जब कि दि० आम्नाय में 'पद्म' नाम ९वें बलदेव का माना है यह दिगम्बर, श्वेताम्बर में खास अन्तर है। किसी भी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ में ८वें बलदेव 'राम' का नाम 'पद्म नहीं दिया गया है किन्तु रविषेण ने 'पद्म' नाम दिया है देखो पर्व २५, श्लोक २२ आदि, और उसी के अनुसार ग्रन्थ का नाम 'पद्मचरित' रखा है। दिगम्बर रविषेण ने इस श्वेताम्बर आम्नाय को क्यों अपनाया ? इसका कारण विमलसूरि का 'पउमचरिउ' है। अगर रविषेण पद्म नाम में परिवर्तन करते तो उन्हें सारे ग्रन्थ में काफी (आमूलचूल) परिवर्तन करना पड़ता अतः विवश हो उन्हें श्वेताम्बर परम्परा को अपनाना पड़ा—ऐसा प्रतीत होता है और शायद इसी से उन्होंने बलदेवों के ९ नाम दिये हैं।

इसी प्रसंग में मैं पाठकों को एक-दो बातें और बताना चाहता हूँ—

१—वैदिक संप्रदाय में वाल्मीकि कृत एक प्राचीन रामायण ग्रन्थ है जिसको लेकर विमलसूरि ने अपना 'पउमचरिउ' बनाया है उस वाल्मीकि रामायण में भी कही राम का नाम 'पद्म' नहीं पाया जाता, तुलसीदासजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृत रामचरितमानस में भी राम का 'पद्म' नाम नहीं दिया है। वैदिक संप्रदाय में व्यासमुनि कृत 'पद्मपुराण' नाम का भी एक प्राचीन ग्रन्थ है उसमें भी 'पद्म' नाम राम का नहीं दिया है किन्तु उत्थानिका में पद्म-योनि = ब्रह्मा और पद्मनाभ = विष्णु के नाम पर उसका नाम 'पद्मपुराण' रखा प्रतीत होता है।

इस तरह वैदिकों में भी 'राम' का 'पद्म' नाम नहीं पाया जाता। जहाँ तक मेरा अनुमान है यह 'पद्म' नाम विमलसूरि के पउमचरिउ से प्रचलित हुआ है और श्वेताम्बर सम्मत है।

२—ज्ञानपीठ से प्रकाशित रविषेणाचार्य कृत 'पद्मचरित' भाग १ में ग्रन्थमाला के संपादकों ने अपने 'संपादकीय' में लिखा है—

"जैन परम्परा में राम को त्रेसठशलाका पुरुषों में वासुदेव के रूप में गिना गया है।"

विद्वान् संपादकों ने जो राम को जैन परम्परा में वासुदेव (नारायण) बताया है वह गलत है, जैन परम्परा में राम को ८वां बलदेव माना है वासुदेव (नारायण) नहीं, उन्हें वासुदेव तो वैदिक संप्रदाय में माना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'पद्मचरित' में गंधर्व देवादि का मद्य पान

वि० सं० २०१६ भाद्रपद के 'जैन-महिलादर्श' में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पद्मपुराण प्रथम खण्ड की समालोचना करते हुए लिखा है कि—"इसके पर्व १७ श्लोक २६८ में सम्पादक महोदय ने 'मद्यं पीतवान्, पाठ रखकर गंधर्व देव को मद्यपायी बताया हैं—यह देवावर्णवाद है, इस कथन से जैन लोग भी जैनेतरों की तरह देवताओं को मद्य चढ़ाने लगेंगे। जब कि जैन शास्त्रों में बताया है कि—देवता मद्य-पान नहीं करते। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के संस्करण में 'मद्यं पीतवान्' की जगह 'सद्यः प्रीतवान्' ठीक पाठ है वही होना चाहिए।"

जब हमने ग्रन्थ उठाकर देखा तो ज्ञात हुआ कि--सम्पादक महोदय पर लगाया गया उक्त आरोप बिल्कुल मिथ्या है, नीचे उसीका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

सम्पादकजी ने 'मद्यं पीतवान्' पाठ अपना मनःकल्पित नहीं रखा है, ऐसा पाठ प्रतियों में मिलने से तथा यही पाठ प्रकरण संगत और शुद्ध होने से रखा है[1]। आगे के सम्बद्ध श्लोक नं० २७० में साफ तौर से 'कादम्बरी[2]' (मदिरा) का उल्लेख किया गया है। इसीको दृष्टि में रखकर सम्पादकजी ने संदर्भानुकूल उक्त पाठ चुना है।

'सद्यः प्रीतवान्' पाठ तो असंगत ही नहीं निरर्थक भी है तथा संस्कृत रचना की दृष्टि से भी गलत है फिर भी सम्पादकजी ने उसे पाद टिप्पण में प्रदर्शित कर दिया है। इस तरह सम्पादक महोदय का कार्य तो

---

१. प्रमोदवानसौ मद्यं पीतवान् सुमहागुणम्।

२. उपदेशो (उपदंशो) हि गातव्यं कादम्बर्यामनुत्तमम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सावधानता पूर्ण और साधार है, ऐसी हालत में वे तो आरोप से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं और उक्त सिद्धान्त-विरुद्धता का आरोप स्वयं ग्रन्थकार रविषेण आचार्य पर आ पड़ता है।

इस विषय में पाठकों की जानकारी के लिए थोड़ा सा प्रकाश और डाला जाता है। पं० दौलतराम जी ने अपनी हिन्दी वचनिका में गंधर्व देव के मद्य पान के इस कथन को साफ छोड़ दिया है। पण्डित जी सा० ने मूल ग्रन्थ की और भी बहुत सी आपत्तिजनक बातों को इसी तरह छोड़ा है।

यह कथन क्षेपक भी नहीं है प्रकरण को देखने से मूलग्रंथकार कृत ही ज्ञात होता है, किसी भी प्रति में इसका अभाव भी नहीं पाया जाता है।

'पद्मचरित' में मद्य पान का एक और कथन पाया जाता है। देखो पर्व ११८ वहाँ बताया है कि—"शोकाकुल राम मृत लक्ष्मण को चषक (मदिरा पात्र) से उत्तम मदिरा पीने के लिए अनुरोध करने लगे[1]।" ऐसा ही विमलसूरि के प्राकृत 'पउम चरिय' पर्व ११३ गाथा १० में बताया है[2]। इस कथन को आपत्ति जनक समझ कर पं० दौलतराम जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार कर डाला कि—"हे लक्ष्मीधर यह नाना प्रकार की दुग्धादि पीवने योग्य वस्तु सो पीवो, ऐसा कह करि भाई कूं दुग्धादि प्याया चाहे सो कहा पीवे।"

मूल में कहीं भी दुग्धवाची शब्द नहीं है फिर भी पण्डित जी ने ग्रंथ पर कोई आपत्ति न आवे इसलिए ऐसा अर्थ कर दिया है।

---

१. इयं श्रीधर ते नित्यं दयिता मदिरोत्तमा।
इमां तावत्पिब न्यस्तां चषके विकचोत्पले ॥१५॥

२. एसा य उत्तमरसा णिययं कादम्बरी तुमं इट्ठा।
पियमु चसएसु लक्खण उप्पल सुरहिगंधड्ढा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ एक शंका हो सकती है कि—जैसे पर्व ११८ में 'मदिरा' का 'दुग्ध' अर्थ किया है वैसा ही पर्व १७ में क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि सभी जाति के देव मद्य पान करना तो दूर रहा किसी प्रकार का भी कवलाहार नहीं करते, ऐसी जैनमान्यता है[1]। इसलिए पण्डित जी ने पर्व १७ से 'मद्य' का अर्थ 'दुग्ध' न करके उस कथन को ही छोड़ दिया है। इस सबसे स्पष्ट है कि पं० दौलतराम जी को भी ये कथन सिद्धांत-विरुद्ध प्रतीत हुए हैं।

"जो सुरा (मदिरा) पीते हैं उन्हें सुर (देव) कहते हैं[2]" ऐसी किसी लौकिक व्युत्पत्ति को लक्ष्य में रख कर संभवतः रविषेण आचार्य ने गंधर्व देव को मद्यपायी बताया है। खैर, कुछ भी हो, है यह जैन सिद्धांतविरुद्ध, देखो—तत्त्वार्थवार्तिक अ० ६ सूत्र १३।[3]

इस पर विचार करते हुए २८ जनवरी ६० के जैन गजट में 'प्रथमानुयोग' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है नीचे उस पर समीक्षात्मक रूपसे कुछ विचार किया जाता है।

जैन गजट के उक्त अंक में लिखा है—

'दर्शन' और 'समय' शब्द के अनेकों अर्थ होते हैं किन्तु जहाँ जैसा प्रकरण हो वहाँ वैसा अर्थ जानना, इसी प्रकार 'मद्य' शब्द का यद्यपि रूढि अर्थ मदिरा (शराब) है किन्तु यौगिक अर्थ आनन्द व हर्ष भी है क्योंकि 'मद्य' शब्द 'मद्' (मदि) धातु से बना है। 'मद्' का अर्थ आनन्द मनाना, या आनन्दित होना, भी है।

---

१. भाव संग्रह प्राकृत गाथा। ११२—
"देवेसु मणाहारो" (देवताओं के मानसिक अमृताहार होता है)

२. सुरा एषाभस्तीति वा यतोऽब्धिजा सुरा तैः पीता इति सुराः—
अमरकोष की क्षीरस्वामी कृत टीका।

३. सुरा मांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री रविषेण कृत संस्कृत पद्मपुराण पर्व १७ श्लोक २६८ में 'मद्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ पर प्रकरणानुसार मद्य का अर्थ शराब नहीं जानना चाहिये किन्तु 'आनन्द, ग्रहण करना चाहिये। गुफा में स्थित अञ्जना पर आये हुए सिंह के उपद्रव को दूर कर गंधर्व देव बड़ा हर्षित हुआ और महागुणकारी मद्य (आनन्द) का पान किया। यह मद्य (आनन्द) परोपकार से उत्पन्न हुआ था अतः इसका विशेषण 'महा-गुणकारी' दिया गया है। प्रकरण अनुसार 'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' न कर किन्तु 'शराब' अर्थ करके आचार्यों की भूल दृष्टिगत होने लगती है क्योंकि देव मदिरा—शराब का पान नहीं करते। अपनी भूल को आचार्यों के सिर पर थोपना अनुचित है।'

समीक्षा—एक शब्द के अनेक अर्थ होने का यह तात्पर्य नहीं है कि मनमाने अर्थ भी हो जाते हों। 'मद्य' का अर्थ किसी भी कोश में 'आनन्द' नहीं दिया है—न किसी साहित्यिक ग्रन्थ में 'मद्य' शब्द 'आनन्द' अर्थ में प्रयुक्त पाया जाता है क्योंकि ऐसा अर्थ व्याकरण से निष्पन्न नहीं होता। ऐसा अर्थ 'मद' शब्द का जरूर हो सकता है किन्तु 'मद' और 'मद्य' में बहुत अन्तर है; 'मद्य' शब्द 'मद्' धातु से करण कारक अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है जिसका अर्थ होता है—'जिससे मस्ती हो ऐसा पदार्थ यानि शराब'।

थोड़ी देर के लिए किसी तरह 'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' मान भी लिया जाय तो निम्नांकित आपत्तियाँ खड़ी होती हैं—

(१) ऐसा अर्थ मानने पर अर्थ संगति नहीं बैठती क्योंकि ग्रन्थकार ने गंधर्वदेव के हर्षित होने के अर्थ में तो पहले से ही 'प्रमोदवान्' पद का प्रयोग किया फिर आनन्द को पान करने की बेतुकी सी और पुनरुक्त बात वे कैसे लिख सकते हैं यह सोचने की बात है।

(२) ऐसा अर्थ संभव ही होता तो पं० दौलतराम जी को इसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद नहीं छोड़ना पड़ता और न 'मद्यं पीतवान्' की जगह 'सद्यः प्रीतवान्' पाठ भेद होने का ही अवसर आता।

(३) 'आनन्द' वाचो अनेकों शब्द हैं उनका कोई अकाल नहीं पड़ गया था जो कवि महोदय उस अर्थ में वेतुके और विचित्र इस 'मद्य' शब्द का प्रयोग करते।

इससे अच्छी तरह समझा जा सकता है कि—'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' नहीं होता। इसके सिवा एक बात और है—श्लोक २६८ में ही शराबवाची 'मद्य' शब्द नहीं पाया जाता है बल्कि उसी प्रसंग में आगे ही श्लोक २७० में शराबवाची 'कादम्बरी' शब्द का और प्रयोग पाया जाता है। 'जैन गजट' के लेखक जी ने अपने लेख में यह कहीं नहीं बताया है कि 'कादम्बरी' का आनन्द अर्थ कैसे होगा ?

इस तरह साफ मदिरा पान की बात के रहते हुए भी उससे किनारा-कसी करके समाधान का प्रपंच करना ठीक नहीं।

'पद्मचरित' में एक और प्रकरण है जिससे भी यक्ष राक्षसादिकों के कवलाहार की अभिव्यक्ति होती है देखो पर्व १४ श्लो० २७१—

डाकिनी प्रेत भूतादि कुत्सित प्राणिभिः समं। भुक्तं तेन भवेद्येन न क्रियते रात्रिभोजनम्॥ (जो रात्रि में भोजन करता है वह डाकिनी प्रेत भूतादि नीच प्राणियों के साथ भोजन करता है)

इन्हीं के अनुसर्त्ता मेधावी ने अपने 'धर्म संग्रह श्रावकाचार' अध्याय ६ श्लोक २१ में और यशःकीर्ति ने 'प्रबोधसार' अ० २ श्लोक ५१ में ऐसा ही लिखा है।

स्वयंभूने अपने 'पउम चरिउ' (ज्ञानपीठ से प्रकाशित हिन्दी अनुवादात्मक भाग २ पृष्ठ २२८-२२९) में रात्रि भोजन[1] त्याग का वर्णन करते हुए लिखा है:—

---

१. हिन्दी अनुवादक ने पृ० २२१, २२९ में अणत्थमिए (अनस्तमित)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"गंधर्वदेव दिन के पूर्व में" सभी देव दिन के मध्य में, पिता पितामह दिन के अंत में तथा राक्षस भूत पिशाच और ग्रह रात्रिमें खाते हैं।"

ऐसा ही मेधावी कृत धर्म संग्रह श्रावकाचार अ० ६ श्लोक ३१-३२ में लिखा है।

'पद्मचरित' में कुछ और सिद्धान्त व दि० आम्नाय विरुद्ध कथन पाये जाते हैं:—

(१) देखो पर्व १२३, इसमें बताया है कि—१६वें स्वर्ग का प्रतीन्द्र (सीता का जीव) रावणादि को संबोधने के लिए तीसरे नरक में गया। जब कि धवला पुस्तक ४ पृष्ठ २३८-२३९ में बताया है कि—१२ वें से १६ वें स्वर्ग के देव नीचे प्रथम नरक के चित्रा भाग से आगे नहीं जाते। राजवार्तिक अ० सूत्र २२ में भी उक्त देवों का इतना ही क्षेत्रस्पर्श बताया है—इससे 'पद्मचरित' का कथन धवलादि से विरुद्ध परिलक्षित होता है।

(२) 'पद्मचरित' में ८ वें बलभद्र रामचन्द्रजी का नाम 'पद्म' दिया है किन्तु प्राचीन समस्त दि० ग्रन्थों में 'पद्म' नाम ९ वें बलभद्र का दिया है ८ वें का 'राम' दिया है। देखो तिलोयपण्णत्ती, तिलोयसार, हरिवंश-पुराण, वरांगचरित, उत्तरपुराण आदि ग्रंथों में नव बलदेवों के नाम। अतः रविषेण ने 'पद्म' नाम पर से ही जो ग्रन्थ का नाम 'पद्म-चरित' दिया है वह सब दि० आम्नाय विरुद्ध प्रतीत होता है।—राम का 'पद्म' नाम श्वेताम्बरों में ही माना गया है दिगम्बरों में नहीं। इस प्रकार पद्म-चरित में जो ये दो विपरीत कथन पाये जाते हैं इनका कारण विमल-सूरि कृत 'पउम-चरिय' (श्वे०) ग्रंथ का अनुकरण है।

'पद्मचरित' में मद्यपान का वर्णन अनेक स्थलों पर पाया जाता है

शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात न होने से उसे 'अनर्थदंडव्रत' का कथन बता दिया है जो गलत है वहाँ 'अनस्तमित' का अर्थ 'रात्रि भोजन त्याग' है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पण्डित दौलतरामजी को बहुत खटका है इसका कारण यह प्रतीत होता है कि—सुरा, सुन्दरी और संगीत इन ३ सकारों का परस्पर संबन्ध है किन्तु सुन्दरी और संगीत तो अति होने पर ही दोषास्पद होते हैं जबकि सुरा तो एक बार भी अंशमात्र सेव्य नहीं है। अतः पण्डितजी ने अपनी वचनिका में ऐसे प्रकरणों का या तो अर्थ ही नहीं किया है या कहीं अर्थ किया है तो बदलकर मूल से विपरीत कर दिया है। देखिये:—

(१) पर्व २, श्लोक ३८ मदिरामत्तवनिताभूषणस्वानसंभृतं (वह राजगृह नगर शराब के नशे से मस्त स्त्रियों के नूपुरों से सदा झंकृत रहता था)—वचनिका में इसे छोड़ दिया गया है।

(२) पर्व १०२, श्लोक १०५ मधु शीधु घृतं वारि नानान्नं रसवत्परम्। परमादरसंपन्नं प्रयच्छंति समन्ततः॥ इसमें के मदिरावाची 'मधु' 'शीधु' शब्दों को छोड़कर वचनिका में इस प्रकार अर्थ किया गया है:—नाना प्रकार के अन्न, जल, मिष्टान्न, लवण, घृत, दुग्ध, दही अनेक रस भांति-भांति खाने की वस्तु आदर से देवे हैं।

(३) पर्व ७३, श्लोक १३५ से १५५ :—

पिबन्तो मदिरामन्ये, रमंते दयितान्विताः ॥१३६॥
काचित्स्ववदनं दृष्ट्वा चषके प्रतिबिंबितम्।
ईर्ष्ययेन्दीवरेणेशं प्राप्ता मदमताडयत् ॥१३७॥
लोचनेषु निजो रागस्तासां मदिरया कृतः ॥१३८॥
मदिरापतितां कांचिदात्मीयां लोचनद्युतिम्।
गृह्णन्तीन्दीवरप्रीत्या, कान्तेन हसिता चिरम् ॥१४०॥
लज्जासखीमपाकृत्य तासामत्यन्तमीक्षितम्।
कृतं कादम्बरीसख्याप्रियेषु क्रीडितं परम् ॥१४२॥

(कोई अपनी स्त्रियों के साथ शराब पीकर रमण करने लगे और कोई स्त्री मदोन्मत्त हुई मदिरा में अपने प्रतिबिम्ब को देख (दूसरी स्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अनुमान कर) ईर्ष्या से अपने पति को कमल के द्वारा ताड़ने लगीं। शराव ने अपना लाल रंग उन स्त्रियों की आँखों में उतार दिया। कोई स्त्री मदिरा में प्रतिबिंबित अपने नेत्रों को कमल समझ कर ग्रहण करने लगी, इस पर उसके पति उसकी हँसी उड़ाने लगे। लज्जा रूपी सखी को दूर हटा कर और मदिरा रूपी सखी से संवंध जोड़ कर उन स्त्रियों ने अपने पतियों के साथ इच्छित क्रीडा की)

वचनिका में इसकी जगह इस प्रकार लिखा है:—

अर कैयक नारी अपने वदन की प्रतिबिंव रत्नानि की भीति विषै देख कर जानती भई कि कोई दूजी स्त्री मन्दिर में आई है सो ईर्ष्या कर नीलकमल से पति कूँ ताड़ना करती भई। अर वर्फ के योग कर नारिनि के नेत्र लाल होय गए। अर कोई नवोढ़ा हुती, प्रीतम ने अमल खवाय उन्मत्त करी सो मन्मथ कर्म विषे प्रवीण प्रोढ़ा के भाव कूँ प्राप्त भई। .....ऐसा ही तो इनका योवन ऐसे ही सुन्दर मन्दिर अर ऐसे ही अमल का जोर सूँ सब ही उन्मत्त चेष्टा का कारण आय प्राप्त भया।

मूल में साफ 'शरावबाची मदिरा, चषक, सुरा, कादम्बरी और मधु शब्दों के रहते हुए भी वचनिका में उनका अमल (अफीम) और वर्फ अर्थ किया गया है, किन्तु श्लोक १३७ और १४० में जो मदिरा की तरलता में प्रतिबिंव दिखाई देने का वर्णन है वह अमल (अफीम) में घटित नहीं हो सकता इस वाधा को देख कर वचनिका में 'रत्ननी की भीति' लिख दिया है जव कि मूल में इसका वाचक कोई शब्द नहीं है।

इस तरह वचनिकाकार ने पाठकों को मूल की कई वातों से अपरिचित रखा है।

कोशों में—शराव के नामों में एक नाम हलिप्रिय (सुरा हलिप्रिया हाला इत्यमरः) दिया है जिसका अर्थ होता है 'बलदेव की प्यारी। इसी तरह बलदेव के नामों में एक नाम 'प्रियमधु' दिया है जिसका अर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है जिनको शराब प्रिय है देखो हेमचन्द्राचार्यकृत अभिधानचिंतामणि कोष।

इससे यह जाना जाता है कि प्राचीन काल में शराब का बहुत दौर-दौरा था। और इसलिए काव्यों में मद्यपानादि का वर्णन करना कवि-परंपरा थी। जब तक काव्य में सुरा सुन्दरी और संगीत का वर्णन न हो तब तक वह काव्य ही नहीं, बिना इनके कोई सरसता ही नहीं ऐसा कवि सम्प्रदाय था इसलिए रविषेण ने भी पद्मचरित में इन सबका उपयोग किया प्रतीत होता है अब इसमें कोई जैनाचार ढूँढ़े तो वह कहाँ से मिले। फिर भी पद्मचरित में जो गंधर्व देव के मद्यपान का कथन है वह जैन सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक प्रतीत नहीं होता विद्वान् विचार करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तिलोयपरणत्ति और दिगम्बर पुराण' पर विचार

दिनांक ५-४-५६ के 'जैन-सन्देश' में श्री ब्रह्मचारी चुन्नीलालजी देशाई, राजकोट वालों का—"तिलोयपण्णत्ति और दिगम्बर जैन पुराण" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिस मुख्य विषय को लेकर वह लिखा गया है नीचे उसकी समीक्षा की जाती है :

श्री ब्रह्मचारी जी लिखते हैं :—दिगम्बर ग्रन्थों में जो यह वर्णन आता है कि—"नेमिकुमार के विवाह में आये म्लेच्छ राजाओं के भोजन के लिए श्री कृष्ण द्वारा पशुसमूह इकट्ठा किया गया ; सो निरामिषभोजी महान् पवित्र कुल में जन्म लेनेवाले श्रीकृष्ण की ऐसी भावना कैसे हुई ? यह बात खटकने योग्य है, इस वर्णन को कोई भी समझदार दिगम्बर जैन भाई मानने को तैयार नहीं हो सकता।"

समीक्षा—इसमें खटकने जैसी कोई बात नहीं है, श्रीकृष्णजीने राज्यकी आशंकासे यह सोचकर कि इससे भ० नेमिनाथजीको तत्काल वैराग्य हो जायगा पशुबंधनका प्रबन्ध करवाया था और कोई हेतु नहीं था देखो भगवद् गुणभद्र कृत उत्तरपुराण पर्व ७१ श्लोक १५२ से १५४।

आगे आप लिखते हैं—पुराणों के रचयिता आचार्यों ने लिखा है कि 'मैं पूर्वाचार्यों के अनुसार अथवा जैसा सुना है वैसा ही अपनी अल्पबुद्धि के माफिक लिखूँगा, अतः यही मानना पड़ेगा कि यह कथन श्वेताम्बराम्नायानुसार ही दिगम्बर आचार्यों ने अपनाया है।"

समीक्षा—यह लिखना भी आपका अति साहसपूर्ण प्रतीत होता है क्या दिगम्बराचार्य हिंसा व अहिंसा के भेद व मर्म को नहीं समझते थे ? एक नहीं समझे, दो नहीं समझे, क्या सब ही एक साथ इतने नासमझ थे, जो आपके लिखे अनुसार उन्होंने इस तरह की भद्दी भूल कर डाली ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या उनके पास अपना निजी परम्परागत प्रथमानुयोग साहित्य नहीं था ? या उनमें रचना की योग्यता नहीं थी ? जो उन्हें इस तरह श्वेताम्बर शास्त्रों की आपके लिखे अनुसार नकल करने के लिए बाध्य होना पड़ा, अगर ऐसा कुछ नहीं हैं तो आपने जो फलितार्थ निकाला है उसमें क्या अद्भुत रहस्य है, उसे आप ही जानें। हमने तो उपर्युक्त का सीधासाधा यह अर्थ समझा है कि—पूर्वाचार्योंके अनुसार अर्थात् अपनी आम्नाय व गुरु परम्परा के अनुसार न कि श्वेताम्बर या अन्य सम्प्रदायानुसार। जैसा सुना है वैसा ही अर्थात् साक्षात् अपने गुरुओं के मुख से सुनकर न कि किंवदन्तियों, जनश्रुतियों के आधार से, इधर-उधर से लेकर। इसी तरह अल्प बुद्धि के मुआफिक = अर्थात्—जैसा कुछ समझा है अनुभव किया है, ठीक उसी तरह बिना किसी छल कपट के। (वास्तव में वे अल्प बुद्धि और श्वेताम्बरोपजीवी न होकर महान् ज्ञानवान् थे, उनका ऐसा लिखना तो उनकी शिष्टता-गुरुता और ज्ञानमदविहीनता का परिचायक है)।

अन्त में ब्रह्मचारीजी लिखते हैं कि—"आगम इस बारेमें क्या कहता है, तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४ गाथा ६०७ में बाताया गया है कि—'दस तीर्थंकर (शान्ति, कुन्थु, वासुपूज्य, सुमति, पद्म, सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर) अपने पिछले जन्मोंके स्मरण से वैराग्य को प्राप्त हुए, इन आगम वाक्यों से मेरी शंका दूर हुई व मुझे बड़ी शान्ति मिली है।" विद्वान् इस लेख को पढ़कर विचार करें और हमारी सम्प्रदाय में से ऐसी अनुचित बात को दूर करने का प्रयत्न करें, क्योंकि उनके दिल में भी यह बात अवश्य खटकती होगी (लकीर के फकीर जीवों के लिए नहीं)।

समीक्षा—जहाँ तक आपको शान्ति मिलने का प्रश्न है, वहाँ तक तो हमारी भी आपके साथ पूर्ण सहानुभूति है, पर जहाँ आर्ष वाक्यों की संगति न बैठाकर जो एकांगी शंका का एकांगी समाधान समझा गया है उसकी हाँ में हाँ मिलाने को हम तैयार नहीं और न 'पशु-बन्धन' वाले कथन को ही अनुचित मानकर आपके लिखे अनुसार दूर करने के प्रयत्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में हम योग देने वाले हैं। गम्भीरता और दूरदर्शिता से विचार करने पर इसमें दिल को खटकने जैसी कोई बात नहीं है। फिर चाहे इसे आप लकीर का फकीर होना समझें या और कुछ। हमारी तो नीति यह है कि—"आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्" अर्थात्—'आर्ष वाक्यों की संगति बिठाना चाहिए न कि उनके खंडन में प्रवृत्त होना चाहिए' इसीको लक्ष्य में रखकर अब आपकी उक्त समस्या का समाधान करने की चेष्टा करता हूँ:—

ब्रह्मचारी जी ने 'तिलोयपण्णत्ति' का उल्लेख करते हुए ऊपर जो यह बताया है कि नेमिनाथ स्वामी के वैराग्य का कारण जाति स्मरण है सो यह जाति स्मरण की बात तो 'तिलोयपण्णत्ति' में ही नहीं, प्रत्युत उत्तरपुराण और हरिवंशपुराणादि में भी पाई जाती है, देखिए भदन्त गुणभद्र कृत उत्तरपुराण पर्व ७१ श्लोक १६६ से १६८।

इस वर्णन से सहज ही जाना जा सकता है कि भगवान् प्रथम पशु-बन्धन की घटना से उद्बुद्ध हुए फिर लौकान्तिक देवों ने, जिनका सभी तीर्थंकरों को प्रतिबुद्ध करने का नियोग होता है, नेमिनाथ को भी प्रतिबुद्ध किया फिर भगवान् ने अपने पूर्वभवों का स्मरण कर संसार से भयभीत हो दीक्षा धारण की, इस तरह यहाँ वैराग्य में ३ कारण बताये गये हैं:— १ भूमिका स्वरूप बाह्य घटना के रूप में, २ नियमित रूप में, ३ अन्तरंग घटना के रूप में। जिस तरह किसी एक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण कलापों की जरूरत होती है उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। किसी एक ही कारण को कार्योत्पत्ति में साधक नहीं कहा जा सकता, यह अपनी-अपनी इच्छा है कि सहूलियत की दृष्टि से कोई किसी एक ही कारण का प्रमुख रूप से उल्लेख करे। इससे अन्य कारणों का निषेध नहीं होता है। तिलोयपण्णत्तिकार ने जो तीसरे कारण 'जातिस्मरण' को ही ग्रहण किया है उसका प्रधान हेतु यह है कि अन्य दो कारणों में एक तो नियमित ही है और बाह्य घटना के रूप में है जो दसों तीर्थंकरों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलग-अलग रूप से पाया जाता है जब कि 'जातिस्मरण' की बात दसों तीर्थंकरों में समान रूप से पाई जाती है। अतः सहूलियत की दृष्टि से तिलोयपण्णत्तिकार ने इस संक्षिप्त कथन को ही अपनाया है। तिलोय-पण्णत्ति की यह अपनी विशेषता है कि—उसमें इतिहास का सूत्र बीजात्मक रूप से संक्षिप्त स्थूल कथन है बाह्य घटना कथानकादि का वहाँ कोई विशेष उल्लेख नहीं है। पुराणादि ग्रन्थों में अगर कहीं नेमिनाथ का 'जातिस्मरण' नहीं बताया जाता तो फिर श्री ब्रह्मचारी जी की बात किसी हद तक मानी जा सकती थी, पर हम देखते हैं कि—उत्तरपुराण में ही नहीं, हरिवंशपुराण में भी इसका स्पष्ट संकेत पाया जाता है। देखो सर्ग ५५; श्लोक ९८।

ब्रह्मचारी जी सा० ने तिलोयपण्णत्ति के कथन से जो एक मात्र जातिस्मरण को ही नेमिनाथ का वैराग्य कारण समझा है और 'पशु-बंधन' की घटना पर मांस भक्षण का दोषारोप करते हुए उसे जो श्वेताम्बरों की नकल बताया है, इस पर उनसे हमारा सीधा-सा यह प्रश्न है कि—जब पुराणकारों ने 'जातिस्मरण' वाले अन्य ९ तीर्थंकरों के साथ भी विविध बाह्य घटनाओं का जो प्रतिपादन किया है क्या वह भी श्वेताम्बरों की नकल है? और उसमें भी मांस भक्षण जैसी कोई आपत्तिजनक बात है? अगर ऐसा कुछ भी नहीं है और जब एक नहीं सभी पुराणकारों ने 'पशु-बन्धन' वाली घटना का उल्लेख किया है तो उसे प्रामाणिक और निर्दोष मानना होगा तथा साथ में 'तिलोयपण्णत्ति' के स्थूल संक्षिप्त और अपेक्षा प्रधान कथन को भी पुराणों का अविरोधक मानना होगा।

अब मैं पाठकों की सुविधा के लिए उपरोक्त १० तीर्थंकरों के वैराग्य कारण का उत्तरपुराण (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) के अनुसार संक्षेप में उल्लेख करता हूँ:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ ३५ पद्मप्रभु=द्वार पर बँधे हाथी की दशा सुन उद्बुद्ध हो अपने पूर्वभवों का स्मरण कर वैराग्य को प्राप्त होना।

पृष्ठ २०८ शांतिनाथ=शृंगार करते समय दर्पण में अपने दो प्रतिबिंब देख कर उद्बुद्ध हो जातिस्मरण से वैराग्योत्पादन।

पृष्ठ २१५ कुन्थुनाथ=घोर तप करते एक मुनि को वन में देख अपने मन्त्री को इसका कारण बताते हुए उद्बुद्ध हो पूर्व भव स्मरण से वैराग्य होना।

पृष्ठ २४६ मुनिसुव्रत=अपने यागहस्ति को उसके पूर्व भव बताते हुए उद्बुद्ध हो जातिस्मरण से वैराग्य।

पृष्ठ ३३४ नमिनाथ=दो देवताओं द्वारा अपराजित केवली के समाचार सुन उनके साथ अपने बीते भवों का स्मरण करके वैराग्य को प्राप्त होना।

पृष्ठ ३८६ नेमिनाथ=पशु-बन्धन से विरक्त हो जातिस्मरण पूर्वक वैराग्य होना।

पृष्ठ ४३७ पार्श्वनाथ=अयोध्या के दूत द्वारा वृत्तान्त सुन ऋषभदेव के साथ बीते अपने पूर्व भवों का स्मरण होना जिससे वैराग्य होना।

पृष्ठ ४६३ महावीर=मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से पूर्व भव स्मरण फिर वैराग्य।

सुमतिनाथ और वासुपूज्य=राज्य से अनिच्छा हो पूर्व भव स्मरण से वैराग्य।

इस तरह हम देखते हैं कि—उपर्युक्त वैराग्य कारणों में जातिस्मरण के साथ-साथ किसी घटना का पूर्व रूप में होना भी प्रायः उल्लिखित है। तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं। अतः उन्हें अपने पूर्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवों का ज्ञान तो पहले से रहता है, पर किसी बाह्य घटना के संयोग के बिना वैराग्योत्पादन में कारण नहीं होता। अतः पुराणकारों ने जो साथ में बाह्य घटना रूप कथन किया है वह वास्तविक और अकल्पित ज्ञात होता है।

ब्रह्मचारी जी अगर एक उत्तरपुराण को ही ध्यान से पढ़ लेते तो उनकी सारी शंकाओं का स्वतः ही समाधान हो जाता पर उन्होंने उत्तर-पुराण को ध्यान से अध्ययन करने का कष्ट नहीं किया, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि—अपने इसी लेख के प्रारम्भ में एक जगह वे लिखते हैं कि—'तिलोयपण्णत्ति' में जो अनेक महत्त्व की बातें पाई जाती हैं वे अन्य ग्रन्थों में आज तक देखने में नहीं आयीं। "यथा—(६) आठवें नारायण लक्ष्मण का चौथे नरक में वास बताना। पर यह बात तो उत्तर-पुराण में भी पाई जाती है। देखो पर्व ६८, श्लोक ७०१–७०९। उत्तर-पुराण में ही क्या पुष्पदन्त के महापुराण और त्रिलोकसार गाथा ८३२ में भी यह कथन पाया जाता है।

ब्रह्मचारी जी प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि अव्रती विशेष ज्ञान रहित के उपदेश देने के अर्थ जो प्रवृत्त हुआ अधिकार अर्थात् अनुयोग है उसे प्रथमानुयोग कहते हैं (गो० जी० ३६१–३६२ टीका) तुच्छ बुद्धि जीवों को समझाने के लिए व पाप-पुण्य के फल का ज्ञान कराने के लिए यह अनुयोग है।

समीक्षा—अगर इससे आपने प्रथमानुयोग को एकान्ततः 'मिथ्यादृष्टि के अर्थ ही प्रवृत्त हुआ' समझा है तो गलत है, क्योंकि प्रायः सारे प्रथमा-नुयोग के ग्रन्थों की उत्थानिका में श्रेणिक (क्षायिक सम्यग्दृष्टि) और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप में ग्रन्थ का प्रवर्तन बताया है तब उसे केवल मिथ्यादृष्टि तुच्छ बुद्धि व अव्रती के लिए ही समझना स्पष्ट स्खलित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। प्रथमानुयोग तुच्छ बुद्धि जीवों का ही उपकारक नहीं है बल्कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी भी इससे उद्बुद्ध होते हैं। प्रथमानुयोग में केवल साधारण बातें ही नहीं हैं अनेक सैद्धान्तिक गम्भीर तत्त्व व आचार विधियाँ भी गर्भित हैं। स्वामी समन्तभद्र ने इसीलिए प्रथमानुयोग को "बोधिसमाधि निधानं" (ज्ञान और योग का कोष) कहा है तथा साथ ही "अर्थाख्यानं" (निरर्थक न होकर सोद्देश्य कथानक से पूर्ण) भी प्रकट किया है। यह जिन-प्रासाद (मोक्ष महल) का प्रवेशद्वार है। दूध की तरह यह शिशु (अज्ञानी) से लेकर वृद्ध (महाज्ञानी) तक के लिए समान रूप से पाचक-उपयोगी है। यह वह लोक-संगीत है जो सभी का मनोरंजन करता है; शास्त्रीय संगीत (क्लाजिकल म्यूजिक) नहीं जो कुछ संगीत विशारदों के ही उपयोग की चीज हो, इसीलिए इसे अनुयोगों में प्रथम स्थान दिया है। इसमें प्रायः थोड़ा-बहुत अन्य अनुयोगों का भी समावेश रहता है अतः इसे हम चारों अनुयोगों की 'ज्ञानपूर्णा' कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं जहाँ हर श्रेणी का बुद्धिधारी मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी ज्ञानबुभुक्षा शान्त कर सकता है। कुछ लोगों का जिसमें आप भी हैं शायद यह खयाल हो कि—प्रथमानुयोग आधुनिक है पर तथ्य इससे विपरीत है; द्वादशांग का छठा अंग ज्ञातृधर्मकथांग और चौदह पूर्वाङ्ग का ग्यारहवाँ कल्याणवाद प्रथमानुयोग का मूल है। भगवती आराधना और रत्नकरण्डश्रावकाचार में जो कथाओं के उदाहरण पाये जाते हैं उनसे भी प्रथमानुयोग की प्राचीनता सिद्ध होती है। 'पुराण' शब्द से भी यह जाहिर होता है कि इनकी परम्परा बहुत प्राचीन रही है।

मेरे इस समीक्षात्मक लेख के उत्तर में ब्रह्मचारी जी सा० ने एक लेख 'अँधेरे में उजाला' दिनांक १८-१२-५६ के 'वीर वाणी' पाक्षिक पत्र में प्रकाशित कराया है नीचे उसका प्रत्युत्तर और नई शंकाओं का समाधान दिया जाता है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. ब्रह्मचारी जी—"श्री नेमिनाथ जैसे महापुरुष डर के मारे भयभीत होकर शौरीपुर छोड़कर भाग गए" ऐसा तो मात्र पं० रतनलाल जी ही लिख सकते हैं, मैं तो ऐसा लिखने में असमर्थ हूँ। हरिवंशपुराण पृ० ४१६ में निम्न प्रकार लिखा है—यद्यपि बलदेव वासुदेव के मन में यह विचार आया जो जरासंध से अब ही लड़ लें किन्तु बड़ों की आज्ञा से प्रयाण ही करते भए। उन्होंने (बड़ों ने) कही, इस समय तुम्हारी अवस्था नहीं, ये बड़ों के आज्ञाकारी सो उनके कहने से प्रयाण ही किया।

प्रत्युत्तर—मैंने अपने लेख में कहीं भी ऐसे वाक्य नहीं लिखे हैं, फिर भी दूसरों के नाम से गलत और असत्य उद्धरण प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित है? पाठक सोचें। मेरे असली वाक्य तो ये हैं—"यदुवंशी जरासंध के भय से शौरीपुर को छोड़ कर भाग खड़े हुए और द्वारका में आकर बसे।" पाठक इससे निश्चय कर सकते हैं कि—ब्रह्मचारी जी का लिखना सत्य है क्या?

भगवान् नेमिनाथ तो उस समय बहुत छोटे शिशु थे अतः उनका जरासंध से डरना और शौरीपुर छोड़ कर भागना किसी तरह संभव नहीं, यदुवंशियों ने भी युद्ध के विषय में जो मंत्रणा की थी वह बलदेव वासुदेव से ही की थी, नेमिनाथ से नहीं; जैसा कि आपके ऊपर उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है। उनसे यह भी स्पष्ट है कि—बलदेव-श्रीकृष्ण, जरासंध से उस समय लड़ने में समर्थ नहीं थे। उत्तरपुराणादि के अनुसार तो भगवान् का जन्म ही द्वारका में हुआ था अतः उनके डर कर भागने की कोई बात ही नहीं उठती। रही यदुवंशियों के भयभीत होते की बात सो इसमें कर्मसिद्धांतादि किसी से कोई बाधा नहीं आती। अब मैं कुछ ग्रन्थों से ऐसे उद्धरण पेश करता हूँ जिनमें ठीक मेरे जैसे ही वाक्यों का प्रयोग किया गया है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१—पांडवपुराण पृ० २०४ (सम्पादक श्रीनिवासजी शास्त्री) :—जरासंध स्वयं युद्ध करने गया, यादव यह समाचार पाकर बहुत भयभीत हुए और अपने नगर को छोड़कर भाग गए।

२—"जैनधर्म" पृ०. १८ पं० कैलाशचन्द्रजी—जरासंध के भय से यादवगण शौरीपुर छोडकर द्वारका नगरी में जाकर रहने लगे।

३—पांडवपुराण भाषा छंदोबद्ध बुलाकीदास जी कृत (सं० १७५४) पृ० १७७।

तब चक्री अति रोषित होय, काल जवन सुत भेजो सोय।
ताके डरते पुर को छोड़, भागे यादव पश्चिम ओड़ ॥५०॥

४—"हरिवंश पुराण" अनुवादक पं० गजाधरलाल जी सर्ग ४०

आत्मापराधबाहुल्यात्सशल्यहृदयास्ततः।
यादवाः क्वापि संत्रस्ताः प्रयान्ताः प्रियजीविताः ॥३७॥

(अनुवाद—यादवों से जरासंध का कुछ अपराध बन गया जिससे कि उन्हें परम दुःख हुआ और जरासंध के कोप से त्रस्त हो ये अपने जीवन की आशा से नगर से निकल भागे),

५—पांडवपुराण पृ० १७५, सम्पादक नंदलालजी जैन—जरासंध के बल को यादव लोग जानते थे। इसलिए उसके आने का समाचार सुनकर सब भयभीत हुए और युद्धस्थल छोड़ भाग गए।

इस पर कोई कहे कि—'यदुवंशी तो वीरता के साथ नगर छोड़कर गए थे' यह कहना उसी तरह हास्यास्पद है जिस तरह युद्ध काल में अंग्रेज कहते थे कि—"हमारी सेना बड़ी बहादुरी से पीछे हटी" (जैसे कि पीछे हटने में भी कोई बहादुरी हो !)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके सिवा ब्रह्मचारी जी ने मेरे नाम से जो गलत उद्धरण पेश किया है उसमें एक भद्दी भाषात्मक गलती भी है–"डर के मारे भयभीत होकर" डर और भय शब्द एकार्थवाची हैं, दोनों में से किसी एक से ही बखूबी काम निकल सकता था फिर पुनरुक्ति करने से क्या फायदा ?

२—ब्रह्मचारीजी—पं० रतनलाल जी ने लिखा है कि—"इतने दिन जिन्होंने पशुओं के बारे में माना और अब भी मान रहे हैं क्या वे सब नासमझदार हैं ?" इसका तो केवल इतना ही जवाब हो सकता है कि जब तक हमें अन्य कोई प्राचीन प्रबल प्रमाण न मिले तब तक ऐसा मानना दोषयुक्त नहीं है, किन्तु अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक बैठनेवाला प्रबल ठोस प्रमाण मिल जाये तो पहिले की धारणा को छोड़ देना चाहिए हठ न करना चाहिए, इसी में स्वकल्याण है।

प्रत्युत्तर—जो मान्यता आज तक दोषयुक्त न थी वह अब ही अब दोषयुक्त कैसे हो सकती है ? आपको जो प्रमाण मिला है क्या वह अज्ञात पूर्व है ? क्या इसका पूर्वाचार्यों को ज्ञान तक न था; आज तक वे सब अंधकार में थे, आपने ही यह नई खोज की है ?

आपकी इस नवीन खोज की क्या गारंटी है कि—वह ही प्राचीन और प्रबल है एवं अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक बैठनेवाली है, अन्य सब अर्वाचीन और निर्बल हैं एवं अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक बैठनेवाली नहीं है। जिसे आप प्राचीन और प्रबल समझ रहे हैं क्या यह संभव नहीं कि—वह विवक्षाभेद और दृष्टिकोण का अन्तर ही हो, वस्तुतः उसमें कोई विरुद्धता न हो, जैसा कि मैंने अपने पूर्व लेख में स्पष्टतया सिद्ध किया है।

बिना इन सब बातों का ठीक उत्तर दिए किसी पर दुराग्रह का आरोप लगाना और उससे आर्षमान्यताओं के छोड़ने का एवं स्वकल्याण का अनुरोध करना "परोपदेशे पांडित्यं" ही है, इसके सिवा उसमें और कोई तथ्य नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपने जो प्राचीनता की दुहाई दी है सिर्फ वह भी कार्यकारी नहीं है। प्राचीन तो मिथ्यात्व भी है पर क्या कोई उसे ग्रहण करेगा ? और आपकी इस प्राचीनता की भी कोई स्थिरता नहीं, तिलोयपण्णत्ति से प्राचीन किसी अन्य ग्रन्थ में कोई दूसरा ही कथन निकल आये (जो हो तो वास्तव में विवक्षाभेद) तो आप उसे भी धता बता दें क्योंकि जिनको प्राचीनता से ही विचित्र मोह होता है वे समीचीनता को ग्रहण क्यों करने लगे। प्राचीनतावादियों की आचार्य सिद्धसेन ने अपनी प्रसिद्ध द्वात्रिंशतिका में तीक्ष्ण भर्त्सना की है जरा उसे पढ़ने का कष्ट कीजिए, सारा भ्रम विलीन हो जायगा। और भी देखिए कवि कालिदास अपने 'मालविकाग्निमित्र' में क्या कहते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि नूनं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजंते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

(प्राचीन है इस लिए सब निर्दोष नहीं हैं और नवीन हैं इसलिए सब सदोष नहीं है, समझदार तो परीक्षा करके समीचीन को ही ग्रहण करते हैं, मूढ हैं जो अपनी अक्ल से काम नहीं लेकर दूसरों के हाथ की कठ-पुतली बनते हैं।

स्वामी समन्तभद्र ने भी प्राचीन और नवीन की बजाय समीचीन को ही महत्त्व दिया हैं, देखिये:–देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्— (रत्नकरण्ड)। इसके सिवा उन्होंने शास्त्र के लक्षण में भी कहीं प्राचीन विशेषण नहीं दिया है, यह भी ध्यान देने योग्य है।

३—ब्रह्मचारी जी—"उत्तरपुराण पर्व ७१, श्लोक नं० १६६–१६८ में एवं 'हरिवंशपुराण' सर्ग ५५ श्लो० नं० ९८ में स्पष्ट लिखा है कि— श्री नेमिनाथ के वैराग्य का कारण जातिस्मरण ही है।" ऐसा पं० रतन-लाल जी ने लिखा है किन्तु हमारे देखने में उस गाथा में ऐसा कोई कथन नहीं पाया जाता और न भाषाकार ने भी ऐसी व्याख्या की है व संस्कृत श्लोक में भी ऐसा नहीं लिखा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्युत्तर—आपने जो मेरे नाम से वाक्य उद्धृत किए हैं वे ठीक उसी रूप में मेरे नहीं हैं, उनमें के "स्पष्ट लिखा है" एवं "जातिस्मरण ही है" ये दो वाक्य तो मेरे लेख में कहीं नहीं हैं। मेरे वाक्य ठीक इस प्रकार हैं:—"पुराणादि ग्रन्थों में अगर कहीं नेमिनाथ का 'जातिस्मरण' नहीं बताया जाता तो फिर भी श्री ब्रह्मचारी जी की बात किसी हद तक मानी जा सकती थी, पर हम देखते हैं कि उत्तरपुराण में ही नहीं हरिवंश-पुराण में भी इसका स्पष्ट संकेत मिलता है, देखो सर्ग ५५. श्लोक ९८। इससे पाठक सोच सकते हैं कि ब्रह्मचारी जी ने तथ्यों को तोड़मरोड़कर पेश किया है। आपने लिखा कि—"संस्कृत श्लोक में ऐसा नहीं लिखा है, भाषाकार ने भी ऐसी व्याख्या नहीं की है" आपका यह सब लिखना मिथ्या है। शायद आपका यह खयाल हो कि—'जातिस्मरण के लिए 'वैराग्य कारण' शब्द नहीं दिया है सो यह आशय और कथन को न समझने का परिणाम है। संस्कृत श्लोक में नेमिनाथ को जातिस्मरण होने की बात स्पष्ट कही गई है, (बोधितः समतीतात्मभवानुस्मृतिवेपितः) इसे कारण न मानोगे तो क्या कार्य मानोगे या अकारण मानोगे? पर न तो यह कार्य हैं और न अकारण किन्तु कारणशृंखला की एक कड़ी है। अगर यह कारण न होता और पशुबंधन ही कारण होता तो आचार्य लिख देते कि—"भगवान् ने पशुबंधन से विरक्त हो सीधे वन में जा दीक्षा ले ली" परन्तु उन्होंने तो—पशुबंधन से विरक्ति के बाद लौकांतिक देवों से प्रतिबुद्ध होना तथा जातिस्मरण से संबुद्ध होना फिर गृहत्याग करना लिखा है, इससे स्पष्ट है कि—ये सब कारण ही हैं—पशुबंधन बाह्यकारण है और मुख्य है तथा जातिस्मरण अंतरंग कारण हैं, और गौण है। यह ही सब बात अन्य ९ तीर्थंकरों के विषय में भी है जिनका वैराग्यकारण तिलोयपण्णत्ति में जातिस्मरण बताया है पर पुराणों में जातिस्मरण के साथ घटनास्वरूप बाह्यकारण भी दिया है जिस सब का विस्तृत विशद विवेचन मैंने अपने पूर्व लेख में किया है। उसको ध्यान से पढ़ने पर कोई शंका ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं रहती। मैं और भी २-३ प्रमाण दे देता हूँ जिनमें पशुबंधन से विरक्ति के साथ साथ जातिस्मरण का भी उल्लेख है—

१—आशाधर कृत 'त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र' पृ० १३०—ज्ञात्वा तच्छद्म निर्विद्य संस्मृत्य स्वपुराभवान् ॥६०॥ (नेमिनाथ, श्रीकृष्ण के छल को जान कर और अपने पूर्वभवों का स्मरण कर विरक्त हुए)।

२—पृ० १७० नेमिपुराण (उदयलाल जी कृत हिन्दी) नेमिजिन ने अपने पूर्वभव का भी हाल जान लिया।

३—वाग्भट कृत 'नेमिनिर्वाणकाव्य' पृ० ७९ सर्ग १३।

श्रुत्वा वचस्तस्य स वश्यवृत्तिः,
स्फुरत्कृपान्तःकरणः कुमारः।
निवारयामास विवाहकर्माण्य-
धर्मभीरुः स्मृतपूर्वजन्मा ॥५॥

सारथी के वचन सुनकर भगवान् नेमिनाथ के हृदय में करुणा उत्पन्न हो गई तथा उन्हें अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया—वे विवाहकर्म से विमुख हो गए।

एक ओर हम व हमारे पत्र 'भगवान् बुद्ध' पुस्तक का इसलिए घोर विरोध कर रहे हैं कि—उसमें अहिंसा के अवतार भगवान् महावीर व जैनश्रमणों को मांसाहारी सिद्ध करने का झूठा और जघन्य प्रयत्न किया गया है तो दूसरी ओर हमारे ही ब्रह्मचारी जी यह सिद्ध करने का दुष्प्रयत्न कर रहे हैं कि—"हमारे मान्य और प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं जिनसे तीर्थंकर कुल में भी मांसभक्षण सिद्ध होता है" यह प्रवृत्ति ठीक नहीं। इसके सिवा पशुबंधन की घटनावाले स्थलों को ग्रन्थों से निकालने की प्रेरणा करना तो सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। श्वेताम्बरों से अनेक दिगम्बर कथन मिलते हैं इसीलिए उन्हें श्वेताम्बर ही माना जाये यह विचित्र खोज है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४—ब्रह्मचारी जी—"श्री नेमिनाथ का जन्म शौर्यपुर में भया पीछे द्वारका गए" ऐसा श्री हरिवंशपुराण के सर्ग ४०, पत्र ४१७ में लिखा है। इतना ही नहीं किन्तु वर्तमान में भी एक भी दिगम्बर जैन भाई द्वारिका को दिगम्बर जैनतीर्थ मानकर वहाँ जाता हो ऐसा न तो सुना है और न देखा ही है। परन्तु शौर्यपुर में दो कल्याणक माने जाते हैं इसीलिए वहाँ पर दिगम्बर जैन भाई दर्शनार्थ भी जाते हैं व वह एक पवित्र तीर्थक्षेत्र भी माना जाता है।

उत्तर—हरिवंशपुराणादि में नेमिप्रभु का जन्म स्थान शौरीपुरी बताया है पर आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण, हरिषेण के कथाकोश, आशाधर के त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, शुभचन्द्र के पाण्डव पुराण, ब्र० नेमिदत्त के आराधना-कथाकोश व नेमि पुराण, वाग्भट के नेमिनिर्वाण काव्य, विजयकीर्ति के कर्णामृतपुराण, पं० बुलाकीदास के पाण्डवपुराण तथा पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के जैनदर्शन (पृ० ६) आदि प्राचीन व अर्वाचीन ग्रन्थों में एवं मूलसंघी आम्नाय में तथा सम्पूर्ण वैदिक पुराणों में प्रायः सर्वत्र द्वारिका को ही नेमिनाथ का जन्मस्थान माना है। इससे जाना जा सकता है कि पूर्वकाल से आज तक बराबर द्वारिका जैनों को मान्य रही है और आज भी कोई भाई ग्रन्थों के इस कथन को अमान्य नहीं करते, दोनों कथन मान्य करते हैं। पं० टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४४५ में नेमिनाथ की जन्मभूमि के विषय में द्विविध मान्यता का उल्लेख किया है पर उन्होंने भी किसी एक मान्यता को उचित या अनुचित नहीं बताया है, फिर भी यह जरूर है कि सत्य इनमें से एक ही है किन्तु निश्चित प्रमाणाभाव में हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम ऐसी द्विविध मान्यताओं के संबंध में जो युक्ति, प्रत्यक्ष व अनुमानादि से अबाधित हो अपना कोई एक मत स्थापित करें।

शौरीपुर में जाने से और उसे तीर्थ मानने से द्वारिका का निषेध नहीं होता। हो सकता है कि किसी समय साम्प्रदायिक विद्वेष व संघर्षवश वहाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के विशेष प्राचीन मंदिरादि नष्ट-भ्रष्ट व रूपान्तरित कर दिए गए हों जिससे धीरे-धीरे आवागमन अवरुद्ध-सा हो गया हो और फिर समुद्री मार्ग की कठिनाइयों ने इसे और भी बढ़ावा दिया हो। खैर, कुछ भी हो आज भी लोग द्वारिका जाते हैं, वहाँ अपना दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमें भगवान् नेमिनाथ की मूर्ति व चरणपादुका विराजमान हैं। इसके लिए देखो—ब्रह्मचारी गेवीलालजी कृत 'तीर्थयात्रादर्शक पृ० २२८. इसमें लिखा है कि—द्वारिका नेमिप्रभु का जन्मस्थान है, किसी-किसी ग्रन्थ में शौरीपुर भी जन्मस्थान लिखा है पर दोनों प्रमाण हैं, दोनों तीर्थवंदना के योग्य हैं यथार्थ बात का निश्चय तो सिवा केवली के अन्य को नहीं हो सकता।

इस विषय में एक बात यह भी जानने योग्य है कि निम्न ग्रन्थों के अन्दर द्वारिका में शौरीपुर की भी कल्पना की गई है, देखो वाग्भट कृत नेमिनिर्वाण काव्य—

भविष्यतस्तीर्थकरस्य नेमेर्निमित्तमत्यन्तमनोहरश्रीः।
कृतिः सुराणां ससुरेश्वराणां या प्राप शौरीति ततः प्रसिद्धिम् ॥५८॥
सर्ग १

(कुबेर निर्मित वह द्वारिका नगरी शौरीपुर नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई) यही बात जिनसेन कृत हरिवंश पुराण सर्ग ४, श्लोक ४४ में बताई गई है।

शंका—ब्रह्मचारी जी—श्वेताम्बर आम्नाय में लिखा है कि—सामान्य केवली के गणधर होते हैं, किन्तु दिगम्बर आम्नाय में ऐसा नहीं माना जाता है तो भी 'सुदर्शन चरित्र' के परिच्छेद ८, गाथा ७७ में सामान्य केवली के गणधर होना लिखा है।

समाधान—संस्कृत में दो सुदर्शनचरित पाये जाते हैं एक मुमुक्षु विद्यानन्दि कृत और दूसरा भट्टारक सकलकीर्ति कृत, इनमें पहिले में तो परिच्छेद ८ पर ऐसा कोई विषय ही नहीं है, दूसरे में जरूर है पर वहाँ सामान्य केवली के गणधर होने की कोई बात ही नहीं लिखी है, वहाँ तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार लिखा है—इत्यभिष्टुत्य देवेशाः केवलज्ञानलोचनम्, धर्मश्रवण-सिद्धयर्थं परितस्तमुपाविशन् ॥७६॥ दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्ग-वृत्तये, धर्मतत्त्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान्प्रति ॥७७॥ भो भव्याः ! क्रियते धर्मः स्वर्मुक्तिश्रीवशीकरः, तात्पर्येण स्वसिद्धयर्थं हत्वा पापाक्षत-स्करान् ॥७८॥ इति केवलिवक्त्रेन्दूद्भवं धर्मामृतं महत्, पीत्वा सुरा नरा यक्षा ययुः सन्तोषमूर्जितम् ॥१०९॥

श्लोक ७७ में 'गणान्' शब्द है जिसका 'गणधर' अर्थ समझ लिया गया है। पर 'गण' शब्द का अर्थ 'समूह' होता है और वही यहाँ प्रकरण संगत है। श्लोक ७६ में बताया है कि—"स्तुति करने के बाद देवेन्द्रगण उन सुदर्शन केवली के चारों ओर धर्मश्रवण की इच्छा से बैठ गये।" इसके बाद आगे श्लोक ७७ में बताया है कि—तब उन देवसमूह को (गणान्) केवली ने अपनी दिव्य ध्वनि से इस प्रकार तत्त्वोपदेश दिया—हे—भव्यो !·····(यह सब उपदेश श्लोक ७८ से १०८ तक में है) फिर श्लोक १०९ में बताया है कि—केवली मुख से निर्गत धर्मामृत को देव और मनुष्यादिक ने पान कर आत्मसंतोष प्राप्त किया।) इस सब प्रकरण से दिनकर की तरह स्पष्ट है कि—बिना किसी गणधर के माध्यम से स्वयं सुदर्शन केवली ने देवादि समूह को धर्मोपदेश दिया था। ऐसी हालत में ब्रह्मचारी जी ने जो सामान्य केवली के गणधर होने की बात लिखी है वह मिथ्या है।

शंका—ब्रह्मचारी जी— आज तक लब्धिसार में लिखे अनुसार ४६ प्रकृति की बंधव्युच्छित्ति भव्य व अभव्य दोनों के होती है, ऐसा माना जाता था, परन्तु अब 'कषायपाहुड सुत्त' पृ० ६१८ में ४६ प्रकृति की बन्धव्युच्छित्ति मात्र भव्य के ही होती है, अभव्य के नहीं, ऐसा लिखा होने से मान्यता ऐसी हो गई है, क्योंकि यह प्रबल प्राचीन व ठोस प्रमाण है।

समाधान—'कषायपाहुड सुत्त' मूल में ऐसी कोई बात ही नहीं है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चूर्णि में भी सिर्फ उन प्रकृतियों के नाम भर दिये हैं, जो उपशम से पहिले बन्धव्युच्छिन्न हो जाती हैं और हिन्दी विशेषार्थ से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि अभव्य के इन प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति प्रायोग्यलब्धि में नहीं होती है। श्री वीरसेन स्वामी ने इस विषय में धवलाटीका में स्पष्ट लिखा है—एदाओ चत्तारि विलद्धीओ भवियाभविय मिच्छइट्ठीणं साहारणाओ, दो सु वि एदाणं संभवा दो—ये प्रारम्भ की चारों ही लब्धियाँ भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों के साधारण हैं क्यों कि दोनों ही प्रकार के जीवों में इन चारों लब्धियों का होना सम्भव है। देखो षट्खण्डागम पुस्तक ६ पृ० २०५–२०६। यह ही बात और भी विशदता के साथ 'लब्धिसार' की गाथा १ से १५ तक में कही गई है, ये गाथायें भी प्राचीन हैं जिनको नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने संकलित किया है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों का मत स्पष्ट है कि—इन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति भव्य व अभव्य दोनों के होती है। यदि इन आचार्य मत के विरुद्ध पं० हीरालाल जी सा० ने कुछ लिख भी दिया हो तो वह कैसे प्रमाण हो सकता है? 'कषायपाहुड' पर जयधवलाटीका भी है, अभी तक इस विषय से संबंधित भाग मुद्रित नहीं हुआ है, हस्तलिखित प्रतियों को देखिये इस विषय में और भी स्पष्ट समाधान हो जायेगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

शंका—ब्रह्मचारी जी—'आदि पुराण' पर्व ४१ के सूत्र नं० २८ में लिखा है कि—'भगवान के चरण कमलों की भक्ति कर परिणामन की विशुद्धता करि चक्रेश्वर भरत को अवधिज्ञान प्रगट भया'' किन्तु भरत महाराज सर्वार्थसिद्धि विमान से आये हैं ऐसा आदिपुराण पर्व ४७ में लिखा है, अब विचार करना चाहिए कि—सर्वार्थसिद्धि से जो जीव मनुष्य पर्याय धारण करते हैं वे निश्चय से तीन ज्ञान सहित ही माता के गर्भ में आते हैं। तब भरत महाराज को समवशरण में भगवान की भक्ति करने से अवधि ज्ञान कैसे हुआ? देखो धवलग्रन्थ ६ सूत्र २४३ पृ० ५०० ॥

समाधान—भरत को अवधिज्ञान प्रकट होने की जो बात लिखी है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह भाषा टीकाकार की है मूलग्रन्थकार की नहीं है। भाषा टीकाकार के वक्त धवलादि ग्रन्थ प्रकाश व प्रचार में नहीं आये थे अतः उनसे अनुवाद में भूल होना किसी तरह क्षंतव्य है पर आपने तो सिद्धान्त का परिचय हो जाने पर भी आदिपुराण के मूल शब्दों पर गौर करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। महान् सिद्धांतज्ञ वीरसेन के अग्रशिष्य आचार्य जिनसेन जिन्होंने स्वयं भी जयधवला सिद्धान्त के वहुभाग की रचना की है, आदिपुराण में सिद्धान्त विरुद्ध कथन कैसे कर देते ? जरा यह तो सोचना चाहिए !

आदिपुराण के वे मूलवाक्य इस प्रकार हैं:—

भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपंकजे।
विशुद्धिपरिणामांगमवधिज्ञानमुद्वभौ ॥

इसमें 'उद्वभौ' क्रिया का अर्थ 'प्रकट हुआ' समझा गया है पर यहाँ उत् तो उपसर्ग है 'भा' (दीप्तौ, प्रकाशने) धातु है जिससे भूतकाल में 'उद्वभौ'' रूप वनता है जिसका अर्थ होता है ''उद्दीप्त हुआ, और भी विशेष प्रकाशमान हुआ।'' हरिवंशपुराण पर्व ३८ श्लो० १९ तथा आदिपुराण पर्व १५ श्लो० ४५, १९१। देखो वहाँ 'वभौ'का 'अर्थ' सुशोभित-प्रकाशमान हुआ, ही किया है। ''ऐसी हालत में 'उद्वभौ' का अर्थ 'प्रकट हुआ' करना नितांत गलत है। अगर 'उद्वभूव' (उद् + भू–सत्तायाम् + लिट्) क्रिया होती तो 'प्रकट हुआ' अर्थ करना ठीक हो सकता था पर यहाँ 'भू' धातु न होकर 'भा' धातु है।

सर्वार्थसिद्धि से चयकर जो जीव आते हैं उनका अवधिज्ञान 'हीयमान' नहीं होता 'वर्धमान' ही होता है देखो धवला पुस्तक ६ पृ० ५००—

ओहिणाणं णियमा अत्थि त्ति कधं ? ण तेसिं अणणुगामी हीयमाण पडिवादि ओहिणाणाणमभावादो।

अर्थ—शंका:—उनके अवधिज्ञान नियम से होता है सो कैसे ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान—उनके अननुगामी हीयमान और प्रतिपाती ये तीन अवधि-ज्ञान नहीं होते बल्कि देशावधि के ५ भेद उनके होते हैं। इससे भरत का अवधिज्ञान विशेष वर्धमान हुआ यह ही बात आचार्य जिनसेन ने विशुद्धि परिणाम को कारण बताते हुए 'उद्‌वभौ' वाक्य से सूचित की है।

जैनधर्म लह मद बढ़ै, वैद न मिलि है कोई।
अमृत पान विष परिणवे, ताहि न औषधि होई॥
जो चरचा चित में नहीं चढ़े, सो सब जैन सूत्र सौं कढ़े।
अथवा जे श्रुत मरमी लोग, तिन्हें पूंछ लीजे कह जोग॥
इतने पर संशय रह जाय, सो सब केवलज्ञान समाय।
यौं निशल्य कीजे निज भाव, चरचा में हट को नहीं दाव॥
दिवस दिवाकर ऊगवे सबही को भ्रम जाय।
अधिक अँधेरो घूक के ताकौ कौन उपाय॥

—भूधर जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात्रि भोजन त्याग : छठा अणुव्रत

एक साहित्यिक रहस्योद्घाटन—

उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' अध्याय ७ सूत्र १ की निम्नांकित टीकाओं में रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय में इस प्रकार लिखा है :—

१—पूज्यपाद कृत—'सर्वार्थसिद्धि' :—

ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम्, न, भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते तत्र आलोकितपान-भोजनभावना कार्येति ।

२—अकलंक देव कृत 'राजवार्तिक'—

स्यान्मतमिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानं कर्तव्यं तदपि षष्ठमणुव्रतमिति तन्न, किं कारणं, भावनान्तर्भावात् ।

३—भास्करनंदि कृत 'सुखबोधवृत्ति'—

रात्रिभोजनवर्जनाख्यं तु षष्ठमणुव्रतमालोकितपानभोजनभावनारूप-मग्रे वक्ष्यते ।

४—श्रुतसागर कृत 'तत्त्वार्थवृत्ति'—

ननु रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतं वर्तते····(सर्वार्थसिद्धिवत्)

इन सब टीकाग्रन्थों में बताया है कि—

"रात्रि भोजन त्याग नामक छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना होनी चाहिए । नहीं, क्योंकि आगे अहिंसा व्रत की आलोकित पान-भोजन भावना में उसका अन्तर्भाव हो जाता है ।"

भास्करनंदि ने—'रात्रि भोजन-त्याग' को 'आलोकित पान भोजन'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का पर्यायवाची ही बताया है। ऐसा ही आचार्य विद्यानंद ने—'श्लोक-वार्तिक' में बताया है। देखो–

आलोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रिभोजनविरतिरेवेति नासावुपसंख्येया।

अर्थात्—आलोकित पान भोजन नाम की भावना रात्रि भोजन त्याग ही है अतः उसकी अलग गणना करने की जरूरत नहीं होती।

छठे अणुव्रत का यह सब कथन सामान्य है अतः मुनि और श्रावक दोनों की अपेक्षा से कहा गया है। इसके सिवा आलोकितपानभोजन को लेकर जो विवेचन है वह तो खास तौर से मुनियों की अपेक्षा से ही है ऐसी हालत में यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि—'रात्रि भोजन त्याग को फिर 'अणुव्रत' संज्ञा क्यों दी गई है? उसे 'व्रत' सामान्य से ही अभिहित करना चाहिये था 'अणु' कहने से वह सिर्फ श्रावकों के लिए ही जाना जाता है।" इस प्रश्न का समाधान तत्त्वार्थ की किसी भी टीका में कहीं भी नहीं पाया जाता है।

इसी तरह—

५—मुनियों के 'दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण' और 'पाक्षिक प्रतिक्रमण' में पंच महाव्रतों के बाद ही रात्रि भोजन विरमण नामक छठा अणुव्रत बताया है। देखो :—

"छट्ठं अणुव्वदं राइभोयणादो वेरमणं" (षष्ठमणुव्रतं रात्रि-भोजनाद्विरमणं)

—"क्रिया कलाप,, पृ० ५२, ८७, ८०, १०२-१०३

६—आशाधर कृत 'नित्य महोद्योत' (श्लोक १६) की श्रुतसागर कृत टीका में लिखा है :—

"पंचमहाव्रतानि रात्रिभोजनवर्जनाभिधानाणुव्रतषष्ठानि प्रतिपादितानि भवन्तीति अर्थात्—५ महाव्रत और रात्रिभोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत मुनियों के होता है। देखो—'अभिषेक पाठ संग्रह, पृ० १२६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७—वीरनंदि कृत 'आचारसार' (मुनियों का आचार ग्रन्थ) पृष्ठ ३५ में पंच महाव्रतों के बाद लिखा है :—

व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम् ।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ॥७०॥

अधिकार ५

अर्थ :—(मुनियों को) व्रतों की रक्षा के लिए रात्रि में सब प्रकार से भोजन का त्याग करना चाहिये इसे रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत कहा है ।

इन सब प्रमाणों में खास तौर से मुनियों के भी छठा अणुव्रत बताया है किन्तु मुनियों के साथ अणुव्रत शब्द की संगति किसी तरह बैठती नहीं इस पर मैंने एक शंका 'जैन संदेश' साप्ताहिक में समाधानार्थ भेजी थी जिसका समाधान भाग २१ अंक १६ पृ० ६ पर प्रकाशित हुआ है किन्तु उसमें शंका का कुछ भी समाधान नहीं हुआ ।—अस्तु

दूसरे भी कुछ विद्वानों के साथ मैंने इस पर ऊहापोह किया परन्तु किसी से कुछ भी समाधान प्राप्त नहीं हुआ । एक रोज मैं आशाधर कृत सटीक अनगार धर्मामृत देख रहा था यकायक उसमें मुझे इसका सुन्दर और युक्ति-युक्त समाधान मिल गया आज उसे विज्ञ पाठकों के लिए नीचे प्रकट किया जाता है :—

अनगार धर्मामृत (पृष्ठ ३०३) अध्याय ४ श्लोक १५० में—रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत को पंच महाव्रत का प्रधान बताते हुए 'नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि' पद की टीका में लिखा है :—

"नक्तं रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झा वर्जनम् । सैवाणुव्रतं तस्याश्चाणुव्रतत्वं रात्रावेव भोजननिवृत्तेर्दिवसे यथाकालं तत्प्रवृत्तिसंभवात् ।"

अर्थात्—"रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना (छठा) अणुव्रत है । उसे अणुव्रत इसलिए कहा है कि रात्रि में ही भोजन का त्याग बताया है दिन में तो यथा समय भोजन करने की छूट है" । अतः आहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का त्याग सिर्फ रात्रि में ही होने से यह काल की अपेक्षा अणु = लघुव्रत है। अगर सदा के लिए रात और दिन के आहार का त्याग बता दिया जाता तो यह व्रत भी अन्य ५ व्रतों की तरह व्यापक हो जाता 'अणु' नहीं रहता किंतु धर्म के साधनभूत इस शरीर को चलाने के लिए भोजन की जरूरत होती है उसका सर्वथा त्याग शक्य नहीं और भोजन दिन में ही निरवद्य संभव है रात्रि में नहीं अतः दिन की छूट दी गई है और रात्रि का सर्वथा त्याग कराया गया है। इस तरह 'रात्रि भोजन त्याग' में रात्रि शब्द इसके काल कृत अणुत्व को सूचित करता है। यह अणु = लघु व्रत गृहस्थों के एकदेश त्याग रूप से और मुनियों के सर्वदेश त्याग रूप से होता है। दोनों के लिए इसका उल्लेख ग्रन्थों में 'अणुव्रत' इस सामान्य नाम से ही किया गया है।

पं० आशाधर ने भगवती आराधना की अपनी मूलाराधना दर्पण नाम की टीका में भी इस छठे अणुव्रत पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :— देखो—आश्वास ६ गाथा ११८५—८६ पृष्ठ ११७६

"ततो महाव्रतसंपूर्णतामिच्छन्रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतमनुतिष्ठेदेव। अणुव्रतत्वं चास्य दिवाभोजनस्यापि करणात्। यदाहु :—छठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणमिति।,,

अर्थ :—महाव्रतां की सम्पूर्णता चाहनेवाले (मुनियों) को रात्रिभोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत पालन करना ही चाहिए। इस व्रत की 'अणु' संज्ञा दिन में भोजन करने की अपेक्षा से है। और त्याग सिर्फ रात्रि भोजन का ही है इस कालिक अपूर्णता की दृष्टि से यह अणु = लघु व्रत है।

यह छठे अणुव्रत का रहस्य है। इस रहस्य को नहीं समझने से अच्छे-अच्छे पंडितों ने इस विषय में अनेक गलत असंगत और भ्रांत कथन किए हैं जिनके कुछ उदाहरण मय समीक्षा के नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं :—

१—पं० लालारामजी ने वीर संवत् २४६२ में 'आचार सार' की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी टीका में उसके निम्नांकित श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है :—

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम् ।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ॥

अ० ५—७०

अर्थ :—"इन व्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए। रात्रिभोजन का त्याग करने से व्रतों की रक्षा होती है इसीलिए रात्रि में अन्न का सर्वथा त्याग करने को गृहस्थों के लिए छठा अणुव्रत कहा है।"

समीक्षा :—यह मुनियों का आचार ग्रंथ है 'इसमें गृहस्थों का अणुव्रत बताना साफ़ गलत है इसके सिवा उक्त श्लोक के पहिले, ग्रंथ में पंच समितियों का कथन है फिर बीच में ही गृहस्थों के छठे अणुव्रत का कथन बताना भी स्पष्ट असंगत है। इसीतरह चार प्रकार के आहारों में से सिर्फ 'अन्न' आहार का त्याग बताना भी भ्रांत है यहाँ 'अन्न' का अर्थ भोजन (आहार) सामान्य से है और 'सर्वथा' शब्द मुनियों के लिए नव कोटि से त्याग करने के अर्थ में दिया गया है अर्थात् यह सारा कथन मुनियों के लिए बताया है गृहस्थों का यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है। इसके लिए ऊपर प्रमाण नं० ७ देखिए।

२—विक्रम सं० १९८५ में पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत 'जैनाचार्यों का शासन भेद' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ट्रेक्ट प्रकाशित हुआ है उसमें पृष्ठ २१ से ४१ तक रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय में काफी ऊहापोह किया है[1] परन्तु इस व्रत के 'अणु' शब्द को मात्र गृहस्थों का समझ लेने से सारा विवेचन अनेक भूल-भ्रांतियों व आपत्तियों से भरा हुआ हैं और कुछ मान्य ग्रन्थकारों पर अन्यथा—दोषारो-

---

१. इसके बाद वि० सं० १९८७ में 'अनेकांत, वर्ष १ पृ० ३२७-३२८ में परिशिष्ट रूप से इस पर कुछ थोड़ा और विचार किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पण को लिये हुए है। मूल में ही भूल होने से यह सारा प्रकरण आमूल-चूल सदोष है जिसको नीचे संक्षेप में कुछ समीक्षा की जाती है।

मुख्तार सा०—"गृहस्थों का व्रत एक देशत्याग से अणुव्रत और मुनियों का व्रत सर्व देशत्याग से महाव्रत कहलाता है। गृहस्थों के पाँच अणुव्रत होते हैं। किन्तु कुछ आचार्यों ने रात्रिभोजन विरति नाम का छठा अणुव्रत भी उनके बताया है जैसा कि निम्नांकित प्रमाणों से प्रकट है :—

(ख)—व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तेस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रत्तम्॥
५—७०॥ 'आचारसार'

यह विक्रम की १२वीं शती के आचार्य वीरनंदि के वाक्य हैं इसमें कहा गया है कि (मुनि को) अहिंसादिक व्रतों की रक्षा के लिए सर्वथा रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए और अन्न की निवृत्ति से वह रात्रि-भोजन का त्याग छठा अणुव्रत कहा जाता है;।

चारित्रसार में चामुंडराय ने श्रावक के रात्रिभोजनत्याग में चारों प्रकार के आहार का त्याग माना है उसी तरह अगर यहाँ 'अन्न' पद को उपलक्षण मानकर उससे चारों प्रकार के आहार का त्याग लिया जाय तो इस विषय में फिर व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियों के त्याग में कोई अन्तर नहीं रहेगा। दोनों का त्याग एक ही कोटि का हो जायगा यह खटकने की बात है।

समीक्षा—विक्रम सं० १९७४ में माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई से प्रकाशित आचारसार के पृ० ३५ पर तथा वीर सं० २४६२ में लालाराम-जी कृत हिन्दी टीकावाले आचारसार पृ० १२१ पर उक्त श्लोक नं ७० में 'निवृत्ति' पाठ दिया हुआ है किन्तु मुख्तार सा० ने उसकी जगह मनः कल्पित 'निवृत्ते' पाठ बनाकर उक्त श्लोक का अर्थ मुनि और श्रावक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों के लिए अलग-अलग विभक्त कर दिया है—यह ठीक नहीं।[1] वीरनंदि आचारसार एकमात्र मुनियों का आचार ग्रंथ है उसमें कहीं भी श्रावकों के आचार का व्याख्यान नहीं है। जब श्रावकों के ५ अणुव्रतों का कोई नामोल्लेख तक वहाँ नहीं है तब श्रावकों के छठे अणुव्रत का कथन उसमें कैसे हो सकता है? यह सोचने की बात है। अणुव्रत शब्द से उसे श्रावकों का ही व्रत समझ लिया गया है जो सबसे बड़ी भूल है जिसका विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में कर आये हैं उससे पाठक वास्तविक तथ्य को भलीभाँति हृदयंगम कर सकते हैं।

व्रती श्रावक के रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग आशाधर ने भी सागारधर्मामृत में बताया है। आशाधर ने वह त्याग मन वचन काय इन तीन कोटि से ही[2] बताया है जब कि मुनियों के वह नव-कोटि से होता है। यह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियों के रात्रिभोजन-त्याग में खास अन्तर है अतः इस विषय में दोनों एक कोटि में नहीं आ सकते। श्रावकों के नवकोटि त्याग होने में अनेक आपत्तियाँ हैं जिसका एक उदाहरण यह है कि—फिर व्रती स्त्रियाँ रात्रि में शिशु को स्तनपान नहीं करा सकतीं इसलिए आशाधरादि ने उसे गृहस्थों के लिए तीन कोटि से ही विहित किया है। इस तरह व्रती श्रावकों के रात्रिभोजन त्याग बताने में कोई खटकने जैसी बात नहीं है वह समुचित ही है।

इसके सिवा अगर (गृह विरत या छठी प्रतिमाधारी) श्रावक और मुनि का रात्रिभोजनत्याग एक कोटि का भी मान लिया जाय तो कोई आपत्ति या बाधा जैसी बात नहीं हैं; क्योंकि जब साधारण श्रावक

---

१. इस परिशिष्टांश पृष्ठ ३२८ में पाद टिप्पण में भी "सर्वथान्ननिवृत्ते-स्तत्" पाठ रखा है यहाँ एक विशेषता और रख दी है 'सर्वथान्नान्' की जगह 'सर्वथान्न' समासपद रखा है।

२. अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥४-२४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक का सम्यग्दर्शन और सातवीं प्रतिमा वाले गृह विरत श्रावक का ब्रह्मचर्य मुनि के सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य के समकक्ष हो सकता है तो रात्रिभोजनत्याग के एक कोटि का होने में क्या बाधा है? अगर यह कहा जाय कि—सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य एक कोटि का होते भी मुनि के संयम की प्रकर्षता से उसमें तरतम भेद है तो यही बात रात्रिभोजन-त्याग के साथ भी लागू हो जायगी। इस तरह श्रावक और मुनि दोनों के लिए रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग बताने में कोई खटकने जैसी बात नहीं है और न इससे दोनों का अन्तर बाधित होता है।

मुख्तार सा०—

"पूज्यपाद और अकलंक देवादि ने तत्त्वार्थ की अपनी-अपनी टीका में रात्रिभोजन विरमण नाम के इस छट्ठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) का उल्लेख किया है और उसे अहिंसा व्रत को आलोकित पान भोजन भावना में अन्तर्भूत बताया है किन्तु रात्रिभोजन में संकल्पी हिंसा नहीं होने से अहिंसाणुव्रत की प्रतिज्ञा में रात्रिभोजन का त्याग नहीं आता तब उसकी भावना में ही उसका समावेश कैसे हो सकता है? अतः यह एक पृथक् व्रत जान पड़ता है और उक्त आलोकित पान भोजन नाम की भावना में इसका अन्तर्भाव नहीं होता। हां महाव्रतियों की दृष्टि से आलोकित पान भोजन नाम की भावना में रात्रि भोजनत्याग का समावेश ज़रूर हो सकता है इसी दृष्टि से पूज्यपाद, अकलंक देव ने उसका समावेश किया है किन्तु ऐसा करते हुए उनकी दृष्टि अहिंसाणुव्रत के स्वरूप पर नहीं पहुँची। उनके सामने अहिंसा महाव्रत और मुनियों का चरित्र ही रहा है इसी से आलोकित पान भोजन के विषय में जो राजवार्त्तिक में विशेष विकल्प उठाये हैं वे सब मुनियों से ही सम्बन्ध रखते हैं जिन सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि—मुनिधर्म को लक्ष्य करके ही रात्रिभोजन विरमण का आलोकितपान भोजन नाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की भावना में अन्तर्भाव किया गया है श्रावक धर्म अथवा उक्त छठे अणुव्रत को लक्ष्य करके नहीं।

यहाँ मैं अपने पाठकों पर इतना और प्रकट किये देता हूँ—श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोकवार्तिक में इस रात्रिभोजन-त्याग को 'छठा अणुव्रत' नहीं कहा है किन्तु रात्रिभोजनविरति इस नाम से ही प्रतिपादन किया है और उसे उन्हीं विकल्पों के साथ आलोकितपान भोजन भावना में अन्तर्भूत किया है इसमे मालूम होता है कि—विद्यानन्द आचार्य की दृष्टि श्री पूज्यपाद और अकलंक देव की उस सदोष उक्ति पर पहुँची है जिसके द्वारा उन्हीं उक्त छठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) को आलोकितपानभोजन भावना में अन्तर्भूत किया था और इसलिए विद्यानन्द ने उसका उपर्युक्त प्रकार से संशोधन करके ('अणुव्रत' नाम न दे करके) कथन के पूर्वापर सम्बन्ध को एक प्रकार से ठीक किया है वास्तव में वार्तिककारों का काम भी प्रायः यही है। वे अपनी समझ और शक्ति के अनुसार दुरुक्तार्थों का संशोधन करते हैं।

समीक्षा :—पूज्यपाद और अकलंकदेव ने किसी दुरुक्तार्थ का प्रतिपादन नहीं किया है न विद्यानन्द ने ही वैसे किसी दुरुक्तार्थ का संशोधन किया है। 'अणु' शब्द प्रयोग के रहस्य को नहीं समझने से मुख्तार सा० स्वयं उलझ गये हैं और मान्य आचार्यों पर दोषारोपण कर बैठे हैं।

जिस तरह कोई लक्ष्मण को राम का छोटा भाई कहे और कोई राम का भाई ही कहे दोनों ठीक हैं उसी तरह पूज्यपाद और अकलंक देव ने रात्रिभोजनविरमण को छठा अणुव्रत कहा है और विद्यानन्द ने उसे व्रत (विरति) ही कहा है। पहला कथन विशेषात्मक है और दूसरा सामान्यात्मक। पहले कथन में कोई दुरुक्तार्थता नहीं है अगर होती तो विद्यानन्द स्वयं उसे प्रकट करते, परन्तु विद्यानन्द ने ऐसा कुछ नहीं किया है अतः दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है विवक्षामात्र है।

'अणु' शब्द से मुख्तार सा० ने उसे मात्र गृहस्थों का व्रत समझ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया है किन्तु अणु शब्द वहाँ कालकृत अल्पता से लघु—छोटे के अर्थ में प्रयुक्त है वह एक देशत्याग से श्रावकों और सर्व देशत्याग से मुनियों दोनों के होता है दोनों के लिए उसका उल्लेख 'अणुव्रत' इस सामान्य नाम से ही किया गया है। इसी सामान्य दृष्टि से पूज्यपाद, अकलंक देवादि ने उसे आलोकितपानभोजन भावना में अन्तर्भूत बताया है लेकिन आलोकितपान-भोजन का कथन अन्य व्रत भावनाओं की ही तरह मुनियों की प्रधानता से किया है किन्तु इससे श्रावक विवक्षा का निषेध नहीं किया है और इसी-लिए आलोकित पान भोजन भावना को अहिंसा व्रत की ही भावना बताई है अहिंसा महाव्रत की नहीं। इस तरह आलोकित पान भोजन भावना श्रावकों के अहिंसाणुव्रत की भी भावना है और उसे श्रावकों के रात्रि-भोजनविरति रूप में मानने में कोई बाधा नहीं है।

आशाधर ने सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक २४ तथा सोमदेव ने यशस्तिलक उत्तरखण्ड पृ० ३३४ में रात्रिभोजन त्याग को अहिंसाणुव्रत का रक्षक और मूलगुणों का विशुद्धक बताया है ऐसा ही यशःकीर्ति कृत प्रबोधसार अ० २ श्लोक ५१ में लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि रात्रि-भोजन का त्याग किये बिना न तो अहिंसाणुव्रत बन सकता है और न मूलगुण ही, इसीलिए रात्रिभोजन को २२ अभक्ष्यों में माना है और आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार ग्रंथ में श्रावक की ५३ क्रियाओं में अनस्त-मित दिवाभोजन–'रात्रिभोजनत्याग' बताया है।

इसके सिवा उत्तरगुण—मूलगुणों के रक्षक होते हैं और आशाधर ने उत्तरगुणों में अहिंसादि १३ व्रतों को और मूलगुणों में रात्रिभोजनत्याग बताया है इस दृष्टि से अहिंसाणुव्रत उल्टा रात्रिभोजनत्याग का रक्षक हो जाता है यह सब कथन दोनों की एकात्मकता को सिद्ध करता है ऐसी हालत में अहिंसाणुव्रत और उसकी भावना में रात्रिभोजनत्याग के अन्त-र्भाव का निषेध करना कोई अर्थ नहीं रखता। अहिंसा से रात्रिभोजनत्याग ही क्या सभी व्रत नियम अन्तर्भूत हो जाते हैं। आचार्यों ने जो अलग-अलग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२ व्रत, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन, मद्य-मांस-मधुत्याग आदि भेदों का उल्लेख किया है वह सब मंदबुद्धियों के लिए सरलता की दृष्टि से किया है।

ऐसी हालत में मुख्तार सा० का यह लिखना कि—'मुनियों की दृष्टि से ही रात्रिभोजनविरमण का आलोकितपानभोजन में अन्तर्भाव होता है श्रावकों के वास्ते वह पृथक् व्रत बताया गया है, बिल्कुल बेजां है; रात्रिभोजनत्याग को पृथक् व्रत श्रावकों के लिए ही नहीं बताया है बल्कि मुनियों के लिए भी बताया है। देखो 'क्रिया कलाप' पृ० ८०, १०२ "आहा-वरे छट्ठे अणुव्वदे राइ भोयणादो वेरमणम्"।

इसके सिवा यह कहना कि—'अहिंसाणुव्रत में सिर्फ संकल्पी हिंसा का ही त्याग होता है और रात्रिभोजन में कोई संकल्पी हिंसा नहीं होती अतः रात्रिभोजनत्याग अहिंसाणुव्रत में नहीं आता, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है बल्कि भ्रान्त और सदोष है।

[1]संकल्पी हिंसा के त्यागी अहिंसाणुव्रती के—जीव मारने का परि-णाम नहीं होता वह आरंभादि हिंसा बिना प्रयोजन नहीं करता, अयत्ना-चार पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता, जानबूझ कर हिंसा कर्म में प्रवृत्त नहीं होता परन्तु रात्रिभोजी के यह सब होता है अतः उसके स्पष्टतः संकल्पी हिंसा का दोष आता है। रात्रिभोजन में स्थावर और त्रसजीवों का प्रचुर घात और रागभाव की अधिकता होने से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की तीव्र हिंसा होती है इससे रात्रिभोजन महा हिंसा यज्ञ है इसका त्याग करना अहिंसाणुव्रत में गर्भित नहीं होगा तो फिर क्या सत्य अचौर्याणु-व्रतादि में होगा? यह सोचने की बात है। रात्रिभोजन और हिंसा का

---

१ समन्तभद्रका अहिंसाणुव्रत का जो लक्षण श्लोक दिया है उसमें भी संकल्पी हिंसा का त्याग मन, वचन, काय कृतकारित अनुमोदना नवों भंगों से बतायी है जिससे रात्रिभोजन स्पष्टतः संकल्पी हिंसा में गर्भित होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्पर अटूट सम्बन्ध है। रात्रिभोजन में महाहिंसा ही नहीं स्पष्टतया मांस भक्षण का दोष भी आता है और उससे मूलगुणों का ही विधान हो जाता है अतः अहिंसाणुव्रती के वह किसी तरह नहीं बन सकता 'अहिंसाणुव्रती' संतोषी, सम्यग्दृष्टि, जाग्रतबुद्धि[1] होता है अतः उसके रात्रिभोजन जैसी महा अयत्नाचार प्रवृत्ति और प्रचुर जीवों का होमकर्म कभी नहीं बन सकता। इसीलिए लिखा है :—

अर्कालोकेन बिना भुंजानः परिहरेत्कथं हिसाम्।
अपि बोधितप्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥

अर्थ :—भोजन करने वाले के, बिना सूर्य के प्रकाश के हिंसा का परिहार कैसे हो सकता है? अर्थात् दीपक जला लेने पर भी रात्रिभोजी के सूक्ष्म जीवों की हिंसा का निराकरण नहीं बन सकता।

शायद 'महाहिंसा का त्याग महाव्रत में और अल्पहिंसा का त्याग अणुव्रत में होना'—समझकर अहिंसाणुव्रत में रात्रिभोजन का त्याग असंभव बताया जाता हो तो यह भी ठीक नहीं है। महाव्रत में तो लघु से लघु हिंसा का त्याग होता है और अणुव्रत में महाहिंसा का त्याग होता है अतः रात्रिभोजनत्याग अहिंसाणुव्रत में समाविष्ट हो जाता है अहिंसाणुव्रत में उसका समावेश किसी तरह असंभव नहीं है।

इस तरह यह संक्षिप्त समीक्षा है। इस लेख का सार यह है कि रात्रिभोजन त्याग के[2] विकालाशनवर्जन, अनस्तमित, दिवाभोजन, छट्ठा अणुव्रत, आलोकितपानभोजन आदि अनेक नामान्तर हैं वैदिकों में जो सूर्य दर्शन करके भोजन करने का व्रत है। वह भी इसी का एक प्रकार है। यह रात्रि भोजनत्याग छठा अणुव्रत मुनि और श्रावक दोनों के

---

१. सागारधर्मामृत अध्याय ४ श्लोक १४। अमितगतिश्रावकाचार अध्याय ६२ श्लोक १७।

२. आदिपुराण पर्व २० श्लोक १६०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है इसे 'अणुव्रत सिर्फ रात्रि में ही भोजन के त्याग की अपेक्षा से अर्थात् कालकृत लघुता की दृष्टि' से कहा है। इसका अन्तर्भाव अहिंसा-णुव्रत—आलोकितपानभोजन भावना में हो जाता है। यह मुनि और श्रावक दोनों ही के अलग भी बताया है।

मेरा पाठकों से निवेदन है कि वे मुख्तार सा० के ट्रेक्ट के एतद् विषयक प्रकरण को आद्योपान्त पढें उन्हें मालूम हो जायगा कि—उक्त समीक्षा कितनी उपयोगी आवश्यक और समुचित है। इसी तरह की गलतियाँ इस विषय में अनेक विद्वानों ने की है और करते जाते हैं। उनके प्रतीकार के लिए मैंने आशाधर के इस रहस्योद्घाटन को प्रकट किया है किसी की व्यक्तिगत आलोचना या मानप्रतिष्ठा को गिराने की दृष्टि से नहीं।

मुख्तार सा० मेरे आदरणीय हैं। मैं यह मानता हूँ कि उन जैसे युक्ति-युक्त और प्रामाणिक लिखने वाले जैन समाज में बहुत कम हैं उन्होंने बहुत-सा साहित्य प्रणयन कर हमारे युगों के अज्ञानांधकार और अन्धश्रद्धा को मेटा है उन जैसे साहित्य तपस्वी पर समाज को गर्व है किन्तु "को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे" अर्थात् शास्त्र समुद्र अथाह है उसमें कौन नहीं चूकता।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'दर्शन' का अर्थ 'मिलना'

संस्कृत में दर्शनार्थक जितनी भी धातुएँ हैं, उनका अर्थ 'मिलना' भी होता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद्य पर दृष्टि दीजिए—

"रिक्तपाणिर्न पश्येत् राजानं देवतां गुरुम्"

यहाँ 'पश्येत्' क्रिया, जिसका अर्थ अगर 'देखें' किया जाय तो ठीक नहीं लगता और निर्दोष भी नहीं रहता है; उसकी जगह 'मिलें' अर्थ किया जाय तो ज्यादा अच्छा लगता है और निर्दोष भी रहता है। उपर्युक्त पूरे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

"खाली हाथ राजा, देवता और गुरु से नहीं मिले"। कोशों में भी दर्शनार्थक धातुओं और शब्दों का अर्थ—"मिलना, साक्षात्कार, मुलाकात" भी दिया है।

अंग्रेजी में भी दर्शनार्थक 'See' धातु का प्रयोग Visit, Meet = मिलना, भेंट करना के अर्थ में भी पाया जाता है। यह तथ्य दृष्टि में न होने से कुछ विद्वान् संपादकों—अनुवादकों ने इस विषय में गलतियाँ की हैं; उदाहरण के तौर पर उनके २-३ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

१—षट्खंडागम धवला टीका पुस्तक १ पृष्ठ ७१ प्रस्तावना पृष्ठ १९, परिशिष्ट २७) में लिखा है—

"जिणपालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासविसयं गदो"—

अर्थ—जिनपालित को देखकर अथवा देखने के लिए पुष्पदंत आचार्य वनवास देश गए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समीक्षा—यहाँ दट्ठूण' का अर्थ जो 'देखकर' या 'देखने के लिए' किया है वह ठीक नहीं है। इसकी जगह 'मिलकर' या 'मिलने के लिए' करना चाहिए।

'देखने के लिए' अर्थ में यह भाव झलकता है कि—'जिनपालित' या तो कोई छोटे से शिशु थे या बीमार थे जिन्हें देखने के लिए पुष्पदंताचार्य वनवास देश गए। किन्तु दोनों बातें नहीं थीं। अगर दोनों बातें हों भी तो किसी मुनि के लिए ऐसा करना उचित नहीं है, यह उसकी पदचर्या के विरुद्ध है। अतः 'दट्ठूण' का अर्थ 'देखने के लिए' करना समुचित नहीं है, उसका अर्थ 'मिलने के लिए' करना चाहिए। यह अर्थ फबता हुआ है और इससे अभिव्यक्ति भी ठीक होती है।

पुष्पदंताचार्य का जिनपालित से मिलने का उद्देश्य उन्हें दीक्षा देकर सिद्धांतसूत्र पढ़ाने का था, यह धवला टीका के उसी प्रकरण में आगे बताया है।

२—उपर्युक्त प्रकरण इंद्रनंदि कृत श्रुतावतार में इस प्रकार है—

वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखम् ॥१३१॥
जग्मतुरथ करहाटे तयोः स यः पुष्पदंतनाम मुनिः।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वासौ भागिनेयं स्वम् ॥१३२॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम्।
तस्थौ च भूतबलिरपि मधुरायां द्रविडदेशेऽस्थात् ॥१३३॥

(तत्त्वानुशासनादिसंग्रह पृ० ८५)

'जैन सिद्धांत भास्कर, भाग ३ किरण ४' में पण्डितवर्य्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने धवलादि के आधार पर "श्रुतावतार कथा" लिखी है, उसके पृ० १३० पर मुख्तार सा० ने लिखा है—

"वर्षायोग को समाप्त करके तथा जिनपालित को देखकर पुष्पदंता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार्य तो वनवास देश को चले गए और भूतबलि भी द्रविड़ देशको प्रस्थान कर गये।

इन्द्रनंदिश्रुतावतार में जिनपालित को पुष्पदंत का भानजा लिखा है और दक्षिण की ओर विहार करते हुए दोनों मुनियों के करहाट पहुँचने पर उसके देखने का उल्लेख किया है।"

समीक्षा—मुख्तार साहब ने भी जो 'देखकर' और 'देखने का' शब्द प्रयोग किया है वह ठीक नहीं है, उसकी जगह 'जिनपालित से मिलकर' और उससे 'मिलने का' शब्द प्रयोग होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चमर

विद्वज्जनबोधक प्रथम खंड पृष्ठ ३७० पर लिखा है :—

प्रश्न—कोई पुरुष तो चमरी गौ के केशनि का चमर बनाते हैं और कहते हैं कि—आदिपुराण में लिखा है और कोई पुरुष निषेध करते हैं सो कैसे है ?

उत्तर—वहाँ (आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ५८ में) 'चमरुह' लिखा है तातें कहे हैं परन्तु इहाँ विचार करने का काम है कि वहाँ जो पदार्थ हैं सो सब स्वर्ग समुद्भव हैं तातें ये चमरी के केश वहाँ नहीं हैं जैसे नारायण के हस्त में शंख लिखे हैं सो शंख के आकार देवोपनीत उत्तम द्रव्य है ये हाड द्रव्य नहीं हैं तथा नारायण का नाम शार्ङ्गी है परन्तु वो धनुष देवोपनीत द्रव्य है सींग का नहीं है तातैं यहाँ चमरी के केश के समान आकृतिमान चमर करना योग्य नहीं है क्योंकि केश तो अस्पृश्य द्रव्य है और इहां परम उत्तम द्रव्य का ग्रहण है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से भलीभाँति समझा जा सकता है कि अहिंसा प्रधान वीतराग जिनधर्म में चंवरी के बालों का चमर किसी तरह ग्राह्य नहीं है—उसका देवाधिदेव अरहंत प्रभु की वैयावृत्य में उपयोग करना योग्य नहीं हैं।

तिस पर भी (विद्यावाचस्पति) पं० वर्धमान जी शास्त्री ने उसका समर्थन और प्रचार करने का बीड़ा उठाया है और जैनदर्शन के ३-४ अंकों में इस विषय को लेकर उदयपुर चतुर्मास करनेवाले मुनिराजों को कोसते हुए युक्ति और शास्त्र से विरुद्ध यद्वातद्वा अनेक बातें लिख डाली हैं जिनका बहुत कुछ खंडन जैनगजट और जैनसंदेश आदि पत्रों में प्रका-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शित हो गया है। मैं भी इस विषय में समीक्षा पूर्वक अपने कुछ विचार नीचे प्रस्तुत करता हूँ :—

१-अशोक वृक्ष, २-पुष्पवृष्टि, ३-दिव्यध्वनि, ४-चमर, ५-आसन, ६-भामंडल, ७-दुन्दुभि, ८-छत्र ये आठ प्रातिहार्य होते हैं। प्रतिष्ठा शास्त्रों में इनको प्रतिमाओं पर अंकित करना बताया है। तदनुसार दक्षिण आदि की कुछ प्रतिमाओं पर ये ८ प्रातिहार्य अंकित पाये जाते हैं। किन्हीं पर थोड़े बहुत कम भी पाये जाते हैं। इन प्रातिहार्यों में से छत्र, भामंडल, सिंहासन और चमर आदि प्रातिहार्य बहुत सी जगह प्रतिमाओं के साथ अलग भी होते हैं पर वर्धमान जी शास्त्री को इस बात का अत्यंताग्रह है कि ये प्रातिहार्य प्रतिमाओं के साथ पूरे आठ होने चाहिये और अलग से होने चाहिए तथा चमर खास चमरी गाय के बालों का होना चाहिए। गोटा किनारी आदि का बना चँमर 'चँमर' नहीं कहला सकता, परन्तु यह सब आग्रह उनका कदाग्रह मात्र है। जब भगवान् जिनेन्द्र की मूर्ति ही असल नहीं होती है वह ही प्रतिकृति नकलमात्र होती है तो अन्य चीजें कैसे वास्तविक हो सकती हैं? नकल भी जो की जाती है वह निर्दोष और अहिंसाप्रधान होती है तभी वह उपादेय और हितावह होती है, ऐसी हालत में हिंसाजन्य चमरी गाय के बाल धर्मपद्धति में कभी ग्राह्य नहीं हो सकते अतः उसी के आकार के जो गोटा किनारी आदि के चमर बनाये जाते हैं वे समुचित हैं। उनकी चमर संज्ञा उसी तरह है जिस तरह पत्थर की मूर्ति जिनेन्द्र भगवान् 'कहलाती है और शतरंज के मोहरें हाथी, घोड़ा, ऊँट, राजा, वजीर आदि कहलाते है अथवा सिंहों से उपलक्षित न होने पर भी सामान्य आसन 'सिंहासन' कहलाते हैं। नृत्यगान करनेवाले आज के साधारण मनुष्य "गन्धर्व" कहे जाते हैं।

जिस तरह एक दो चामरों का संकेत ६४ चामरों का परिचायक हो जाता है। उसी तरह देशामर्शक न्यायानुसार एक दो प्रातिहार्यों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने हर भी मूर्त्ति अष्टप्रातिहार्य युक्त मानी जाने में कोई बाधा नहीं है।

यह कोई जरूरी नहीं है कि अलग से पूरे आठों प्रातिहार्य और वे भी वास्तविक हों ही। अगर ऐसा माना जायगा तो फिर आदिपुराण पर्व २३ में वर्णित १ योजन लंबी शाखाओंवाला विशाल असली अशोक वृक्ष भी होना चाहिए, ओष्ठ तालु आदि के व्यापार से रहित दिव्यध्वनि भी होनी चाहिये, जिसमें भव्यों को अपने सात भव दिख जायें ऐसा वास्तविक भामंडल भी होना चाहिए, छत्र भी १-२ न होकर पूरे तीन होने चाहिए और फिर चँवर भी पूरे ६४ होने चाहिए एक भी कम नहीं। क्या इन सब के लिए पंडितजी तैयार हैं? चमरी के वालों का आग्रह करने वाले पं० वर्धमान जी को शब्दों का गुलाम न बनकर अभिप्राय, संगति व निर्दोषता की ओर भी कुछ ध्यान देना चाहिये।[1]

चामर-चमर की जगह आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ४८-४९ व ५९ में 'प्रकीर्णक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है वहाँ पं० वर्धमान जी चमरी गाय के वालों का अर्थ कैसे निकालेंगे?

सही बात तो यह है कि—ये प्रातिहार्य देवोपनीत होते हैं, यह सब देवकृत माया और विक्रिया होती है। 'प्रातिहार्य' शब्द का अर्थ भी 'माया' होता है। आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ४९,५० और ५२ में चामरों को शुचि-पवित्र एवं निर्मल बताया है ऐसी हालत में इन दिव्य-अलौकिक पवित्र चामरों की संगति लौकिक और हिंसाजन्य चमरी गाय के अपवित्र वालों से करना कितना असमीचीन है यह विज्ञ पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

---

[1] 'हरिवंशपुराण, सर्ग ५ श्लोक ३६४ में अष्ट मंगल द्रव्यों के अन्तर्गत 'शंख' भी बताया है तो क्या पं० वर्धमान जी अष्ट मंगल द्रव्यों में द्वीन्द्रिय जीवों का हाड रूप 'शंख' का उपयोग करेंगे? अगर नहीं तो फिर 'चमर' के साथ ही शब्दार्थ का आग्रह क्यों?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके सिवा पं० वर्धमान जी सा० ने चर्माच्छादित अपवित्र नगाड़ों और तबले आदि को दुन्दुभि प्रातिहार्य माना है पर न तो देव दुन्दुभियों को शास्त्रों में कहीं चर्माच्छादित बताया है और न चर्माच्छादित अपवित्र वस्तुऐं जिनेन्द्र देव के प्रातिहार्य के योग्य ही हो सकती हैं।

समाज में कुछ ऐसे पंडितों का दल है जो गोबर जैसे अपवित्र पदार्थ को जिसमें सतत प्रचुर जीवों की उत्पत्ति होती रहती है जिनेन्द्रदेव की आरती में ग्रहण करने का प्रतिपादन करता है परन्तु साथ में रहस्य की बात यह है कि—यह दल स्वयं आरती में गोबर को कभी ग्रहण नहीं करता ! इसी वर्ग के एक सदस्य श्रीयुत पं० वर्धमान जी शास्त्री हैं, आजकल वे चमरी गाय के बालों से निर्मित चमर का और चर्माच्छादित नगाड़ों का प्रचार व समर्थन करने पर तुले हुए हैं शायद आज के विचारक युग में वे इन बातों से ही जिनशासन की प्रभावना और जिनवाणी का का अनुपम प्रचार समझते हैं। पर यह निश्चित समझिये कि—वे स्वयं कभी चमरों के बालों से निर्मित चमर का जिनेन्द्र देव के ऊपर ढोरने में उपयोग करने वाले नहीं हैं। ऐसे लोगों का कार्य तो अपने अक्षरज्ञान से मनोरंजन करता मात्र होता है। खैर अपनी-अपनी रुचि और अपना-अपना तरीका है किन्तु विशेष दुःख तो इस बात से होता है कि ये लोग अपनी मनःकल्पित, प्रत्यक्ष सदोष दिखने वाली क्रियाओं को भी आगम-सम्मत बताते हैं और दूसरी तरफ सरल, सुलभ, पूर्वकाल से प्रचलित, प्रत्यक्ष ही निर्दोष दिखने वाली तथा निर्विवाद धार्मिक क्रियाओं—आचार पद्धतियों को भी आगम विरुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तम त्याग धर्म

"उत्तमक्षमामार्दवार्जव शौचसत्यसंयमतपत्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्माः ।"

मोक्षशास्त्र के इस सूत्र में दश धर्मों (लक्षणों) का कथन किया गया है। इससे हमारा पर्यूषण पर्व "दश लक्षण" पर्व कहलाया है। पर्यूषण के १० दिनों में प्रत्येक मुमुक्षु भव्य यथाशक्ति इन दश धर्मों का आराधन करता है। ८वाँ धर्म 'त्याग' है, नीचे उस पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—पाठक मनन कर जीवन में उतारने का प्रयत्न करें:—

त्याग का अर्थ छोड़ना है, त्याग बुरी वस्तु का किया जाता है, बुरी वस्तु परिग्रह से बढ़कर और कोई नहीं है सारे पाप इसमें समाविष्ट हैं। धन परिग्रह के लिए संसारी प्राणी अनेक प्रकार की हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, कुशील का सेवन करते हैं, इस तरह सभी पाप इस एक परिग्रह से संपन्न होते हैं। तत्त्वार्थराजवार्त्तिककार के शब्दों में परिग्रह 'सर्वदोषप्रसवयोनिः'—सब दोषों का उत्पत्ति स्थान है और इसलिए महात्माओं ने कहा है कि—'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' अर्थात् प्रतिदिन अर्थ-धन की अनर्थता का चिंतन करो। शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में परिग्रह को "निःशेषानर्थमंदिरं" (संपूर्ण अनर्थों की जड़) कहा है।

अमरकोषकार ने भी परिग्रह के संचय को राक्षसी वृत्ति सूचित किया है, यह बात राक्षस-नामों में दिये हुए 'पुण्यजन' (धनवान्) शब्द से स्पष्ट जानी जाती है और इसीलिए उन्होंने कुबेर को 'धनाधिप' के साथ-साथ 'यक्षराट्' और 'पुण्यजनेश्वर' (राक्षसेश्वर) आदि कहा है। कोशकारों ने 'कुबेर' का अर्थ कुबड़ा, कोढ़ी किया है तथा उसे 'एक पिंग' (पीली आँख वाला) 'गुह्यकेश्वर' (जिसका मुख छिपा हुआ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है 'या गुप्त काम करने वाला) 'नरवाहन' (मनुष्य से पशु की तरह काम लेनेवाला) 'वै-श्रवण' (बहरा; किसी की न सुनने वाला) स। द (कोढ़ी) और 'पिशाच-की' आदि बताया है, इससे परिग्रह-धारियोंका वीभत्स रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

पाप पाँच माने गए हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह; इनमें हिंसा करनेवाले को 'हिंसक', झूठ बोलनेवाले को 'झूठा', चोरी करनेवाले को 'चोर' और कुशील सेवन करनेवाले को 'व्यभिचारी' कहा जाता है। समाज भी इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है और शासन भी इन्हें यथा अपराध दण्ड देता है, पर हम देखते हैं कि 'परिग्रही' को न बुरा कहा जाता है, न समाज ही घृणा की दृष्टि से देखता है और न राज्य-शासन ही उसे दंडित करता है उल्टा परिग्रही धनवान को भाग्यशाली और पुण्यात्मा कहा जाता है, "द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः" (मोक्षशास्त्र अ० ५ सूत्र ४१ का व्यंग्यार्थ) जिनके पास धन होता है वे गुणहीन होने पर भी गुणी कहलाते हैं, कैसी विडंबना है। सच है धन ने बुद्धि को भी कैद कर लिया है, पर इससे परिग्रह पाप की कोटि से नहीं निकल जाता है वह पाप ही नहीं वास्तव में महापाप है चाहे हम उसकी चकाचौंध में फँसकर उसकी बुराइयों से आँखें मूँदे रहें पर किंपाक फल की तरह आखिर उसका परिणाम महा अनिष्टकारी ही होता है। हम जो संसार रूपी कीचड़ मे बुरी तरह अनादिकाल से फँसे हुए हैं वह कीचड़ और कोई नहीं यह परिग्रह ही है अतः हम परिग्रह को ही संसार कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। इस परिग्रह-पिशाच के ही वशीभूत हो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने का प्रयत्न करता है, महा विनाशकारी शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया जाता है। परिग्रह, संग्रह ही के कारण देश में भूखमरी, ब्लेकमार्केट, अनाचार और अशान्ति फैलती है। परिग्रह सब तरह से महा-दुःखकारी है उसके अर्जन में दुःख, रक्षण में दुःख और उसके गमन में दुःख फिर भी गहरे मोह और मिथ्यात्वकी वजहसे यह प्राणी उसके पीछे पागल हो रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रकारों ने परिग्रह के तीन भेद किये हैं—चेतन, अचेतन और चेतना-चेतन (मिश्र)। कुटुम्ब, नौकर, पशु-पक्षी आदि चेतन परिग्रह हैं, धन धान्यादि उपभोग परिभोग सामग्री अचेतन परिग्रह है और उपवन कूप जलाशयादि मिश्र परिग्रह हैं, उपर्युक्त सब परिग्रहों को बाह्य परिग्रह भी कहते हैं। मिथ्यात्व-राग-द्वेष-क्रोध मान माया लोभादि—आभ्यंतर परिग्रह हैं इनको मिश्र परिग्रह भी कहते हैं। मुमुक्षु को इन सबका यथाशक्ति परिमाण और त्याग करना चाहिए। जिस तरह भी बने इस पाप के बोझ को हलका करने की ओर पूरा प्रयत्न-शील रहना चाहिए और भदन्त गुणभद्र की इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि—परिग्रही व्यक्ति की निश्चय से नीच गति होती है जैसे तराजू का भारी पलड़ा सदैव नीचे की ओर ही झुकता है।

प्रश्न—जिनके पास धन नहीं ऐसे दरिद्री मनुष्य तो परिग्रह पाप से मुक्त समझे जाने चाहिए ?

उत्तर—वे तब तक मुक्त नहीं हैं जब तक उनकी लालसायें परिग्रह के संचय में संलग्न हैं, यह दूसरी बात है कि उन्हें मेहनत करने पर भी प्राप्त नहीं होता या वे अभी तक अपनी मंजिले मकसद को पहुँच नहीं पाये हैं पर हैं वे उसी पथ के पथिक। इसलिए वस्तुतः परिग्रही हैं ! वास्तविक परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह ही है इसीलिए सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण—"मूर्च्छा परिग्रहः" दिया है जब तक बाह्य पदार्थों में हमारा ममत्वभाव है हम पूरे परिग्रही हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि—धन के दरिद्री जब तक ममत्त्व लालसा के दरिद्री नहीं हैं वास्तव में वे परिग्रही ही हैं ! विना आभ्यन्तर त्याग किये बाह्य त्याग कोई कार्यकारी नहीं, आभ्यन्तर त्याग होने पर बाह्यत्याग तो स्वतः सिद्ध है अगर हम ऐसा नहीं मानेंगे तो मुक्ति कभी सम्भव ही नहीं क्योंकि लोक के एक-एक प्रदेश में बाह्य पदार्थ भरे हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याग का दूसरा नाम दान भी है। आचार्यों ने श्रावक के दैनिक षट्कर्मों में 'दान' भी एक नित्य कर्म बताया है। दान चार प्रकार का है—आहार, औषध, शास्त्र और अभय। प्रतिदिन हमें कुछ न कुछ दान करके अपने पापरूपी कर्ज और भार को हलका करना चाहिए।

मूर्खो न हि ददात्यर्थं नरो दारिद्रशंकया।
प्राज्ञस्तु वितरत्यर्थं नरो दारिद्रशंकया॥

मूर्ख आदमी दरिद्र हो जाने की शंका से दान नहीं करता किन्तु बुद्धिमान दरिद्र हो जाने की शंका से दान करता है। 'दरिद्र हो जाने का भय, दोनों को है पर दोनों की भावनाओं में रात-दिन का अन्तर है—मूर्ख तो मूर्खतावश सोचता है कि—दान करूँगा तो निर्धन हो जाऊँगा, जब कि बुद्धिमान यह सोचता है कि—अभी तो धन है खूब दान कर लेना चाहिए न जाने कब दरिद्री हो जाऊँ फिर दान करना ही मुश्किल हो जायगा। दोनों की भावनाओं में जो अन्तर है समझदारों को उसे अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए।[1]

हम लोगों ने कुछ ऐसी परम्परा स्वीकार कर ली हैं कि—न्याय या अन्याय जैसे भी बने वैसे पहले तो धन का खूब उपार्जन करना और फिर उसमें से कुछ दान कर दानी और धर्मात्मा कहलाना; पर यह कोई ठीक रीति नहीं है यह तो एक तरह का द्राविड़ी प्राणायाम है अगर हम न्याय नीति से आवश्यकता के अनुसार ही धनोपार्जन करें तो दान का सवाल ही उत्पन्न न हो—न तो फिर लेनेवाला ही मिले और न हमारे पास देने

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ सूत्र अन्तिम—"विघ्नकरणमन्तरायस्य" की टीका राजवार्तिक में लिखा है–द्रव्य का नहीं देना, और उसके नहीं देने का समर्थन करना दोनों ही अन्तराय कर्म के आश्रव हैं। श्लोकवार्तिक में लिखा है–प्रभूत दान देने वाले को कम दान देने का (द्रव्यापरित्याग) उपदेशादि करना भी अन्तराय का आश्रव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जितना ही हो—स्वतः ही साम्यवाद उपस्थित हो जाय और हमारा जीवन भी काफी निराकुल शान्तिपूर्ण बन जाय। इस विषय में अन्य अगर कोई गलती करे तो उसकी गलती मानी जा सकती है पर निर्ग्रंथ महावीर के अनुयायी कहलाने वाले हम भी अगर यह गलती करें तो शोचनीय हो जाता है, हमें वीर के उपदेशों की रोशनी में एक बार अपना अन्तःपरीक्षण करके देखना चाहिए कि हम किधर जा रहे हैं।

वस्तुतः परिग्रह का त्याग कोई दान या धर्म नहीं है वह तो पाप का प्रायश्चित्त भर ही है फिर भी कुछ सज्जन इस स्वभाव के हैं कि दान में रुपये तो बोल जाते हैं पर उन्हें देना नहीं चाहते या विलम्ब से देते हैं; अनेक प्रकार की आना-कानी करते हैं, अनेक अड़ंगे उपस्थित करते हैं बेजां शर्तें लगाते हैं—एक तरह से यह सब न देने की ही कोटि में आ जाता है इसकी ओर दानी कहलाने वालों को ध्यान देना चाहिए। दान देने में जब किसी की कोई दाब-धौंस नहीं है वह अपनी स्वेच्छा से दिया जाता है तब फिर यह अड़ंगा क्यों ? और क्यों दानी महानुभाव त्याग की हुई वस्तु से चिपटे रहना चाहते हैं ? उन्हें तो चाहिए कि दान की हुई राशि को शीघ्र दे दें। अगर कोई महानुभाव वास्तव में कुछ देना ही नहीं चाहते हैं तो वे मुफ्त में दानी कहलाने की अपनी यशोलिप्सा पर काबू करके दान में कुछ नहीं बोलें तो अच्छा रहे ताकि दूसरे भाइयों में जो उनकी वजह से गलत परम्परा पड़ती है वह न पड़े।

प्रश्न—जिनके पास धन न हो वे कैसे दान करें ?

उत्तर—जिनके पास धन न हो किन्तु ज्ञान हो वे अपने ज्ञानरूपी धन का दान कर सकते हैं, उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद, सम्पादन, प्रकाशन करना, शास्त्र-प्रवचन करना, सन्मार्ग-प्रदर्शक और उद्बोधक लेखादि का लिखना जिससे मिथ्यात्व, शिथिलाचार तथा कुरीतियोंका नाश होकर जिनशासन की वास्तविक प्रभावना हो यह सब उत्तम ज्ञानदान है। धन का दान तो परवस्तु (परिग्रह) का दान है उससे गाँठ का जाता ही क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है ? उल्टा उसका त्याग करके तो पाप का बोझ हलका किया जाता है वह तो एक तरह से उधार का भुगतान मात्र है। किन्तु ज्ञानदान स्ववस्तु (स्वग्रह) का दान है क्योंकि 'ज्ञान' आत्माका अपना गुण है इसलिए ऐसा दान वास्तविक दान है--इस दान में अपना कुछ जाता हो ऐसी बात भी नहीं है जिस तरह एक दीपक की लौ अनेक दीपकों को प्रज्वलित कर देती है और उसका कुछ नहीं जाता उसी तरह ज्ञानदान है। परमार्थ से सोचें तो ज्ञानी किसी को कुछ देता-लेता नहीं है यह तो दूसरों का अज्ञानांधकार दूर कर उनकी वस्तु उन्हें सुझा देता है यह एक प्रकार का उत्कृष्ट परोपकार है फिर चाहे हम त्याग कहें, चाहें दान।

प्रश्न—जिनके पास धन और ज्ञान दोनों न हों वे किस तरह दान करें ?

उत्तर--ऐसे व्यक्ति अपना तन और मन धर्म तथा धर्मात्माओंकी सेवा में लगाकर दानका श्रेय ले सकते हैं, और अपना जीवन सफल कर सकते हैं।

जैनों के धर्मायतनों में प्रायः बहुत पैसा है, भारत सरकार ने कुछ ऐसे कानून बनाये हैं और बना रही है कि अगर हमने धार्मिक-द्रव्य को शीघ्र किसी उचित कार्य में नहीं लगाया तो वह फिर सब सरकार के कब्जे में होगा अतः समय रहते धर्माधिकारियों को अपने प्रमाद और आपसी झगड़ों का त्याग कर इस ओर ध्यान देना चाहिए। परिग्रह-परिमाण जब श्रावक करता है तब मंदिरों के द्रव्य परिग्रह का परिमाण क्यों नहीं किया जाता ?।

किसी जमाने में मन्दिरों का धन और उपकरणादि प्रभावना का का कारण समझा जाता था पर आज परिस्थितियाँ कुछ दूसरी ही हो गई हैं और लोगों के विचारों में भी परिवर्तन हो गये हैं। सोचा जाय तो एक निर्ग्रन्थ के लिये ये सब ठाट-बाट किसी तरह शोभास्पद नहीं कहे जा सकते अतः हमारे मन्दिर वीतराग मूर्ति की ही तरह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ण वीतराग बने तो ज्यादा प्रभावक हों और मन्दिरों की धनराशि पर जो कभी-कभी कलह हो जाती है वह भी मिट जाये तथा जो आये दिन चोरी की वारदातें होती हैं वे भी न हो सकें। हमारे मन्दिर त्यागधर्मकी शिक्षा देनेवाले मूर्तिमान आदर्श होने चाहिए; सही मायने में तभी हम 'दिगम्बर' कहलाने के अधिकारी हैं।[1]

●

---

१. पहिले प्राचीन समय में ८ प्रातिहार्य मूर्तियों पर ही उत्कीर्ण किये जाते थे पर बाद में भट्टारकीय जमाने में छत्र-चमर भामंडल, सिंहासन आदि अलग से सोने के बनाये जाने लगे। इस तरह हमने वीतरागी को पूरा सरागी बना दिया। यही कारण था कि बाद में मूर्त्तियों पर ये ८ प्रातिहार्य नहीं उत्कीर्ण किये जाने लगे क्योंकि जब बाहर से ये सब होने लगे तो मूर्त्ति में अनावश्यक समझे गये। भगवान् को सोने की नालकी व सोने के रथ में विराजमान करके निकालने की प्रथा भी भट्टारकों द्वारा ही चलाई गयी प्रतीत होती है। पूर्व समय में हम खासे वीतरागी थे जितना हम परिग्रह-धन से दूर रहे धन हमारे पीछे-पीछे दौड़ने लगा। समय पाकर कुछ भाई उसके चक्कर में आ गये और इस तरह निर्ग्रन्थ जैनी काफी सग्रंथी हो गये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धरणेन्द्र पद्मावती

प्रतिष्ठा ग्रन्थों में तीर्थंकरों के चौबीस यक्ष और चौबीस यक्षियों के नाम आते हैं। ये ही शासन देव-देवियाँ कहलाती हैं। इनमें से श्री पार्श्वनाथ स्वामी के यक्षका नाम धरण और यक्षिणीका नाम पद्मा या पद्मावती लिखा मिलता है। ये ही वे धरमेन्द्र-पद्मावती माने जाते हैं जो नाग-नागिन के जीव थे, अग्नि में जलते हुए जिनको कि भगवान् पार्श्वनाथ ने नमस्कार मन्त्र सुनाया था जिसके प्रभाव से वे धरणेन्द्र पद्मावती हुए थे। इस प्रकार की आम धारणा जैन समाज में चली आ रही है। किन्तु इन धरणेन्द्र-पद्मावती को अगर हम पार्श्वनाथ की यक्ष-यक्षी मान लेते हैं तो नीचे लिखी शंकायें उठती हैं।

धरणेन्द्र के विषय में शंकायें—

१—धरणेन्द्र तो भवनवासी देवनिकाय के अन्तर्गत नागकुमार जाति के देवों का इन्द्र माना गया है। उसे यक्ष कैसे कहा जा सकता है?

२—चौबीस यक्षों में कोई भी यक्ष ऐसा नहीं है जो किसी जाति के देवनिकायका इन्द्र हो। तब यह धरण यक्ष ही नागकुमारों का इन्द्र धरणेन्द्र कैसे माना जा सकता है?

३—इन शासन देव-देवियों की कथा-चरित्र किसी भी प्रामाणिक जैन आगम में अभी तक देखने में नहीं आया है कि किस वजह से ये शासन देव-देवियाँ मानी गयी हैं? ऐसी सूरत में धरणेन्द्र और उसकी देवी को पार्श्वनाथ स्वामी के शासन देव-देवी मानकर उनकी यह कथा पार्श्वनाथ-चरित्र में बताना सन्देहजनक है। अर्थात् यह धरणेन्द्र और उसकी देवी पार्श्वनाथ की शासनदेव-देवी नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४—त्रिलोक प्रज्ञप्ति प्रथम भाग के पृष्ठ २६६ में तो पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम ही 'धरण' न लिखकर 'मातंग' लिखा है। इसके अलावा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने बनाये अभिधान चिन्तामणि कोश में पार्श्वनाथ के यक्षका नाम धरण न लिखकर पार्श्वयक्ष नाम लिखा है। यही नाम पूजासार दिगम्बर ग्रन्थ में भी लिखा है। यदि वास्तव में धरणेन्द्र ही पार्श्वनाथ का यक्ष होता तो ये नाम वेद शास्त्रों में नहीं पाये जाते। अतः धरण और धरणेन्द्र दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं।

पद्मावती के विषय में विचार—

प्राचीन जैन साहित्य में तो धरणेन्द्र की कोई पद्मावती नाम की देवी हुई है ऐसा उल्लेख ही नहीं मिलता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार में धरणेन्द्र की अग्रदेवियों के कोई नाम ही नहीं मिलते हैं। हाँ असुरकुमारों के इन्द्र चमर और वैरोचन की अग्रदेवियों के पाँच-पाँच नाम जरूर मिलते हैं। उन नामों में 'पद्मा' नाम की अग्रमहिषी वैरोचन के बताई है। धरणेन्द्र (नागकुमारों के इन्द्र) के नहीं बताई है।

हरिवंशपुराण सर्ग २२ श्लोक ५४, ५५, १०२ में धरणेन्द्र की देवियों के नाम दिति अदिति लिखे हैं। पद्मावती नहीं लिखा है।

अकलंकाचार्य कृत राजवार्तिक में धरणेन्द्र की अग्रदेवियोंकी छह संख्या बताई है पर उनके नाम नहीं लिखे हैं।

आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के पर्व ७३ श्लोक १४१ में लिखा है कि—"नाग नागिनी मरकर नाग का जीव धरणेन्द्र और नागिनी का जीव उसकी पत्नी हुआ।" इतना ही लिखा है। यहाँ भी पत्नी का नाम नहीं लिखा है। भगवान् पार्श्वनाथ के उपसर्ग निवारण के लिये वे आये थे उस प्रसंग में भी उत्तर पुराण में पद्मावती नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। यह भी नहीं कह सकते हैं कि संक्षिप्त कथन करने की वजह से पद्मावती का नाम नहीं लिखा गया है। क्योंकि इसी पर्वके अन्त में मंगल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप से अनेक पद्य लिखे गये हैं। उनमें भी उपसर्ग निवारण का जिक्र करते हुए आचार्य गुणभद्र ने तीन जगह "धरणेन्द्र की देवी" इतना मात्र ही लिखा है, मूलपाठ में कहीं भी पद्मावती नाम नहीं लिखा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्य आचार्यों की तरह गुणभद्र की दृष्टि में भी धरणेन्द्र की देवी पद्मावती नाम की नहीं थी। दूसरा नाम भी उन्होंने नहीं दिया इससे यही मालूम पड़ता है कि गुणभद्र की परम्परा में धरणेन्द्र की देवियों के नाम विच्छेद हो चुके थे। यही कारण है जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार और राजवार्तिक में धरणेन्द्रकी देवियों के नाम लिखे मिलते हैं।

आचार्य समंतभद्रकृत स्वयंभूस्तोत्र में भी पार्श्वनाथ की स्तुति में 'धरण' का तो उल्लेख है पर पद्मावती का नहीं है।

और तो क्या श्वेतांबराचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' के पार्श्वनाथ चरित्र में भी नाग नागिनी का मरकर धरणेन्द्र और उसकी देवी होना तो लिखा है। पर देवी का नाम पद्मावती वहाँ भी नहीं लिखा है।

इन सब बातों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—जब श्री पार्श्वनाथ स्वामीके धरण नाम के यक्ष को धरणेन्द्र करार दे दिया तो उन्हीं भगवान् की यक्षिणी पद्मावती को भी धरणेन्द्र की देवी पद्मावती बना दिया है। ऐसा करते हुए यह भी नहीं सोचा कि क्या प्रत्येक तीर्थंकरकी यक्ष-यक्षी का आपसमें दाम्पत्य सम्बन्ध है? इसलिये न तो धरण यक्ष धरणेन्द्र है और न पद्मावती यक्षिणी ही धरणेन्द्र की देवी पद्मावती है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि—धरणेन्द्र पद्मावती की यह कल्पना मूल संघ से भिन्न द्राविड़ादि संघ वालों ने की है। मल्लिषेण (भैरव पद्मावती कल्प के कर्ता) वादिराज (पार्श्वनाथ चरित के कर्ता) जो कि द्राविड़ संघी थे उन्होंने ऐसा कथन किया है। सम्भव है उनकी गुरु परम्परा से भी ऐसा कथन चला आ रहा हो। इन्हीं का अनुसरण बाद के कुछ ग्रंथकारों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने भी किया है। द्राविड़ संघ के साधुओं की गणना मठपति साधुओं में की जाती है। ये साधु जागीरें रखते हैं। संघभेद होनेसे द्राविड़ संघ और मूलसंघ की मान्यताओं में भी कहीं-कहीं फर्क रहता है। यही कारण है जो द्राविड़संघी वादिराज कृत पार्श्वनाथ चरित्र का कथन मूलसंघी गुणभद्र कृत उत्तर पुराण से कहीं-कहीं मिलता नहीं है। श्री पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाला कमठ के जीव का नाम वादिराज ने भूतानन्द नामका असुर जाति का देव लिखा है। जबकि उत्तरपुराण में संवर नामक ज्योतिषी देव लिखा है। भूतानन्द यह नाम भी त्रिलोकसारादि ग्रंथों में असुरों में न लिखकर नागकुमारों में लिखा है।

इस सारे ऊहापोह से यह प्रकट होता है कि—श्री पार्श्वनाथ स्वामी के जो यक्ष-यक्षिणी धरण और पद्मावती के नाम से कहे जाते है वे नाग नागिनी के जीव धरणेन्द्र और उसकी देवी से बिल्कुल भिन्न हैं। यानी यह धरणेन्द्र और उसकी देवी जो कि नाग-नागिनी के जीव थे पार्श्वनाथ भगवान् की शासन देव-देवी नहीं है। और जहाँ इनको पार्श्व-नाथ की शासन देव-देवी लिखा है वह अजीब मेल किया है वह कथन मूलसंघ का नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वसुनंदि और उनका प्रतिष्ठासार-सग्रह

आचार्य वसुनंदि का बनाया एक प्रतिष्ठासार संग्रह नाम का ग्रन्थ है जो अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है। और एक वसुनंदि श्रावकाचार नाम का ग्रन्थ भी वसुनंदिकृत है जो मुद्रित हो चुका है। इन दोनों ग्रन्थोंके कर्त्ता एक ही वसुनंदि हैं? या जुदे-जुदे है? प्रस्तुत लेख में इसी पर विचार किया गया है।

पं० आशाधर ने वसुनंदिके श्रावकाचार का उल्लेख अपने बनाये ग्रन्थ में किया है अतः श्रावकाचार के कर्ता वसुनंदि आशाधर के पहले हुये हैं यह निर्विवाद है। किन्तु प्रतिष्ठासार संग्रह के कर्ता वसुनंदि आशाधर के बाद हुये हैं इसलिये वे जुदे हैं। इसकी सिद्धि के लिये निम्नलिखित तीन हेतु हैं—

पं० आशाधर के बनाये प्रतिष्ठा सारोद्धार ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है कि—

"आम्नायविच्छेदतमश्छिदेऽयं ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूपः।"

अर्थ—"उन आशाधर ने यह प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ आम्नायविच्छेद रूप अंधकार को छेदने के लिए युगानुरूप बनाया हैं।"

इस कथन से ऐसा प्रकट होता है कि पं० आशाधर को ऐसा कोई प्राचीन प्रतिष्ठापाठ नहीं उपलब्ध हुआ जिसमें प्रतिष्ठा की विधि पूर्ण और सुव्यवस्थित हो। यह विषय उनको यत्रतत्र विखरा हुआ संक्षिप्त संकेत-मात्र ही मिला है। जैसा कि वसुनन्दि श्रावकाचारमें यह विषय संकेत-मात्र लिखा मिलता है। इसीलिये आशाधर ने प्रतिष्ठा विधि का सिलसिला बनाये रखने की गरज से अपना प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ बनाकर उसमें इस विषय को नया रूप दिया है। यह बात प्रशस्तिगत श्लोकके 'युगानुरूप'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाक्य से स्पष्ट ध्वनित होती है। जब हम वसुनन्दि के प्रतिष्ठासार संग्रह को देखते हैं तो उसमें प्रतिष्ठा का कितना ही विषय सविस्तर पाते हैं, और प्रायः बहुत-सा कथन प्रतिष्ठासारोद्धार और प्रतिष्ठासार संग्रह में इस कदर समान पाते हैं, कि जैसे वसुनन्दि और आशाधर दोनों में से किसी एक ने दूसरे का अनुसरण किया हो। दोनों में पूर्ववर्ती कौन ? और परवर्ती कौन ? यही बात देखने की है। "आशाधर ने वसुनन्दि का अनुसरण किया है" ऐसा इसलिए नहीं माना जा सकता कि—वसुनन्दि कृत सविस्तार ऐसा प्रतिष्ठासार संग्रह यदि आशाधर के पहिले होता तो आशाधर को न तो आम्नाय विच्छेद की चिन्ता होती और न युगानुरूप प्रतिष्ठा ग्रन्थ ही बनाने की आवश्यकता पड़ती। इससे यही सिद्ध होता है कि यह प्रतिष्ठासार संग्रह आशाधर के बाद की कृति है और उसके कर्ता वसुनन्दि ने आशाधर का अनुसरण किया है।

(२)

आशाधर ने अपने बनाये और २ ग्रन्थों में तो क्या खास इसी विषय के प्रतिष्ठासारोद्धार तक में भी कहीं वसुनन्दि के प्रतिष्ठासार संग्रह का एक आध भी पद्य उक्तंच रूप से उद्धृत नहीं किया है। यह कभी नहीं हो सकता कि प्रतिष्ठासार संग्रह आशाधर के वक्त मौजूद होता और वे उसका अपने कथन की प्रामाणिकता के लिये कहीं उल्लेख नहीं करते। हाँ प्रतिष्ठासारोद्धार के प्रथम अध्याय के निम्न लिखित श्लोक में जरूर वसुनन्दि का जिक्र किया गया है—

जयाद्यष्टदलान्येके कर्णिकावलयाद्बहिः।
मन्यन्ते वसुनन्द्युक्तसूत्रज्ञैस्तदुपेक्ष्यते ॥१७५॥

अर्थ—कितने एक कमल की कर्णिका के बाहर के आठ पत्तों पर जयादि देवियोंकी स्थापना मानते हैं। मगर वसुनन्दि प्रणीत सूत्रों के ज्ञाता वैसी स्थापना को नहीं स्वीकार करते हैं। सारे प्रतिष्ठासारोद्धार भर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में वसुनन्दिका सिर्फ यही एक उल्लेख है। इस उल्लेख में भी जिस वसुनन्दि के लिए कहा गया है, वे प्रतिष्ठासार संग्रह के कर्ता वसुनन्दि नहीं हो सकते हैं। क्योंकि प्रतिष्ठासार संग्रह के तीसरे परिच्छेद में खुलासा तौर पर कर्णिका के बाहर के पत्रों पर जयादि देवियोंकी स्थापना लिखी है। यथा—

चतुर्द्वारं चतुष्कोणं मध्ये पद्मं सकर्णिकम्।
न्यसेत्पञ्च गुरूंस्तत्र शरणोत्तममंगलम् ॥ १४ ॥
अनादिसिद्धमन्त्रेण कर्णिकायां समर्चयेत्।
दिग्विदिग्गतपत्रेषु जयाजम्भादिदेवताः ॥ १५ ॥

अर्थ—चार द्वार वाला एक चौकोर मण्डल बनावे जिसके बीच में कर्णिका सहित कमल की रचना करे। कर्णिका पर पंच परमेष्ठी और मंगलोत्तम शरण की स्थापना करके उसे अनादि सिद्ध मन्त्र से पूजे तथा कर्णिका के बाहर के दिशा-विदिशाओं के पत्रों पर जया, जंभादि देवियों की स्थापना करके पूजे।

इस कथन को देखते हुये आशाधर ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार में जिन वसुनन्दि का उल्लेख किया है वे वसुनन्दि प्रतिष्ठासार संग्रहके निर्माता वसुनन्दि से कोई जुदे ही वसुनन्दि जान पड़ते हैं और सम्भवतः वे श्रावकाचार के कर्त्ता ही मालूम होते हैं। क्योंकि वसुनन्दि श्रावकाचार में आठ दल वाले कमल की रचना बताते हुये कर्णिका में अरिहन्त को, व दिशाओं के चार पत्तों वर शेष चार परमेष्ठियोंको व विदिशाओं के चार पत्तों पर रत्नत्रय और तपको स्थापन करना लिखा है। देखो गाथा ४६७ और ४६८.

(३)

प्रतिष्ठासार संग्रह में प्रतिष्ठासारोद्धार के कई पद्य ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। इससे तो प्रतिष्ठासार संग्रह सहज ही आशाधर के बाद का बना सिद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाता है। पाठकों की जानकारी के लिए दोनों ग्रन्थों के कुछ समान पद्यों की तालिका हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं—

प्रतिष्ठ सारोद्धार	प्रतिष्ठासारसंग्रह
अध्याय १ श्लो. ५५ से ५८	परिच्छेद ३ श्लो. ८२ से ८५
,, श्लो. ६६ से ७४॥	परिच्छेद ५ श्लो. २ से १०
,, श्लो. ४२ से ४८	,, ६ श्लो.१३७ से १४३
अध्याय ५ श्लो. ३८ से ४२	,, श्लो. १२९ से १३४
,, श्लो. ५० से ५३	,, श्लो. १४४ से १४७
,, श्लो. ६१ वाँ	,, श्लो. १४८ वाँ

इनके अलावा यत्र तत्र कुछ खण्ड पद्य भी समानरूप से मिलते हैं। कुछ पद्य शब्दों की उलट-पलट करके व बदल करके बनाये हुये भी दृष्टिगोचर होते हैं। अगर प्रतिष्ठासार संग्रह आशाधर के पहिले का होता तो आशाधर के रचे पद्य प्रतिष्ठासार संग्रह में कैसे स्थान पा सकते थे? यों कहना कि "आशाधर ने ही प्रतिष्ठासार संग्रह से ये उद्धृत किये हैं।" दिलमें बैठता नहीं है। आशाधर जैसे महा विद्वान् दूसरे की कृति को अपनी बनाकर प्रकट करे यह सम्भव नहीं है। वे प्रतिष्ठासार संग्रह के श्लोकों को लेते तो उक्तं च लिख करके ही ले सकते थे ऐसा कोई भी उनकी अन्य रचनाशैली को देखने वाला निःसंकोच कह सकता है।

बस ये ही तीन हेतु ऐसे हैं जिनसे प्रतिष्ठासार संग्रह के कर्ता वसुनन्दि, श्रावकाचार के कर्ता वसुनन्दि से भिन्न और आशाधर के बाद में हुए सिद्ध होते हैं।

मैं यहाँ यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि—"जयसेन प्रतिष्ठापाठ" को छोड़कर बाकी सभी प्रतिष्ठापाठ मुद्रित या अमुद्रित जितने भी दि० जैन समाज में वर्तमान में उपलब्ध हुये हैं उन सबकी रचना प्रायः आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठको आधार मानकर की गयी है। और पं०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशाधरजी ने अपना प्रतिष्ठापाठ अपने जमाने के माफिक लिखा है ऐसा वे खुद प्रशस्ति में प्रकट करते हैं। ऐसी अवस्था में विद्वानों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे इस बात की खोज करें कि—आशाधर के पहिले प्रतिष्ठा विधि की रूपरेखा कैसी रही है ? इसके लिए किसी ऐसे प्रतिष्ठा-पाठ का पता लगाना चाहिये जो आशाधर के पहिले का हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठाशास्त्र और शासनदेव

हमें अब तक के अन्वेषण से पता लगा है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जिन्होंने प्रतिष्ठाशास्त्रों का निर्माण किया है उनके नाम ये हैं—आशाधर, हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, अर्यपार्य, वामदेव, ब्रह्मसूरि, नेमिचन्द्र और अकलंक। एकसन्धि और पूजासार के कर्ता तथा सोमसेन आदिकों के बनाये त्रिवर्णाचार व संहिताग्रन्थों में भी प्रतिष्ठासम्बन्धी कुछ प्रकरण पाये जाते हैं। इन सब में पं० आशाधरजी ही सबसे प्रथम हुए हैं अन्य सब उनके बाद के हैं। वसुनन्दिकृत संस्कृत प्रतिष्ठासारसंग्रह के विषय में धारणा थी कि यह आशाधर के पहिले का ग्रन्थ है। यह धारणा गलत हैं। इस सम्बन्ध में हमारा एक लेख "वसुनन्दि और उनका प्रतिष्ठासार-संग्रह" शीर्षक से इसी ग्रन्थ में देखिये जिसमें इसे आशाधर के बाद का सिद्ध किया गया है।

इन सब प्रतिष्ठाशास्त्रों में से सिर्फ आशाधरकृत और नेमिचन्द्रकृत दो प्रतिष्ठाशास्त्र ही मुद्रित हुए हैं। अन्य सब हाल भण्डारों की शोभा बढ़ा रहे हैं। जयसेनकृत प्रतिष्ठाशास्त्र जिसे वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ भी कहते हैं यह भी मुद्रित हो चुका है किन्तु इसे कुछ लोग आधुनिक और अप्रमाण मानते हैं, चूँकि इसके कई विषय ऊपर-लिखित सभी प्रतिष्ठापाठों से मेल नहीं खाते हैं इसलिए हमने भी इसे प्रस्तुत चर्चा से अलग कर दिया है। आशाधरप्रतिष्ठाशास्त्र की रचना वि० सं० १२८५ में और नेमिचन्द्र प्रतिष्ठाशास्त्र की १६वीं शताब्दी में हुई है। ये नेमिचन्द्र ब्रह्मसूरि के भानजे लगते थे और विद्वान् श्रावक थे। इन्होंने अपने प्रतिष्ठाशास्त्र का बहुत सा विषय आशाधर के प्रतिष्ठाशास्त्र के आधार पर लिखा है यह बात दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही प्रकट हो जाती है। अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठाशास्त्रों की जानकारी उनके प्रकाशित न होने से हमें न हो सकी है। तथापि हमारा अनुमान है कि उनमें भी बहुत करके आशाधरका ही अनुसरण किया गया होगा। हस्तलिखित वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासार-संग्रह हमारे देखने में आया है, उसमें बहुत कुछ आशाधर का अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु कितने ही पद्य आशाधर के ज्यों के त्यों भी अपना लिये हैं। अब सवाल उठता है कि ये सब प्रतिष्ठाशास्त्र यदि आशाधर के बाद के हैं तो आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र किस आधार पर रचा है? उनके पहिले का भी कोई प्रतिष्ठाग्रन्थ होना चाहिए। इस विषय में जहाँ तक हमने खोज की है हम यह कह सकते हैं कि—१२वीं सदी में होने वाले एक दूसरे वसुनन्दि जिन्होंने कि प्राकृत में 'उपासका-ध्ययन' ग्रन्थ रचा है जिसका प्रचलित नाम 'वसुनन्दिश्रावकाचार' है। इस श्रावकाचार में प्रतिष्ठाविषयक एक प्रकरण है। इसमें करीब ६० गाथाओं में कारापक, इन्द्र, प्रतिमा, प्रतिष्ठाविधि और प्रतिष्ठाफल इन पाँच अधिकारों से प्रतिष्ठा सम्बन्धी वर्णन किया है। आकरशुद्धि, गुणा-रोपण, मन्त्रन्यास, तिलकदान, मुखवस्त्र और नेत्रोन्मीलन आदि कई मुख्य मुख्य विषयों पर इसमें विवेचना की है। इसी को आधार बनाकर और शासनदेवोपासना आदि कुछ नई बातें मिलाकर पं० आशाधर जी ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र बनाया है। सागारधर्मामृत में भी आशाधर जी ने वसु-नन्दिश्रावकाचार का बहुत कुछ उपयोग किया है। कुछ लोग समझते हैं कि—संस्कृतप्रतिष्ठासारसंग्रह के कर्ता भी ये ही वसुनन्दि हैं? ऐसा समझना भूल है। इन्होंने अगर संस्कृत का प्रतिष्ठाग्रन्थ जुदा ही बनाया होता तो ये फिर यहाँ साठ गाथाओं में प्रतिष्ठा का दुबारा कथन क्यों करते?

वसुनन्दिश्रावकाचार में आये प्रतिष्ठाविधि प्रकरण की एक खास विशेषता हमारी नजर में यह आई है कि इसमें किसी शासनदेव-देवी की उपासना का कहीं भी जिक्र नहीं है। यहाँ तक कि इसमें दिग्पाल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदिकों के नाम तक नहीं हैं। वसुनन्दि को इस प्रणाली का स्वयं आशाधर ने भी उल्लेख किया है। यथा—

जयाद्यष्टदलान्येके कर्णिकावलयाद्वहिः।
मन्यन्ते वसुनंद्युक्त सूत्रज्ञैस्तदुपेक्षते ॥१७५॥

(प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय १)

अर्थ—कमल की कर्णिका के बाहर के आठ पत्तों पर जयादिदेवियों की जो कितने एक स्थापना मानते हैं। उसको वसुनन्दिप्रणीतसूत्र के ज्ञाताजन उपेक्षा करते हैं।

आगे हम पाठकों का ध्यान वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रतिष्ठाविधि प्रकरण की निम्नगाथा पर ले जाते हैं—

आहरण वासियहिं
सुभूसियंगो सगं सबुद्धीए।
सक्कोहमिइ वियप्पिय
विसेज्ज जागावणिं इंदो ॥४०४॥

इसमें लिखा है कि—आभरण व सुगन्धि से भूषित हो, अपने आप को अपनी बुद्धि में 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसा संकल्प करके वह इन्द्र यज्ञभूमि में प्रवेश करे।

इसी के अनुसार आशाधर ने भी अपने प्रतिष्ठाग्रन्थ में इन्द्रप्रतिष्ठाविधि का वर्णन करते हुए मुख्य पूजक में सौधर्मेन्द्र की स्थापना करना लिखा है। वसुनन्दि और आशाधर दोनों का कथन समान होते भी हमें आशाधर का कथन बेतुका जँचता है। वह इस तरह कि जब जिनयज्ञ के मुख्य पूजक को सौधर्मेन्द्र मान लिया गया तो वह यागमंडल में अपने से निम्न श्रेणी के देवों की स्थापना कर और ३२ इन्द्रों में अपनी खुद की भी स्थापना करके उनकी पूजा कैसे कर सकता है? इसलिए आशाधर का यागमंडल की रचना में पंचपरमेष्ठी के अलावा दूसरे कई देव-देवियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को स्थापना कर उनकी पूजा सौधर्मेन्द्र से कराना असङ्गत-सा प्रतीत होता है और इन्द्रप्रतिष्ठा का विधान निरर्थक-सा होकर एक तरह का मखौल-सा हो जाता है। जबकि वसुनन्दि के कथन में ऐसी कोई आपत्ति ही खड़ी नहीं होती है। चूँकि उन्होंने प्रतिष्ठाविधि में कहीं शासनदेव पूजा को स्थान ही नहीं दिया है।

भगवान् के पूजक को इन्द्र का स्थानापन्न बताया जाना ही यह सिद्ध करता है कि पूज्य का स्थान इन्द्र से भी ऊँचा होना चाहिए। और वे अर्हतादि ही हो सकते हैं। न कि व्यन्तरादि शासनदेव, जो इन्द्र से भी निम्नश्रेण के हैं।

पं० आशाधरजी के बनाये ग्रन्थों का बारीकी से अध्ययन करनेवालों को पता लगेगा कि उनके खासकर श्रावकाचार साहित्य पर श्वेताम्बर साहित्य का प्रभाव पड़ा नजर आता है। इसके लिए हम पाठकों को श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र स्वोपज्ञटीका को सागारधर्मामृत के सामने रखकर देखने का अनुरोध करते हैं। तब उन्हें पता लगेगा कि सागारधर्मामृत के कई एक स्थानों पर योगशास्त्र की साफ तौर पर छाया पड़ी हुई है। लेख विस्तार के भय से यहाँ हम उनके उद्धरण पेश करना नहीं चाहते हैं। इसी तरह आशाधर ने जो अपने प्रतिष्ठाग्रन्थ में कई देव-देवियों की भरमार की है और उनका विचित्र स्वरूप चित्रण किया है वह सब भी सम्भवतः उधार लिया गया प्रतीत होता है। ये देवी-देव प्रायः श्वेताम्बर पूजा-पाठों में भी उसी तरह पाये जाते हैं जैसे कि आशाधर ने लिखे हैं। आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र नयी पद्धति से रचा है ऐसा वे खुद उसकी प्रशस्ति में लिखते हैं 'ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूपः' अर्थात् उन आशाधर ने यह प्रतिष्ठाग्रन्थ वर्तमानयुग के अनुरूप बनाया है।

पुरानी कथनी के साथ भिन्न आम्नायकी नयी बातों का मिश्रण करने से आशाधर के बनाये प्रतिष्ठाशास्त्र में ही नहीं सागारधर्मामृत में भी कई एक स्थलों का कथन बेढंगा हो गया है जिसका जिक्र पं० हीरालालजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्री ने भी वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रस्तावना में किया है। उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

'सागारधर्मामृत के तीसरे अध्याय में प्रथमप्रतिमा का वर्णन करते हुए आशाधरजी उसमें जुआ आदि सप्तव्यसनों का परित्याग आवश्यक बतलाते हैं और व्यसनत्यागी के लिए उनके अतीचारों के परित्याग का भी उपदेश देते हैं, जिसमें वे एक ओर तो वेश्याव्यसनत्यागी को गीत, नृत्य-वादित्रादि के देखने-सुनने और वेश्या के यहाँ जाने-आने या सम्भाषण करने तक का प्रतिबन्ध लगाते हैं। तब दूसरी ओर वे ही इससे आगे चलकर चौथे अध्याय में दूसरी प्रतिमा का वर्णन करते समय ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचारों की व्याख्या में भाड़ा देकर नियतकाल के लिये वेश्या को भी स्वकलत्र बनाकर उसे सेवन करने तक को अतीचार बताकर प्रकारान्तर से उसके सेवन की छूट दे देते हैं।.....ये और इसी प्रकार के अन्य कुछ कथन पं० आशाधरजी द्वारा किये गये हैं, वे आज भी विद्वानों के लिए रहस्य बने हुए हैं और इन्हीं कारणों से कितने ही लोग उनके ग्रन्थों के पठन-पाठन का विरोध करते रहे हैं।'

जो लोग बड़े दर्प के साथ यह कहते हैं कि ऐसा कोई भी प्रतिष्ठाशास्त्र नहीं है जिसमें शासनदेव पूजा न लिखी हो। उन्हें अब मालूम होना चाहिए कि वसुनन्दि का प्रतिष्ठाप्रकरण जो उपलब्ध प्रतिष्ठा साहित्य में सबसे पहिले का है उसमें कतई शासनदेवों का कोई उल्लेख ही नहीं है। जिन प्रतिष्ठाशास्त्रों के ये लोग प्रमाण देते हैं वे तो सब आशाधर के बाद के बने हुए हैं और उनके कर्ताओं ने प्रायः आशाधर का ही अनुसरण किया है। और आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र नयी शैली से लिखा है जैसा कि ऊपर हम बता आये हैं। अर्थात् वसुनन्दि के प्रतिष्ठा सम्बन्धी मुख्य विधि-विधानों को लेकर और उनके साथ विचित्र रूपधारी देव-देवियों की पूजा रचकर आडम्बर पूर्ण प्रतिष्ठाग्रन्थ आशाधर ने रचा है। इस रचना को आशाधर ने युगानुरूप रचना बतायी है। इससे साफ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकट होता है कि शासनदेवपूजा की रीति प्रतिष्ठाविधि में प्रधानतया आशाधर की चलाई हुई है और इसलिये यह रीति इनके पूर्व होनेवाले वसुनन्दि के प्रतिष्ठाप्रकरण में नहीं पायी जाती है। अतः बेखटके कहा जा सकता है कि आशाधर के पहिले का ऐसा कोई प्रतिष्ठाशास्त्र हो तो बताया जावे जिसमें शासनदेव पूजा लिखी हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनप्रतिमा का माप

यशस्तिलक उत्तरार्द्ध पृष्ठ ११२ पर एक उद्धृत श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

भववीजांकुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमेताः ।
ते देवा दशतालाः शेषा देवा भवन्ति नवतालाः ॥

इसमें जिनदेव की मूर्ति को दशताल की और अन्यदेव की मूर्ति को नवताल की होना बताया है। त्रिलोकसार में जहाँ कि अकृत्रिम प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है वहाँ भी "दसतालमाण लक्खण भरिया...." इस गाथा नं० ९८६ में प्रतिमा का प्रमाण दस ताल का लिखा है। इन दो उल्लेखों के सिवा अन्य कोई इस विषय का प्राचीन जैन ग्रंथ हमें देखने को नहीं मिला जिसमें प्रतिमा के माप का विस्तृत कथन हो। यह विषय प्रतिष्ठापाठों में होना चाहिए था। कुछ प्रतिष्ठा का विषय वसुनंदि श्रावकाचार में पाया जाता है और वही उपलब्ध प्रतिष्ठाग्रंथों में सबसे पहिले का है किन्तु इसमें भी प्रतिमा के माप के विषय में कुछ नहीं लिखा गया है। पं० आशाधर जी ने इसी को पल्लवित करके अपना प्रतिष्ठापाठ रचा है। अन्य जो भी प्रतिष्ठाग्रंथ मिलते हैं वे सब आशाधर जी के बाद के हैं और प्रायः इन्हीं का उसमें अनुसरण भी किया गया है। पं० आशाधरजी ने भी अपने प्रतिष्ठाग्रंथ में कहीं पर भी प्रतिमा के मापचोप के विषय में कुछ नहीं लिखा है। सिर्फ हिदायत के तौर पर निम्नलिखित एक पद्य लिख कर ही विराम ले लिया है—

जैनं चैत्यालयं चैत्यमुत निर्मापयन् शुभम् ।
वाञ्छन् स्वस्य नृपादेश्च वास्तुशास्त्रं न लङ्घयेत् ॥

अर्थ—जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा बनाने वाला यदि अपना और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजादि का हित चाहता है तो उसे चाहिए कि वह इस विषय में वास्तु-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन न करे।

जैन ग्रंथ-भंडारों में एक वसुनंदिकृत प्रतिष्ठाग्रन्थ हस्तलिखित मिलता है। ये वसुनंदि आशाधर के बाद के हैं ऐसा हम "वसुनंदि और उनका प्रतिष्ठासार संग्रह" नाम के लेख में बता चुके हैं। इस प्रतिष्ठाग्रंथ में एक अध्याय ऐसा मिलता है जिसमें जिनप्रतिमा के अंगोपांगों के माप का विस्तृत कथन किया गया है। वहाँ लिखा है कि—

श्रीवत्सभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्।
निजांगुलप्रमाणेन साष्टांगुलशतायतम् ॥१॥
तालं मुखं वितस्तिः स्यादेकार्थं द्वादशांगुलम्।
तेन मानेन तद्बिम्बं नवधा प्रविकल्पयेत् ॥२॥
तालमात्रं मुखं तत्र ग्रीवाधश्चतुरंगुलः।
कंठतो हृदयं यावदंतरं द्वादशांगुलम् ॥३॥
तालमात्रं ततो नाभिर्नाभिमेढ्रांतरं मुखम्।
मेढ्रजान्वंतरं तज्ज्ञैर्हस्तमात्रं प्रकीर्तितम् ॥४॥
वेदांगुलं भवेज्जानु जानुगुल्फांतरं करः।
वेदांगुलं समाख्यातं गुल्फपादतलांतरम् ॥५॥

अर्थ—जिसका उरस्थल श्रीवत्स से भूषित हो और गोडेतक हाथ के नख पहुँच रहे हों ऐसा जिनबिंब अपने अंगुलप्रमाण से १०८ अंगुल का लम्बा बनाना चाहिये।

ताल, मुख, वितस्ति, और द्वादशांगुल ये सब शब्द एक ही अर्थ को कहनेवाले हैं। इस मान से जिनप्रतिमा नवस्थानों में इस प्रकार बनाई जावे कि १०८ अंगुल में १२ अंगुल का मुख हो, ४ अंगुल की ग्रीवा हो, ग्रीवा से हृदय तक का अन्तर १२ अंगुल का रहे। हृदय से नाभि तक का अन्तर १२ अंगुल का और नाभि से लिंग तक का अन्तर १२ अंगुल का रहे। लिंग से गोडा तक का अन्तर २४ अंगुल (हस्तमात्र) का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहे, गोड़ा ४ अंगुल का बनाया जावे। गोडा से गुल्फ (टिकूण्या) तक हस्त प्रमाण अन्तर रखे और गुल्फ से पगथली तक ४ अंगुल का अन्तर रहे। ऐसे ९ स्थान १०८ भागों में बनाये जावें। यहाँ सिर्फ प्रतिमा की ऊँचाई के माप का कथन किया है। मालूम रहे कि प्रतिमा का, अपना एक अंगुलमाप ही एक भाग कहलाता है।

इसमें वसुनंदि ने प्रतिमा की ऊँचाई का माप १०८ अंगुल का लिखा है और साथ ही १२ अंगुल के माप की ताल संज्ञा लिखी है। इससे तो जिनप्रतिमा ९ ताल की ऊँची बनाई जाना सिद्ध होता है। और 'नवधा' शब्द देकर स्पष्टतया ९ ताल की जिन प्रतिमा बताई है। वसुनंदि का यह कथन ऊपर लिखे यशस्तिलक और त्रिलोकसार के उल्लेखों से मेल नहीं खाता है। यह खास ध्यान देने योग्य बात है।

वर्तमान में जयपुर में शिल्पी लोग जो जैन मूर्तियाँ बनाते है उनका माप तो और भी विलक्षण है वह उक्त वसुनंदी के मत से भी मिलता नहीं है। ये लोग भी वैसे ऊँचाई के १०८ भाग ही करते हैं किन्तु अंगों के माप में वसुनंदिकथित माप से फर्क रहता है। ये लोग १०८ भागों का विभाजन इस प्रकार करते हैं।

मस्तक के केश स्थान से ठोंडी तक मुख १३॥ भाग।
ठोडी से हृदय तक का अंतर····१३॥ भाग।
हृदय से नाभि तक का अंतर····१३॥ भाग।
नाभि से लिंग तक का अंतर····१३॥ भाग।
लिंग से जानु तक का अंतर····२७ भाग।
जानु से पादतल तक का अंतर २७ भाग।

१०८ कुल भाग

वसुनंदि १०८ भागों में १२ भाग का मुख बनाना बताते हैं, ये लोग १३॥ भाग का मुख बनाते हैं। वसुनंदि ने ठोडी से हृदय तक का अंतर १६ भाग का लिखा है ये लोग १३॥ भाग का अंतर रखते हैं इसी तरह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य अंगों में भी फर्क रहता है। हमने इन शिल्पियों से पूछा कि आप लोग इस प्रकार के माप की जो जैन मूर्तियाँ बनाते हो इसका कोई शास्त्र प्रमाण भी आपके पास है क्या तो कुछ नहीं बता सके। कहने लगे परंपरा से जैसी बनती आ रही है वैसी ही बनाते हैं।

पता नहीं प्रतिष्ठाचार्य पंडित लोग इस प्रकार के माप की बनी मूर्तियों को आये साल पास करके उनकी प्रतिष्ठाविधि कैसे करते आ रहे हैं? संभव है इन पंडितों के पास ही इस प्रकार के माप की बनी मूर्तियों का समर्थक कोई आगम प्रमाण हो। यदि ऐसा है तो उन्हें उस आगम-प्रमाण को प्रकट करना चाहिये ताकि कोई भ्रांति न रहे।

हमारी समाज में करीब एक दर्जन प्रतिष्ठाचार्य होंगे उनसे निवेदन है कि उनमें से क्या कोई इस विषय में प्रकाश डालने की कृपा करेगा?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दश दिग्पाल

जैनधर्म में जहाँ एक ओर उच्चकोटि का साहित्य है। जिसमें अहिंसा, कर्मसिद्धान्त, स्याद्वाद, अध्यात्म, द्रव्यचर्चा आदि का ऐसा सुन्दर विवेचन है जो साहित्य संसार में बेजोड़ कहा जा सकता हैं तो दूसरी ओर जैन के नाम से ऐसा भी साहित्य पाया जाता है जिसे क्रियाकाण्डी साहित्य कहना चाहिए। संहिताशास्त्र, त्रिवर्णाचार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि ग्रन्थ इसी कोटि का साहित्य हैं। इस साहित्य का विस्तार १३वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होनेवाले पण्डित आशाधरजी से शुरू होता है। और फिर इनकी देखा-देखी १४वीं शताब्दी में इस विषय का विपुल साहित्य रच दिया गया है। हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, एकसन्धि, अर्यपार्य आदि न मालूम कितने ग्रन्थकार हुए हैं जिन्होंने इसी १४वीं शताब्दी में अधिकतर इसी विषय पर ग्रन्थ रचे हैं। यह सिलसिला आगे पन्द्रहवीं आदि शताब्दियों में भी वामदेव, ब्रह्मसूरि, नेमिचन्द्र, अकलंक, सोमसेन आदिकों के द्वारा बराबर चलता रहा है।

इन क्रियाकाण्डी ग्रन्थों में लौकिक प्रभाव में आकर या किसी परिस्थितिवश कुछ बातें ऐसी भी पाई जाती हैं जिनकी संगति जैनधर्म के मौलिक ग्रन्थों से नहीं बैठती है। उन पर गम्भीर विचार करने से वे साफ़ तौर पर जैनेतर साहित्य से नकल की गई प्रतीत होती हैं उदाहरण के तौर पर हम दश दिग्पालों को लेते हैं। क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में दिग्पालों का जैसा कथन किया गया है वह जैनधर्म के मौलिकशास्त्र करणानुयोग से कहाँ तक मेल खाता है उसी पर यहाँ विचार किया जाता है।

इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत्य, वरुण, मरुत्, कुबेर, ईश, ब्रह्म और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाग ये पूर्वादि दश दिशाओं के दश दिग्पाल अन्य मत में माने जाते हैं। हमारे यहाँ शुरू के आठ नाम तो ज्यों के त्यों वे ही हैं। अन्त के दो नाम ब्रह्म और नाग जो ऊर्ध्व और अधोदिशा के दिग्पाल हैं उनमें फर्क रखा गया है। फर्क रखने का भी कारण यह हो सकता है कि— अन्य मत में यह पृथ्वी शेषनाग पर स्थित मानी जाती है और ब्रह्मदेव का स्थान ऊपर को माना गया है इसलिए उनकी मान्यतानुसार शेषनाग को अधोदिशा का दिग्पाल और ब्रह्म को ऊर्ध्वदिशा का दिग्पाल करार देना संगत है। परन्तु जैन मत के अनुसार यह चीज बनती नहीं है। इसलिए इन दो दिग्पालों में परिवर्तन किया गया। इसमें भी अधोदिशा का दिग्पाल जो नाग है सो नाम तो हमारे यहाँ यही रहने दिया इसके अर्थ में अन्तर करके नाग का अर्थ हमारे यहाँ धरणेन्द्र कर लिया गया है। धरणेन्द्र का स्थान हमारे यहाँ नीचे को माना ही है। इसलिए इसे अधोदिशा का दिग्पाल करार दे दिया गया।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या राजवार्तिक के अनुसार भवनवासियों में असुरकुमारों का स्थान नागकुमारों से भी नीचे की दिशा में माना है। तदनुसार अधोदिशा का दिग्पाल कोई असुरकुमारों में से माना चाहिए था, वह इसलिए नहीं माना गया कि उनका सम्बन्ध नाग शब्द से बैठता नहीं है इसलिए अन्य मत के नाग शब्द से सम्बन्ध बैठाने को धरणेन्द्र नागकुमार को उपयुक्त समझा गया है।

अब रहा ऊर्ध्व दिशा का दिग्पाल ब्रह्म, इसकी संगति जैन मान्यतानुसार किसी तरह नहीं बैठती देखकर इसकी जगह सोम नाम के दिग्पाल की कल्पना की गई है। सोम नाम चन्द्रमा का है, चन्द्रमा ऊपर को रहता ही है। बस ऊर्ध्व दिशा का दिग्पाल सोम थाप दिया गया है। यद्यपि ब्रह्म का अर्थ सिद्धपरमेष्ठी करके और सिद्धों का स्थान भी ऊपर को है ही इस ही इस तरह ब्रह्म नाम भी ज्यों का त्यों अपनाया जा सकता था किन्तु इसमें बाधा यह आती थी कि अन्य ९ दिग्पाल जब संसारी प्राणी हैं तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी श्रेणी में मुक्तजीव को कैसे बैठाया जावे ? अन्यमत में जो रुद्र, यम, इन्द्र, कुबेर आदिकों की गिनती उच्चकोटि के देवों में है अतः उनके शामिल ब्रह्म नाम के दिग्पाल का रहना उचित कहा जा सकता है। इन दो नामों की रद्दावदली की झंझट देखकर क्रियाकांडी जैनग्रन्थों में इसीलिये कहीं-कहीं दश की जगह आठ ही दिग्पाल लिखे मिलते हैं।

श्वेतांवरमत में दश दिग्पालों के नाम अन्यमतवाले ही रहने दिये हैं। किसी नाम में फेर-फार नहीं किया है। ब्रह्म नाम का कोई सामान्य देव-विशेष मानकर इन्होंने ऊर्ध्वदिशा का दिग्पाल भी ब्रह्म ही रहने दिया है। शायद इन्होंने यह सोचा हो कि जब दिग्पालों में रुद्र आदि को किसी अपेक्षा से अपना लिये हैं तो उसी तरह ब्रह्म को भी क्यों न ले लिया जाये ? क्यों उसकी जगह अन्य नाम की कल्पना की जावे ?

जैनधर्म के करणानुयोगी ग्रन्थों में कहीं भी दिग्पालों के उक्त दश नाम लिखे नहीं मिलते हैं। हमारा करणानुयोगी साहित्य जो अतिप्राचीन माना जाता है जिनमें कई जाति के देवों के भेद-प्रभेद उनके विभव परिवारादि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। अगर ये दिग्पाल दरअसल में ही कोई जैन सम्मत देव होते तो यह कभी नहीं हो सकता कि इनका उल्लेख उसमें हुए विना रह जाता।

फिर न मालूम वाद के वने क्रियाकांडी ग्रन्थों में ये कहाँ से आ घुसे ? इनका आधार क्या है ? यह एक खास विचार करने की चीज है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार आदि करणानुयोगी ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि देवों की दश जाति में एक लोकपाल जाति के देव भी होते हैं जिनका नियोग पूर्वादि चारों दिशाओं में रहकर कोटपाल की तरह अपने स्वामी इन्द्र की प्रजा की रक्षा करने का है। सोम, यम, वरुण और कुबेर ये इनके नाम हैं और ये पूर्वादि चारों दिशाओं के क्रम से चार लोकपाल माने जाते हैं। इन्हीं ग्रन्थों में इनको कहीं-कहीं दिग्पाल व दिगीन्द्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी कहा गया है। (देखो तिलोयपण्णत्ति अधिकार ३, गाथा ६६, व अधिकार ८, गाथा ५१३)।

वस्तुतः जैनधर्म में ये चार ही दिग्पाल माने गये हैं। ऊपर लिखे दश दिग्पाल जैन आम्नाय के नहीं हैं। यद्यपि दश नामों में चार नाम वे ही हैं जो ऊपर करणानुयोगी ग्रन्थों में बता आये हैं तथापि इन चारों का क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में जिस ढंग से कथन किया गया है वह करणानुयोग में कथित दिग्पालों को लक्ष्य में रखकर नहीं किया गया है। बल्कि उनका वर्णन अन्यमत के अनुसार किया गया है। नीचे के विवेचन से पाठक देखेंगे कि इन दश दिग्पालों का सम्बन्ध जैन परम्परा से न होकर विशेषतया अन्यमत से ही इनका सम्पर्क सिद्ध होता है—

१—दश दिग्पालों में पूर्वदिशा का दिग्पाल इन्द्र माना गया है। जबकि करणानुयोगी जैनशास्त्रों में पूर्व दिशा का दिग्पाल 'सोम' माना गया है। रविषेण के पद्मपुराण में नकली इन्द्र की कथा में जो इन्द्र ने चार बनावटी लोकपालों की स्थापना की है उनमें भी पूर्व दिशा का लोकपाल सोम ही स्थापन किया है।

२—जैनागम के अनुसार चतुर्देवनिकायों में ३२ इन्द्र होते हैं उनमें से पूर्वदिशा का 'इन्द्र' दिग्पाल किस देवनिकाय का इन्द्र है ? ऐसा कुछ भी उल्लेख क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में नहीं पाया जाता है। क्योंकि यह जैनों की चीज ही नहीं तब इसका विवरण कैसे पाया जावे। अन्य मत में इन्द्र के ऐरावत नाम का हाथी और शची नाम की इन्द्राणी लिखी है सोही इन्होंने लिख दिया है। अन्यमतों में देवों का इन्द्र एक ही होता है वही पूर्वदिशा का दिग्पाल है इस तरह यह कथन उनके यहाँ तो सुसंगत बन जाता है। हमारे यहाँ उसकी संगति नहीं बैठती है। कोई कहे कि जैनों के यहाँ भी सौधर्मेन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत और इन्द्राणी का नाम शची लिखा है अतः पूर्वदिशा का दिग्पाल सौधर्मेन्द्र को ही क्यों न मान लिया जावे ? तो उत्तर यह है कि इस सौधर्मेन्द्र से पूर्वदिशा का क्या सम्बन्ध जो इसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वदिशा का दिग्पाल माना जाये। अलावा इसके पं० आशाधरजी जिन्होंने कि दशदिग्पालों का विशेष विवरण लिखा है वे अपने बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार के दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोक में लिखते हैं कि—'पूजक अपने को सौधर्मेन्द्र मानकर यागमण्डल की पूजा करे।' यागमण्डल में इन्होंने ही दशदिग्पालों की स्थापना कर पूजा लिखी है। ऐसी हालत में यानी सौधर्मेन्द्र को ही पूर्वदिशा का दिग्पाल माने जाने में अड़चन यह उपस्थित होती है कि खुद इन्द्र अपनी ही स्थापना कर अपनी पूजा कैसे करे।

३—क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में ऊर्ध्वदिशा के लोकपाल चन्द्रमा की देवी का नाम रोहिणी और कुबेर का वाहन पुष्पक विमान बताया है। ऐसा ही अन्यमत में बताया है। वाल्मीकी रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग १६ में लिखा है कि—'रावण ने युद्ध में कुबेर को पराजय कर उसका पुष्पक विमान अपने हस्तगत कर लिया था।"

करणानुयोगी जैनशास्त्रों में तो न तो चन्द्रमा के कोई रोहिणी नाम की देवी लिखी है और न कुबेर के पुष्पक विमान ही। और भी दिग्पालों का जैसा स्वरूप इन क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में लिखा मिलता है वैसा किसी भी करणानुयोग में नहीं पाया जाता है।

४—क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में इन दिग्पालों के अन्तर्गत 'सोम' को चन्द्रमा, 'नैऋत' को राक्षस और 'कुबेर' को यक्ष नाम से लिखा गया है। दूसरी तरफ तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि—'त्रायस्त्रिंशत्लोक-पालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्काः' व्यंतर, ज्योतिष्कदेवों में त्रायस्त्रिंशत् और लोकपाल जाति के देव नहीं होते हैं। ऐसी अवस्था में यक्ष, राक्षस जो व्यंतरदेवों के भेद हैं और चन्द्रमा की गणना ज्योतिष्कदेवों में है। इन व्यंतरज्योतिष्कों में ये दिग्पाल कैसे हो सकते हैं? यह तो साफ ही जैनसिद्धान्तविरुद्ध कथन दिख रहा है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति में जैसा कि ऊपर हम बता आये हैं कि लोकपालों को ही दिग्पाल कहा गया है। और अभिषेकपाठ आदि क्रियाकांडी जैनग्रन्थों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में भी कहीं-कहीं इन दिग्पालों को लोकपाल नाम से लिखा है (देखो अभिषेककपाठसंग्रह पृष्ठ ५ और ३६०) इसलिये ग्रन्थकारों का अभिप्राय दोनों को एक ही मानने का प्रतीत होता है। यानी दिग्पाल और लोकपाल ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

५—आचार्य गुणभद्रस्वामी ने उत्तरपुराण में भगवान चन्द्रप्रभ के चरित्र में श्लोक १०२ से ११० में इन दिग्पालों को दिग्मंडल की रक्षा करने में असमर्थ बताते हुए इनको जिन भर्त्सनाभरे शब्दों से याद किया है उन्हें देखते हुए यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में इन दिग्पालों का वह गौरव नहीं था जो बाद के बने क्रियाकांडी जैनसाहित्य में दिखाया गया है। बल्कि वे इनकी मान्यता को थोथी लौकिक मान्यता के सिवा और विशेष कुछ नहीं समझते थे।

इन दशदिग्पालों का उल्लेख हमें ११वीं शताब्दी में होनेवाले सोमदेव के यशस्तिलक में भी मिलता है। वहाँ इनके नाममात्र दिये हैं और इन्हें विघ्नशांति के लिए बुलाये हैं।

सोमदेव के बाद १३वीं शताब्दी में पं० आशाधरजी ने इन दिग्पालों के वे ही दशनाम देते हुए साथ ही इनका कुछ स्वरूप भी लिखा है जो बड़ा ही विचित्र है। नमूने के तौर पर ईशान दिशा के दिग्पाल का स्वरूप जो उन्होंने लिखा है वह नीचे दिया जाता है—

सास्नावाचालकिंकिण्यनणुरणझणत्कारमंजीरसिंजा-
रम्योद्यच्छृङ्गहेलाविहरदुरुशरच्चंद्रशुभ्रर्षभस्थम्।
भास्वद्भूपाभुजंगं भुजगसितजटाकेतकार्द्धेन्दुचूलं
दध्रि शूलं कपालं सगणशिवमिहार्चामि पूर्वोत्तरेशम् ॥१०३॥

—नित्यमहोद्योत-अभिषेकपाठ

इनके बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार में भी यही श्लोक है। इसका भावार्थ ऐसा है कि—'गले में बँधे घुँघरुओं के रुण-झुण शब्द से वाचालित और नूपुरों के अव्यक्त शब्दों से रमणीय ऐसे ऊँचे सींगोंवाले मोटे, सफेद बैल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर जो बैठा है। जिसके सर्पों के आभूषण चमक रहे हैं। जिसकी जटा अर्द्धचन्द्र और चोटी में सर्प लिपटे हुए हैं। एवं जो त्रिशूल और कपाल को धारण किए हैं और नन्दि आदि गण व पार्वती साथ में हैं ऐसे ईशानदेव को मैं पूजता हूँ।"

अन्यमत में जो रूप शिवजी का लिखा है वही यहाँ लिख दिया गया है। आशाधरजी के पहले का हमें ऐसा कोई दिगंबर ग्रंथ नहीं मिला है जिसमें दिग्पालों के ऐसे विचित्र रूप का वर्णन किया गया हो। श्री बनजीठोलिया दि० जैन ग्रन्थमाला, जयपुर से प्रकाशित 'अभिषेक पाठसंग्रह' पुस्तक में भी कुछ ऐसे अभिषेकपाठ हैं जिसमें दिग्पालों का ऐसा ही रूप लिखा है। किंतु वे सब आशाधरजी के बाद के बने हुये हैं। और इस संबंध में जो कुछ आशाधरजी ने लिखा है वही ज्यों का त्यों उन्होंने भी नकल कर दिया है।

उपलब्ध प्रतिष्ठापाठों में बहुत सी देव-देवियों की भरमार की गई है उनमें से इन दिग्पालों के सिवा और भी कई ऐसे देवी-देव लिखे गये हैं जिनमें में कोई तो काल्पनिक हैं, कोई अन्यमत से उड़ा लिये हैं। तत्त्वार्थ-सूत्र आदि मान्य ग्रन्थों में सर्वत्र श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, और लक्ष्मी ये छह दिक्कुमारियाँ लिखी हैं परन्तु प्रतिष्ठापाठों में उक्त छहों में शांति, पुष्टि मिलाकर आठ दिक्कुमारियें बना दी गई हैं। बढ़ाई हुई दो देवियों का कोई शास्त्राधार नहीं तो क्यों न इन्हें कपोलकल्पित कहा जाये। इत्यादि प्रतिष्ठाग्रन्थों की बहुत सी बातें हैं जिनकी चर्चा किसी स्वतंत्र जुदा लेख में ही की जा सकती हैं। लेख विस्तार के भय से यहाँ हम कुछ और अधिक नहीं लिखना चाहते।

आशा है स्वाध्यायशील विद्वान् इस लेख पर शान्तिपूर्वक गम्भीर विचार करेंगे (अगर कोई विचक्षण इन दिग्पालों की उपपत्ति करणानुयोगी जैनग्रन्थों से बैठा दे तो हम उसका सहर्ष स्वागत करने को तैयार हैं। हमारा यह दुराग्रह नहीं है कि—'जो कुछ हमने समझा है वही ठीक है।')

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसे भक्ति कहें या नियोग ?

तीर्थंकरों के कल्याणकों में उनकी या उनके माता पिताओं की सेवा के लिए दिक्कुमारी, रुचकवासिनी, इन्द्राणी आदि देवियाँ और सौधर्मेन्द्र, कुवेर, यक्ष आदि देव उपस्थित होते हैं ऐसा कथन जैन शास्त्रों में पाया जाता है और वह इस ढंग से पाया जाता है कि—किसी भी एक तीर्थंकर का जिस किस्म का सेवा कार्य जिन-जिन नाम के देव-देवियों ने किया उसी किस्म का सेवा कार्य उन्हीं नाम के देवदेवियों ने सभी तीर्थंकरों का किया है। यह रीति अनादिकाल से होते आये तीर्थंकरों के साथ समान-रूप से होती रही है। जैसे भगवान् ऋषभदेव की माता की सेवा श्री, ह्री, धृति आदि दिक्कुमारी देवियों ने की, इसी तरह इन्हीं देवियों ने शेष तीर्थंकर-माताओं की भी सेवा की है वल्कि अनादिकाल से होती आई सभी जिनमाताओं की भी सेवा इन्हीं श्री, ह्री आदि देवियों ने की है। ऐसा आगम के पाठी मानते आ रहे हैं। यही हाल तीर्थंकरों के अन्य सेवा कार्यों का भी है। जन्मकल्याणक में सौधर्मेन्द्र का भगवान् को गोदी में बैठाना, ईशानेन्द्र का भगवान् पर छत्र लगाना, सनत्कुमार और माहेन्द्र का चमर ढोरना आदि अन्यान्य कार्य भी जो एक तीर्थंकर के साथ हुआ वही कार्य इन्हीं इंद्रादि द्वारा अन्य सभी तीर्थंकरों के साथ हुआ है। जैन-शास्त्रों के इस प्रकार के कथनों पर जब हम गहराई के साथ विचार करते हैं तो हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि तीर्थंकरों की सेवाओं में भाग लेने-वाले इन देवों व देवियों का प्रधान कारण जिनभक्ति नहीं है। भगवान् की भक्ति ही कारण होती तो भगवान् की विविध सेवाओं में से कोई सेवा कभी कोई देव करता और कभी कोई देव। सो ऐसा न बताकर सर्वदा के लिये किन्हीं देव-विशेषों के लिये भगवान् की किसी खास सेवा का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रोग्राम निश्चितसा बंधा हुआ है। भगवान् को गोदी में बैठाना, उन पर छत्र लगाना, चमर ढोरना ये कार्य क्या उक्त इंद्रों के सिवा अन्य स्वर्गों के इन्द्र नहीं कर सकते हैं ? नहीं कर सकते तो क्यों नहीं कर सकते हैं। क्या इन जैसी उनमें भक्ति नहीं है। यदि कहो कि सौधर्मेन्द्र एकभवावतारी होता है तो एक भवावतारी तो सभी दक्षिणस्वर्गों के इंद्र भी माने गये हैं। जैसा कि त्रिलोकसार की निम्न गाथा से प्रकट है—

सोदम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जंति ॥ ५४८ ॥

अर्थ—सौधर्मेन्द्र, उसकी शची, उसके लोकपाल व सनत्कुमारादि दक्षिणइन्द्र, लौकांतिकदेव और सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब वहाँ से चयकर मनुष्य हो मोक्ष जाते हैं।

इससे हमें यही मानने को वाध्य होना पड़ता है कि—जो देवी-देव तीर्थंकरों के सेवाकार्य में भाग लेते हैं वे भक्तिवश नहीं किन्तु सदा से जो सेवा का काम जिन देवी-देवों द्वारा होता आ रहा है वह कार्य आगे भी उन्हीं को करना पड़ता है। यह ड्यूटी इनके लिये अनादि से चली आ रही है। चाहे भक्ति हो या न हो और वे सम्यक्त्वी हों या नहीं, उस ड्यूटी का पालन करना उनके लिये आवश्यक होता है। देवगति में जन्म लेनेवालों का ऐसा ही नियोग है। अलबत्ता इनमें जो सम्यग्दृष्टि देव होते हैं वे भगवान् की सेवा का अपना नियोग बहुत कुछ भक्तिभावपूर्वक साधते हैं। किन्तु जिनके सम्यक्त्व नहीं होता वे देव तो भगवान् की सेवा की मात्र ड्यूटी अदा करते हैं। तीर्थंकरों के सेवाकार्य के अतिरिक्त भी कई धार्मिक कार्य ऐसे हैं जिन्हे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव देवगति की परम्परा के माफिक समानरूप से करते हैं। जैसे देवगति में कोई भी देव जन्म लेगा तो वह जन्म होते ही प्रथम जिनपूजा के लिये वहाँ के चैत्यालय में जावेगा। अष्टाह्निकपर्व आने पर प्रायः सभी देव नंदीश्वरद्वीप में पूजा करने को जायेंगे। एवं किसी तीर्थंकर का कहीं कोई कल्याणक होगा तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके समारोह में भी उन्हें शामिल होना पड़ेगा। इत्यादि कार्यों में भाग लेने का देवगति में एक रिवाज सा चला आ रहा है। इसलिए ये सब उन्हें करने पड़ते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ऐसा वे सम्यग्दृष्टि होने की वजह से करते हैं। अगर ऐसा ही माना जाये तो देवों में फिर कोई मिथ्यादृष्टि देव ही होना सम्भव न हो सकेगा। यह बात त्रिलोकप्रज्ञप्ति की निम्न गाथाद्वय से भी सिद्ध होती है—

कम्मखपणणिमित्तं णिब्भरभत्तीए विवहदव्वेहिं।
सम्माइट्ठीदेवा जिणिंदपडिमाओ पूजंति ॥१६॥
एदे कुलदेवा इय मण्णंता देववोहणवलेण।
मिच्छाइट्ठी देवा पूयंति जिणिंद पडिमाओ ॥१७॥

—६ वां अधिकार।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि देव कर्मक्षय के निमित्त गाढ़ भक्ति से विविध द्रव्यों के द्वारा उन जिनप्रतिमाओं की पूजा करते हैं। अन्य देवों के समझाने से मिथ्यादृष्टि देव भी 'ये कुलदेवता हैं' ऐसा मानकर उन जिनप्रतिमाओं को पूजते हैं।

इसलिये जो लोग यह कहते है कि "तीर्थंकरों की सेवा का नियोग जिन देव-देवियों पर है वे सब सम्यग्दृष्टि ही होते हैं" उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है उन्हें इस सम्बन्ध में अभी गंभीर विचार करने की जरूरत है। तीर्थंकरों के चरित्रों में तीर्थंकरों की व उनके माता पिताओं की देव-देवियों द्वारा जो सेवा करने का कथन किया गया है वह एकमात्र उन तीर्थंकरों की महिमा प्रदर्शन के उद्देश्य से किया है न कि देव-देवियों की भक्ति प्रदर्शनार्थ। यह चीज विचारकों के खास ध्यान में रहने की है। 'भूपाल चतुर्विंशति' का स्तोत्र में लिखा है कि—

देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवांगना मंगला-
न्यापेठुः शरदिंदुनिर्मलयशो गंधर्वदेवा जगुः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे,
तत् किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ॥२२॥

अर्थ—इन्द्रोंने आपका अभिषेक किया, देवियों ने मंगल पाठ पढे, गंधर्वों ने आपका यशोगान किया और वाकी वचे समस्त देवों ने भी जैसा जिसका अधिकार था वैसी आपकी सेवा की। अव हमलोग आपको कौन सी सेवा करें ? इस प्रकार हमारा मन सोच में झूल रहा है।

इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि—भगवान् की सेवा अलग-अलग देवों के लिये अलग अलग नियत थी। वह सेवा उनको भक्ति हो या न हो अवश्य ही करनी पड़ती थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचोपचारी पूजा

विक्रम सं० ११०४ में होनेवाले श्री मल्लिषेणसूरिने "भैरवपद्मावती कल्प" के तीसरे परिच्छेद में ऐसा कथन किया है—

आह्वानं स्थापनं देव्याः, सन्निधीकरणं तथा ।
पूजां विसर्जनं प्राहुर्बुधाः, पंचोपचारकम् ॥ २५ ॥
ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि संवौषट् ।
कुर्यादमुना मंत्रेणाह्वानमनुस्मरन् देवीम् ॥ २६ ॥
तिष्ठद्वितयं ठांतद्वयं च संयोजयेत् स्थितीकरणे ।
सन्निहिता भव शब्दं मम वषडिति सन्निधीकरणे ॥ २७ ॥
गन्धीदीन् गृण्ह गृण्हेति नमः पूजाविधानके ।
स्वस्थानं गच्छ गच्छेति जस्त्रिः स्यात् तद्विसर्जने ॥ २८ ॥

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि संवौषट्" इति आह्वानम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः" इति स्थापनम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! मम सन्निहिता भव भव वषट्" इति सन्निधिकरणम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! गंधादीन् गृह्ण गृह्ण नमः" इति पूजाविधानम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः" इति विसर्जनम् ।

एव पंचोपचारक्रमः ।

देवी का आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किये जाते हैं उन्हें पंचोपचार कहते हैं इसी का दूसरा नाम पंचोपचारी पूजा है, इनका मंत्र पूर्वक जो विधिक्रम है वह ऊपर लिख दिया है।

ऐसा प्रतिभासित होता है कि पहिले पंचोपचारी पूजा मंत्र सिद्ध करते के लिये देवताराधन में की जाती थी। अर्हंतादि की पूजा में पंचोपचार का उपयोग नहीं किया जाता था। हम देखते हैं कि सोमदेव ने यशस्तिलक में और पद्मनन्दिने पद्मनन्दिपंचविंशति में अर्हंतादि की पूजा में सिर्फ अष्टद्रव्यों से पूजा तो लिखी है किन्तु आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, विसर्जन नहीं लिखा है। यह चीज हमको प्रथम आशाधर के प्रतिष्ठापाठ और अभिषेक पाठ में मिलती है। आशाधर ने इतना विचार जरूर रक्खा है कि अर्हंतादिकी पूजा में आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण तो लिखा है किंतु विसर्जन नहीं लिखा है। हाँ शासन देवों की पूजा में उन्होंने विसर्जन लिख दिया है। जैसा कि नित्यमहोद्योत के इस पद्य से प्रकट है—

प्रागाहुता देवता यज्ञभागैः प्रीता भर्तुः पादयोरर्घदानैः।
क्रीतां शेषां मस्तकैरुद्वहन्त्यः प्रत्यागंतुं यान्त्वशेषा यथास्वम् ॥१६५॥

इसमें विसर्जित देवों के लिये "अर्हंत की शेषाको मस्तकों पर धारण करते हुये" जाने का उल्लेख किया है। जिससे यहाँ शासनदेवों का ही विसर्जन ज्ञात होता है न कि पंचपरमेष्ठी का। एक बात आशाधर के पूजा ग्रन्थों में यह भी देखने में आती है कि वे शासन देवों की पूजा में तो अर्चना द्रव्यों के अर्पण में "जलाद्यर्चनं गृहाण गृहाण" या "इदमर्घ्यं पाद्यं जलाद्यं यजभागं च यजामहे प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यताम्"

इस प्रकार के वाक्य प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रयोग उन्होंने अर्हंतादि की पूजाओं में नहीं किये हैं। वहाँ तो वे यों लिखते हैं—

"ॐ ह्रीं अर्हं श्री परमब्रह्मणे इदं जलगन्धादि निर्वपामीति स्वाहा।"

फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि अर्हंतादि की पूजा विधि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण की परिपाटी चलाने में शायद ये ही मुखिया हों। अपने बनाये प्रतिष्ठा ग्रन्थ की प्रशस्ति में खुद पं० आशाधर लिखते है कि "मैंने इसे युगानुरूप रचा है" युगानुरूप का अर्थ पूजाविधि में इस तरह की नई रीतियाँ चलाना ही जान पड़ता है।

आशाधर के बाद इन्द्रनंदि हुये जिन्होंने इस विषय में और भी आगे बढ़कर अर्हंतादिकों की पूजा विधि में वे ही पंचोपचार ग्रहण कर लिये जो मल्लिषेणने मंत्राराधन में लिखे हैं। इन्होंने शासन देवों की ही तरह अर्हंतादिकों का विसर्जन भी लिख दिया है। यही नहीं अर्हंतादि की पूजा में द्रव्य अर्पण करते हुये "इदं पुष्पांजलिं प्रार्चनं गृह्णीध्वं गृहीध्वं" तक लिख दिया है। (देखो अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ ३४४) इन्हीं को आधार मानकर एकसंधिने भी अर्हंतादिकों की पूजा पंचोपचार से करना बताते हुये लिखा है कि—"मैंने यह वर्णन इंद्रनंदि के अनुसार किया है" यथा—

एवं पंचोपचारोपपन्नं देवार्चनाक्रमम्।
यः सदा विदधात्येव सः स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः॥
इतीन्द्रनंदिमुनीन्द्रजिनदेवार्चनाक्रमः॥
—परिच्छेद ९वां "एकसन्धिजिनसंहिता"

ये ही श्लोक कुछ पाठ भेद के साथ 'पूजासार' ग्रन्थ में पाये जाते हैं। यथा—

"यः सदा विदधात्येनां सः स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः।
इतींद्रनंदियोगीन्द्रैः प्रणीतं देवपूजनम्॥"

एकसन्धि का पंचोपचारी पूजा के लिये इन्द्रनंदि का प्रमाण पेश करना साफ बतलाता है कि उनके समय में इस विधिका प्रतिपादक सिवाय इन्द्रनन्दिके और कोई पूजा ग्रन्थ मौजूद नहीं था। यहाँ तक कि इन्द्रनन्दि के साथ उन्होंने आदि शब्द भी नहीं लगाया है यह खास तौर से ध्यान देने योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यशोनंदिकृत संस्कृत पंचपरमेष्ठी पूजा में भी आशाधरकी तरह चार ही उपचार मिलते हैं विसर्जन उसमें नहीं है। किन्तु यशोनंदिका समय अज्ञात है कि वे आशाधर के पूर्ववर्ती हैं या उत्तरवर्ती ?

नित्यनियम पूजा में पाँचों ही उपचार पाये जाते हैं किन्तु नित्य नियम पूजा किसी एक की कृति नहीं है। वह संग्रह ग्रन्थ है और उसमें कितने ही पाठ अर्वाचीन हैं। उदाहरण के तौर पर "जयरिसह रिसीसर णमियपाय" यह देवकी जयमाला का पाठ कवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश यशोधरचरित्र का है। उसमें शुरू में ही यह मंगलाचरण के तौर पर लिखा हुआ है—

"वृषभोजित नामा च संभवाश्चाभिनन्दनः।"

पाठ अय्यपार्य कृत अभिषेक पाठ का है जो अभिषेक पाठ संग्रह के पृष्ठ ३१६ पर छपा हैं। ये अय्यपार्य विक्रम सं० १३७६ में हुये हैं।

"ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्तं न कृतं मया।"

विसर्जन का यह पहिला पद्य अशाधर प्रतिष्ठा पाठ से लिया है जो उसके पत्र १२३ पर पाया जाता है।

'आह्वानं नैव जानामि' और 'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं' आदि विसर्जनके दो पद्य सूरत से प्रकाशित भैरव पद्मावती कल्प के साथ मुद्रित हुये पद्मावती स्तोत्र में कुछ पाठभेद के साथ पाये जाते हैं वहीं से इसमें लिये गये हैं। वे पद्य इस प्रकार हैं—

आह्वाननं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजामर्चां न जानामि क्षमस्व परमेश्वरि॥
आज्ञाहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं च यत्कृतम्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि प्रसीद परमेश्वरि॥

अलावा इसके पंचोपचार में प्रयुक्त हुये "संवौषट्" "वषट्" आदि शब्दों पर अब हम विचार करते हैं तो स्पष्टतया यह प्रकरण मन्त्र विषयक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्योतित होता है। वीतराग भगवान् की पूजा जिस ध्येय को लेकर की जाती है उसमें इनका क्या काम ?

वर्तमान में पूजा विधिका जो रूप प्रचलित है वह कितना प्राचीन है ? आशा है खोजी विद्वान् इसका अन्वेषण करेंगे इसी अभिप्राय से यह लेख लिखा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवसेन का नयचक्र

करीब ३७ वर्ष पहिले 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' में "नयचक्रादि संग्रह" नामक एक पुस्तक छपी है। जिसमें ८७ गाथा का एक देवसेनकृत प्राकृत का लघुनयचक्र प्रकाशित हुआ है। कहते हैं कि यह नयचक्र उन्हीं देवसेन का बनाया हुआ है जिन्होंने विक्रम सं० ९९० में दर्शनसार ग्रन्थ संकलित किया है। किन्तु निम्नलिखित कारणों से यह मान्यता ठीक मालूम नहीं होती है।

१—देवसेनने अपने बनाये ग्रन्थों जैसे दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार में अपना नाम कर्त्तापने से दिया है। उक्त नयचक्र में कहीं भी उसके कर्ता का नाम नहीं पाया जाता है।

२—उक्त नयचक्र की गाथा नं० ४७ के आगे "तदुच्यते" वाक्य से दो पद्य अन्य ग्रन्थों के उद्धृत किये गये हैं। उनमें से एक संस्कृत का है और दूसरा "अणुगुरूदेहपमाणो" यह प्राकृत की गाथा है। यह गाथा नेमिचन्द्र कृत 'द्रव्यसंग्रह' की है। द्रव्यसंग्रह का निर्माण दर्शनसार के कर्ता के बाद हुआ है। इसलिये यह नयचक्र दर्शनसार के कर्ता का नहीं हो सकता है।

३—ग्रन्थकारों की अपनी साहित्यिक रचनाओं के नाम रखने की भी अपनी एक कहीं-कहीं खास शैली हुआ करती है। दर्शनसार के कर्ता देवसेन के बनाये ग्रन्थों के नाम सारांत नजर आते हैं। जैसे दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार। "नयचक्र" यह नाम सारांत न होने से उक्त देवसेन का नहीं है। इस प्रकार की शैली नेमिचन्द्राचार्य की भी देखी आती है। इन्होंने भी अपने ग्रन्थों के सारांत नाम रखे हैं यथा—गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दरअसल प्राकृत का यह नयचक्र माइल्लदेव कृत "द्रव्यस्वभाव-प्रकाश" का ही एक प्रकरण मालूम पड़ता है जो उसमें पूरा का पूरा पाया भी जाता है। वह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है, इसीलिये तो इसमें कहीं इसके कर्ता का नाम उपलब्ध नहीं है। अब रही यह बात कि 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' ग्रन्थ की गाथा नं० ३२१ में खुद माइल्लदेव ने जो यह लिखा है कि—"तं देवसेण देवं णयचक्कयरं गुरुं णमह।" "नयचक्र के कर्ता देव-सेन गुरु को नमस्कार करो।" इस कथन से देवसेन का बनाया कोई नय-चक्र जरूर है और वह फिर कौनसा है? और श्वेताम्बर विद्वान् भोजसागर कृत "द्रव्यानुयोगतर्कणा" में भी देवसेन के नयचक्र नाम के दिगम्बर ग्रन्थ का उल्लेख आता है सो कैसे है? इन सबका समाधान यह है कि—

एक गद्यपद्यमय संस्कृत नयचक्र सन् १९४९ में श्री सेठ रखबचन्द्र जी पांड्या सनावद की सहायता से छपा है। जिसका सम्पादन और हिंदी अनुवाद क्षु० श्री सिद्धसागर जी ने किया है और जिसका प्रकाशन वर्द्ध-मानजी पार्श्वनाथ जी शास्त्री द्वारा सोलापुर में हुआ है। यह ८४ पृष्ठ का है। यह भी देवसेन कृत है, जिसे व्योमपण्डित के प्रतिबोध के लिये रचा गया है। नमूने के तौर पर अध्याय की समाप्ति के सूचक वाक्य यहाँ दे दिये जाते हैं—

"इति श्री देवसेनभट्टारकविरचिते व्योमपण्डितप्रतिबोधके श्रुत भवन-दीपे नयचक्रे व्यवहारशुद्धिकथनो नाम द्वितीयोऽध्यायः।"

इसकी प्रशस्ति का एक पद्य भी देखिये—

हिततममिति सम्यग्देवसेनोक्तमेतत्
श्रुतभवनसुदीपं ध्वस्तमोहांधकारम्।
प्रकटितसकलार्थं मुक्तिपुर्यां यियासुः।
स्वमनसि नयचक्रं भव्यलोको दधातु॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस नयचक्र का सम्पादन सिर्फ एक ही प्रति पर से हुआ है। उस प्रति में दूसरा और तीसरा पत्र नहीं था, ऐसा उक्त क्षुल्लक जी ने सूचित किया है।

क्या यह संभावना नहीं की जा सकती है कि माइल्लदेव ने अपने "द्रव्यस्वभावप्रकाश" ग्रन्थ में जिस नयचक्र का उल्लेख किया है वह यही नयचक्र हो। और माइल्लदेव के भी ये ही गुरु हों। इसी तरह भोजसागर द्वारा उल्लिखित देवसेन और उनका नयचक्र भी यह ही हो। इसमें अधिक संभावना इसलिये भी है कि भोजसागर ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख किया है उसे वे द्रव्यानुयोगतर्कणा पृष्ठ ११६ में संस्कृत का बताते हैं। माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रकाशित नयचक्र तो प्राकृत में है। उधर दर्शनसार की वचनिका में पं० शिवजीलाल जी ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख किया है वह भी यही नयचक्र हो। क्योंकि शिवजीलाल जी ने भी उसे संस्कृत का लिखा है।

जिस प्रकार यह संस्कृत का नयचक्र गद्य पद्य में रचा गया है उसी प्रकार गद्य पद्य में आलापपद्धति भी रची गई है। दोनों के कर्ता ये ही देवसेन मालूम पड़ते हैं, न कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन जो १० वीं शताब्दी के हैं।

आलापपद्धति के आरंभ में लिखा है—"आलापपद्धतिर्वचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते।" भांडारकर लाइब्रेरी की प्रति के अंत में लिखा है—"इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्रीदेवसेनविरचिता समाप्ता। इति श्रीनयचक्र संपूर्णम्।" तथा वीरवाणी वर्ष १० अंक ८ में ऐसा उल्लेख है—"इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्री देवसेन पंडित विरचिता। इति श्री नयचक्रं समाप्त छ।" लिखितं कौंरा स्वयं पठनार्थं। (कौंरपाल पं० बनारसीदासजी के साथी थे)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे प्रगट है कि—जिस देवसेन ने संस्कृत में नयचक्र बनाया उसी ने उसे सुख से समझने के लिये आलापपद्धति बनाई है। यह देवसेन पंडित दर्शनसार के कर्ता से भिन्न हैं। और जो प्राकृत नयचक्र है वह माइल्ल देवकृत "द्रव्यस्वभावप्रकाश" ग्रन्थ का एक प्रकरण है। दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया कोई नयचक्र नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवतत्त्व विवेचन

संसार अनादिकाल से छह द्रव्यों से परिपूर्ण है। उसमें एक जीव-द्रव्य भी है। जीवों की संख्या सदा से ही अनंतानंत है। वे जितने हैं उतने ही रहते हैं, न घटते, न बढ़ते हैं। कोई भी जीव नया पैदा नहीं होता है और न किसी का विनाश ही होता है। अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है, कि किसी अन्य देह से निकल कर जीव इस देह में आया है। बस इसे ही उसका जन्म होना कहते हैं। और इस देह से निकल कर जीव अन्य देह में चला गया, बस यही उसका मरण कहलाता है। तत्त्वतः प्रत्येक जीव अजन्मा और अविनाशी है। उन अनंतानंत जीवों में कई जीव अशुद्ध रूप में और कई शुद्ध रूप में पाये जाते हैं। जो अशुद्ध रूप में हैं उन्हें संसारी जीव और शुद्ध रूप वालों को मुक्त जीव कहते हैं।

सब द्रव्यों में एक जीव द्रव्य ही चेतनामय है बाकी सब अचेतन-जड़ हैं। संसार में जो पदार्थ नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं वे सब पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्त्त होने से इन्द्रिय गोचर है। किन्तु जीव द्रव्य रूपी व मूर्त्तिक नहीं है अतः वह किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शून्य रूप है। जीव भी अपनी सत्ता अवश्य रखता है। उसका भी कुछ न कुछ आकार रहता है। संसार-अवस्था में वह देह के आकार में रहता है और मुक्त अवस्था में उसके देह नहीं रहती, तथापि जिस देह को छोड़कर वह मुक्त होता है उस देह के आकार में (किंचित् न्यून) रहता है।

जीव में फैलने और सिकुड़ने की शक्ति विद्यमान है। वह अगर अधिक से अधिक फैले तो अकेला ही सारी सृष्टि को व्याप्त कर सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है किन्तु उसे विभिन्न भवों में जितने प्रमाण का देह मिलता है उतने ही प्रमाण का होकर रहना पड़ता है। भवान्तर में ही नहीं, किसी एक भव में भी बाल्यावस्था के छोटे शरीर में छोटा बनकर रहता है, युवावस्था के बड़े शरीर में बड़ा बनकर रहता है फिर वही शरीर वृद्धावस्था में कृश होकर रहने लगता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे बड़े कमरे में सिकुड़ता-फैलता है, वैसे ही जीव भी बड़ी-छोटी देह में फैलता सिकुड़ता है। प्रत्यक्ष में यह भी देखा जाता है कि जब मनुष्य के दिल में काम वासना पैदा होती है तो उसकी कामेन्द्रिय का प्रमाण बढ़ जाता है। उसी के साथ उसके आत्मप्रदेश भी बढ़ जाते हैं और कामेन्द्रिय का संकोच होने पर उसके आत्म प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं।

यहाँ शंका की जा सकती है कि जैसे दीपक का ढक्कन हटा देने पर उसका प्रकाश फैल जाता है, उसी तरह मोक्ष में जीव के साथ देह के न होने से वह लोक प्रमाण क्यों नहीं फैलता है? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई आदमी पाँच हाथ की लंबी डोरी को समेट कर अपनी मुट्ठी में बंद कर ले, फिर कालांतर में मुट्ठी खोल देने पर भी वह डोरी बिना किसी के फैलाये अपने आप नहीं फैलती है, उसी तरह मोक्ष में देह के न रहने पर आत्मा के प्रदेश भी अपने आप नहीं फैलते हैं।

जीव को देह प्रमाण कहने का अर्थ यह है कि शरीर के प्रायः सभी अंशों में आत्मा के अंश मिले हुए हैं। जैसे दूध में घृत के अंश मिले रहते हैं। शरीर और आत्मा के अंश ऐसे कुछ घुल-मिल जाते हैं कि संयुक्त क्रियाओं में कहीं तो आत्मा का असर शरीर पर होता दिखाई देता है और कहीं शरीर का असर आत्मा पर पड़ा दिखाई देता है। जैसे आत्मा में क्रोध भाव उत्पन्न होने पर मुखाकृति का भयंकर बनना, भृकुटि चढ़ना, चक्षुका लाल होना आदि। इसी तरह हर्ष होने पर मुख का प्रफुल्लित होना, भय होने पर शरीर का कांपना, कामभाव होने पर कामेन्द्रिय में उत्तेजना होना यह सब शरीर पर होने वाला आत्मा का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असर है, तथा बाल शरीर की अपेक्षा युवा शरीर में ताकत का अधिक होना, वृद्धावस्था में ताकत का घट जाना व स्थूल शरीर वाले पुरुष को दौड़ने-कूदने में कठिनाई का अनुभव होना, हाड़ मांसमय एक समान देह होते हुए भी स्त्री और पुरुष की भिन्न-भिन्न आकांक्षा होना अर्थात् स्त्री को पुरुष से रमण करने की और पुरुष को स्त्री से रमण करने की इच्छा होना इत्यादि उदाहरण शरीर का असर आत्मा पर पड़ते हैं।

प्रश्न—अगर शरीर और आत्मा का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तो दोनों को भिन्न न मानकर शरीर को ही आत्मा क्यों न मान लिया जावे ?

उत्तर—दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। एक चेतन है दूसरा अचेतन है। अतः दोनों एक नहीं माने जा सकते हैं।

अगर शरीर ही जीव हो तो मूर्च्छावस्था में शरीर के रहते भी वह अचेत क्यों हो जाता है ? और निद्रावस्था में कर्ण, रसना आदि इन्द्रियों के होते हुए भी वह विषय को ग्रहण क्यों नहीं करता है। कोई मनुष्य शरीर और इन्द्रियाँ ज्यों-की-त्यों रहने पर भी पागल कैसे हो जाता है ? इससे प्रकट होता है कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं।

जीव का स्वरूप जैन शास्त्रों में निम्न गाथा में कहा गया है—

जीवो उवओगमओ, अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो,
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।

—द्रव्य संग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

जीव चैतन्यमय है—जीता है, उपयोगमय है यानी ज्ञाता द्रष्टा है, अमूर्तिक यानी इन्द्रियों के अगोचर है, अच्छे-बुरे कार्यों का करने वाला है, उसका आकार अपना देह-प्रमाण है, और वह सुख-दुख का भोक्ता है। वह संसार में रह रहा है अर्थात् अनेक योनियों में जन्म मरण करता रहता है, शुद्ध स्वरूप से सिद्ध के समान है और ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है। सब द्रव्यों में एक पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जो रूपी यानी दीखने में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आता है, शेष सब अरूपी हैं। कुछ पुद्गल ऐसे भी होते हैं जो अपनी सूक्ष्मता से नेत्रगोचर नहीं भी होते हैं तथापि वे अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य होने से रूपी ही माने जाते हैं। जैसे गंध, शब्द, हवा आदि। कुछ ऐसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल होते हैं जो सभी इन्द्रियों के अगोचर होने पर भी पुद्गल की जाति के ही माने जाते हैं जैसे कार्मणवर्गणा। जब कोई पुद्गल विशेष रूपी होकर भी अपनी सूक्ष्मता की वजह से नेत्र-गोचर नहीं होते हैं तब जीवद्रव्य तो अरूपी है, वह दृष्टि में तो क्या अन्य किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकता है इसी भ्रम में पड़कर कई लोग कहने लगते हैं कि यह शरीर ही जीव है, शरीर से भिन्न कोई जीव नाम का द्रव्य नहीं है। किन्तु ऐसा समझना मिथ्या है। आत्मा सूक्ष्म अरूपी होने से भले ही आँखों आदि से ग्रहण में नहीं आता है तथापि जो देखने जानने वाला है, किसी की इच्छा करता है और जिसको हर्ष सुख-दुख का अनुभव होता है, वही आत्मा है। आत्मा के होने से ही प्रत्येक प्राणी को उसके शरीर के छिन्न-भिन्न करने से दुख होता है। आत्मा के निकल जाने पर मुर्दा शरीर को काटने जलाने आदि से कोई पीड़ा नहीं होती है। इससे जाहिर होता है कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं। उसके अलावा स्मृति, जिज्ञासा, संशयादि ज्ञान विशेष आत्मा के गुण हैं, उनका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से उन गुणों वाला आत्मा भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि गुण से गुणी भिन्न नहीं रहता है। जहाँ गुण है वहाँ गुणी भी अवश्य होता है। जैसे रूपादि गुण प्रत्यक्ष होने से उन गुणों का धारी घट भी प्रत्यक्ष है।

प्रश्न—माना कि गुण और गुणी अभिन्न हैं किन्तु शरीर ही आत्मा होने से वही गुणी है और ज्ञान उस शरीर का गुण है। ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि घट की तरह शरीर मूर्त्ति-वान् और चक्षुगोचर है। वह अमूर्त्तिक ज्ञानादि गुणों का आधार गुणी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं हो सकता। गुण और गुणी में अनुरूपता होती है—विरूपता नहीं। अतः ज्ञानादि गुण जिसमें हैं वह शरीर से भिन्न अन्य कोई अरूपी द्रव्य है और वही आत्मा है।

प्रश्न—ज्ञानादि गुण शरीर के नहीं हैं। ऐसा कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। सब पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से होता है और इन्द्रियरूप ही शरीर है। इन्द्रियाँ न हों तो कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

उत्तर—आत्मा को पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा और इन्द्रियाँ अभिन्न हैं। क्योंकि चक्षु एवं कर्ण के न रहने पर भी अर्थात् अंधा बहरा हो जाने पर भी उनसे उत्पन्न पहिले का ज्ञान आत्मा को बना रहता है। जैसे खिड़कियों के द्वारा देखे हुए पदार्थों का बोध खिड़कियाँ बन्द कर देने पर भी देवदत्त को रहता है। अतः देवदत्त खिड़कियों से जुदा है वैसे ही आत्मा इन्द्रियों से जुदा है। इसी तरह इन्द्रियों के रहने पर भी अगर आत्मा का उपयोग विषय-ग्रहण की ओर न हो तो पदार्थज्ञान नहीं होता है। इसलिए इन्द्रियों के होने पर भी आत्मा को पदार्थ ज्ञान नहीं होता और इन्द्रियों के न होने पर भी पदार्थज्ञान रहता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देहादि से आत्मा कोई जुदी चीज है।

इसके अतिरिक्त किसी दूसरे को इमली खाते देखकर मात्र उसका अनुभव करने से ही हमारे मुँह में पानी आ जाता है। दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुभव करने मात्र से ही हमारी आँखों में अश्रु पैदा हो जाते हैं। यहाँ अनुभव करने वाला शरीर से भिन्न कोई आत्मा ही हो सकता है। एक इन्द्रिय से जानकारी हासिल करके दूसरी इन्द्रिय से कार्य करने, जैसे आँख से घट को देखकर हाथ से उसे उठाने इत्यादि रूप में इन्द्रियों को सोच समझ कर काम में लेनेवाला भी, इन्द्रियों से भिन्न ही कोई हो सकता है। देवदत्त मकान की किसी एक खिड़की से किसी को देखकर दूसरी खिड़की में मुँह डालकर उसे बुलाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, यहाँ जैसे खिड़कियों से काम लेनेवाला देवदत्त खिड़कियों से भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियों को काम में लेनेवाला आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न हैं, जैसे थोड़े ज्ञानवाले पाँच पुरुषों से अधिक ज्ञान वाला छठा पुरुष भिन्न है, उसी तरह एक-एक विषय को ग्रहण करनेवाली पांचों इन्द्रियों से सभी विषयों को ग्रहण करने वाला छठा आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है। एक सेठ अलग-अलग गुमास्ते रखकर उनसे अपनी इच्छानुसार अलग-काम लेता है। जैसे गुमास्तों से सेठ भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियों से अपनी इच्छानुसार अलग-अलग विषय को ग्रहण करने वाला उनका अधिष्ठाता आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है। जैसे रेल के डिब्बे इंजन की गति विशेष के अनुसार चलते हैं, मुड़ते हैं, दौड़ते हैं, धीमे चलते हैं, उसी तरह इन्द्रियाँ भी आत्मा की प्रेरणा से कार्य करती हैं। रेल के डिब्बों से इंजन भिन्न हैं उसी प्रकार इंद्रियों से आत्मा भिन्न है।

इस प्रकार से जब स्वशरीर में आत्मा की सिद्धि होती है तो उसी तरह परशरीर में भी आत्मा है। क्योंकि जैसे स्वशरीर में आत्मा होने से इष्ट में प्रवृत्ति देखी जाती है, तद्वत् परशरीर में भी इष्ट अनिष्ट में प्रवृति देखी जाती है। अतः परशरीर में भी आत्मा है, यह प्रमाणित होता है। इससे जीवों की अनेक संख्या सिद्ध होती है, किन्तु सब संसारी जीवों में ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाने के कारण सब जीव सर्वथा एक समान नहीं हैं, यह भी सिद्ध होता है। इस असमानता का कारण उनका अपना स्वभाव नहीं है। किन्तु उन पर होने वाला पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं का आवरण है।

शरीर यद्यपि अचेतन है तथापि वह चेतन जीव द्वारा चलाये जाने के कारण चेतन सदृश ही दिखाई देता है। जैसे कि बैलों द्वारा चलाया शकट बैलों को तरह ही चलता हुआ दिखाई देता है।

प्रश्न—अगर आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह जन्म के समय शरीर में प्रवेश करते और मृत्यु के समय शरीर से निकलते किसी को क्यों नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिखती है ? जैसे पुष्प से गंध भिन्न नहीं, उसी तरह आत्मा भी शरीर से भिन्न नहीं है। जैसे पुष्प के नाश होने से गन्ध का विनाश हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है। गर्भ में शुक्रशोणित के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होता है। वही शनैः-शनैः बढ़ने लगता है। वहाँ अन्य स्थान से जीव आकर उसमें स्थान कर लेता है ऐसा कहना केवल कल्पना है।

उत्तर—दूर से आया हुआ शब्द नेत्रों द्वारा नहीं देखा जाता। वह कान द्वारा ही ज्ञात होता है। फिर आत्मा तो सूक्ष्म अरूपी और अमूर्त्त है। वह न नेत्रों के गोचर है और न अन्य इन्द्रियों के। इसलिए जीव जन्म-मरण के समय आता-जाता दिखाई नहीं देता है, जैसे चम्पाके पुष्पको तेलमें क्षपण करनेसे उसकी सुगन्ध पृथक् होकर तेलमें मिल जाती है किन्तु पुष्प बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा मृत्युके समय इस शरीरसे निकलकर भवान्तरमें, अन्य शरीरमें, चला जाता है और पूर्व शरीर यहाँ पड़ा रह जाता है। माता-पिता के शुक्रशोणित से बनने वाली देह के सिवा उसमें आने वाली आत्मा का निषेध किया सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि माता-पिता कई बार मैथुन कर्म करते हैं, किन्तु गर्भ तो कभी-कभी ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जब कभी उस समय भवान्तर से जीव आने का संयोग बैठता है तभी गर्भ रहता है। अगर गर्भोत्पत्ति में एक मात्र शुक्रशोणित ही कारण होता तो माता-पिता के हर मैथुन कर्म के समय में गर्भ रहना चाहिए था। जैसे वनस्पति सचित्त अवस्था में होने पर ही जल सींचने से बढ़ती है सूखा ठूँठ अचित्त होने से नहीं बढ़ता है उसी तरह गर्भ की वृद्धि भी सजीव अवस्था में ही होती है, निर्जीव अवस्था में नहीं। साधु लोग बरसों नंगे पाँव चलते हैं। पर उनके तलुवे नहीं घिसते हैं, जब कि जूता पहन कर चलने से वह कुछ काल में ही घिस जाता है। इसका कारण यही है कि तलुवे सजीव हैं। उन्हें खुराक मिलती रहती है जिससे वे घिसते नहीं। जूता निर्जीव होने से घिसता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। पुष्प का नाश होने से उसकी गन्ध का भी नाश हो जाता है, उसी तरह देह के नाश होने पर आत्मा का नाश हो जाता है, ऐसा मानना समीचीन नहीं है। क्योंकि मृत्यु के समय देह का नाश कहाँ होता है? देह तो मौजूद रहती है। फिर क्यों मृत्यु होनी चाहिए।

प्रश्न—देह तो रहती है पर जिन भू, जल, अग्नि आदि पंचभूतों के समुदाय से देह में चेतना उत्पन्न होती है, उनके जीर्ण हो जाने पर देह के रहते भी चेतना नहीं रहती है। इसे ही मृत्यु कहते हैं। जैसे धातकी, पुष्प, दाख, जल आदि के मिश्रण से शराब में मादकता उत्पन्न होती है। वह मादकता शराब पुरानी पड़ जाने पर भी शराब के रहते हुए उसमें से निकल जाती है।

उत्तर—पंचभूतों में से किसी भी भूत में चेतना नहीं है। फिर वह पंचभूतों के मिश्रण से कैसे उत्पन्न हो सकती है? यदि कहा जाय कि धातकी आदि अलग-अलग द्रव्य में मादकता नहीं है किन्तु सबके मिलने पर मद्य उत्पन्न हो जाता है उसी तरह पंचभूतों में से अलग-अलग किसी में चेतना न होने पर भी उनके समुदाय में चेतना उत्पन्न हो जाती है किन्तु ऐसा ही हो तो जलते हुए चूल्हे पर पानी की भरी हंडिया को गरम करते समय पंचभूत इकट्ठे हो जाते हैं, वहाँ चेतना क्यों नहीं पैदा होती है? मद्य के प्रत्येक उपादान द्रव्य में अगर मादकता के कुछ अंश न हों तो उनके समुदाय में भी मादकता कैसे हो सकती है? और फिर धातकी आदि से ही मद्य क्यों बनता? अन्य द्रव्यों से क्यों नहीं? जैसे हर रजकण में तेल के अंश नहीं होते तो उसके समुदाय में भी तेल उत्पन्न नहीं होता है। उसी तरह मद्य के हर एक उपादान द्रव्य में मादकता न होती तो उनके समुदाय में भी मादकता नहीं हो सकती थी। सही चीज तो यह है कि धातकी आदि से जो मदिरा पैदा होती है सो धातकी आदि भी पुद्गल हैं और उनसे उत्पन्न मदिरा भी पुद्गल है। अतः पुद्गल से पुद्गल ही पैदा हुआ उसी तरह पंचभूत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी पुद्गल है तो उनमें भी पौद्गलिक शरीर ही पैदा हो सकता है, चेतनामय आत्मा नहीं। पुरानी हो जाने से शराब रहते भी शराब में से मादकता निकल जाती है उसी तरह शरीर के जीर्ण हो जाने से शरीर रहते भी उसमें से चेतना निकल जाती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सब ही की मृत्यु वृद्धावस्था में होती तो यह भी मान लिया जाता कि शरीर के जीर्ण होने से चेतना नष्ट हो गई किन्तु मृत्यु तो छोटे बच्चों व युवाओं की भी देखी जाती है, यहाँ तक कि कोई तो गर्भ में ही मर जाता है।

प्रश्न—धातकी दाख आदि प्रत्येक में अल्परूप में मादकता विद्यमान होती है। इस सिद्धान्त को मान लेते हैं। उसी तरह पंचभूतों में भी प्रत्येक में चेतना के अंश हैं और उनके समुदाय में पूरी आत्मा बन जाती है।

उत्तर—ऐसा मानने में भी बाधा है। पंचभूत पुद्गल हैं—मूर्तिक है, उनके अंश अमूर्तिक-चेतनास्वरूप कैसे हो सकते हैं? और सब भूतों के इकट्ठे हो जाने पर चेतना की नई उत्पत्ति मानी जाय तो मृत शरीर में भी समुदाय तो रहता ही है। फिर उसमें आत्मा का अभाव क्यों है? यदि कहो कि मृत शरीर में से वायु निकल जाने के कारण चेतना नहीं रहती, तो नली के द्वारा वायु प्रवेश कराने पर चेतना पैदा हो जानी चाहिए। पर पैदा नहीं होती है, जो कहो कि उस वक्त तेज का अभाव होने से चेतना पैदा नहीं होती है और चेतना पैदा होने योग्य विशिष्ट वायु की उपलब्धि भी नहीं होती है, तो फिर यों ही क्यों न कहो कि वह तेज और विशिष्ट वायु आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य कोई नहीं है?

प्रश्न—जैसे मिट्टी जल आदि के संयोग से धान्य आदि पैदा होना प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ही भूतों के संयोग से जीव पैदा होते हैं ऐसा मानना भी उचित ही है।

उत्तर—धान्य के पैदा होने में मिट्टी जलादिक उपादान कारण नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। उपादान कारण उनके बीज में हैं। वे बीज मिट्टी जलादि से भिन्न हैं। उसी तरह शरीर में चेतना भूत समुदाय की नहीं है किन्तु भूत-समुदाय से भिन्न आत्मा की है। जैसे एक वृद्ध पुरुष का ज्ञान युवावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है और युवावस्था का ज्ञान बाल्यावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था का ज्ञान भी उसके पूर्व की किसी अवस्था का होना चाहिये। वह अवस्था उस जीव के पूर्व भव की ही सम्भव है। जैसे जीव को वृद्धावस्था में अनेक अभिलाषायें होती हैं। उसके पूर्व युवावस्था में भी होती थीं और युवावस्था के पूर्व बाल्यावस्था में होती हैं। वैसे ही बाल्यावस्था के पूर्व भी कोई अवस्था होनी चाहिये ताकि इच्छाओं की परम्परा टूट न सके। वह अवस्था जीव का पूर्व जन्म ही हो सकती है। इसी कारण से तो जन्म लेते ही बछड़ा गाय का स्तन चूसने लगता है। इससे यही सिद्ध होता है कि भवांतर से जीव आकर शरीर को अपना आश्रय बनाता है। वर्तमान में भी समाचार-पत्रों में पूर्व जन्म की घटनायें छपती रहती हैं। अगर पूर्व जन्म नहीं है तो बिल्ली का चूहे से और मयूर का सर्प से स्वाभाविक वैर होने का क्या कारण है?

प्रश्न—यदि प्रत्येक शरीर में जीव भवांतर से आता है तो इसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर में जो जीव है वही पूर्व जन्म के शरीर में था। शरीर बदला है जीव तो वही है। तो फिर सभी जीवों को पूर्व जन्म की बातें याद क्यों नहीं हैं?

उत्तर—जैसे वृद्धावस्था में किन्हीं को अपनी बाल्यावस्था की बातें याद रहती हैं और किन्हीं को नहीं रहती हैं, इसी प्रकार किसी जीव को भवांतर की बातें याद आ जाती हैं, किसी को नहीं। इसमें कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है। दूसरी बात यह है कि जिन बातों पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती हैं और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो, वे निकट भूत की भी स्मरण में नहीं रहती हैं। मनुष्य को अपनी गर्भावस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का स्मरण इसीलिये नहीं रहता है कि वहाँ उसको किसी विषय पर गम्भीरता पूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नहीं होती है, इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोड़कर अगले शरीर को धारण करने में प्रथम तो बीच में व्यवधान पड़ जाता है, दूसरे अगला शरीर पूर्व शरीर से भिन्न प्रकार का होता है और उसके विकसित होने में भी समय लगता है। चूँकि जीव की ज्ञानोत्पत्ति में शरीर और इंद्रियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यदि पूर्व जन्म में जीव असंज्ञी रहा हो तो वहाँ किसी विषय का चिंतन ही न हो सका। अतएव अगले जन्म में याद आने का प्रश्न ही नहीं रहता है : इत्यादि कारणों से प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण का होना सुलभ नहीं है।

प्रश्न—एक लोहे की कोठी में किसी प्राणी को बन्द कर दिया जाय और उस कोठी के सब छिद्रों को ढँक दिया जाय तो प्राणी मर जाता है। उस प्राणी की आत्मा उस कोठी से बाहर निकल जाती है। मगर उस कोठी में कहीं छिद्र नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि उस प्राणी का जो शरीर था वही जीव था।

उत्तर—उस कोठी में शंख देकर किसी आदमी को बैठाया जावे और सब छिद्र बन्द कर दिये जावें। फिर उस कोठी में बैठा आदमी शंख बजावे तो शंख की आवाज कोठी के बाहर सुनाई देती है। आवाज के निकलने से कोठी में कहीं छेद हुआ नज़र नहीं आता है। फिर आत्मा तो आवाज से भी अत्यधिक सूक्ष्म है। आवाज मूर्त्त है, आत्मा अमूर्त्त है। आत्माके निकलने पर कोठी में छेद होने की क्या जरूरत है ?

प्रश्न—मरणासन्न मनुष्य को जीवित अवस्था में तोला जाय और फिर मरने के पश्चात् तत्काल तोला जाय तो वजन में कमी नहीं होती है। अगर शरीर से भिन्न कोई जीव होता तो मरने पर शरीर का वजन कम होना चाहिये था।

उत्तर—हवा भरी हुई मशक का जो वजन होता है वही वजन हवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निकालने के बाद भी उसमें रहता है। जब हवा के निकल जाने पर भी मशक के वजन में कमी नहीं आती है तो आत्मा तो अरूपी और हवा से भी अति सूक्ष्म है। उसके निकल जाने पर शरीर के वजन में कमी कैसे आ सकती है?

प्रश्न—आँख ठीक हो तो दिखाई देता है, कान ठीक हो तो सुनाई देता है। दोनों ही में खराबी आ जाने पर आत्मा न देख सकती है, न सुन सकती है। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता है कि देखने-सुनने वाला जो है वह इन्द्रिय रूप शरीर ही है। कोई अलग आत्मा नहीं है।

उत्तर—स्वप्नावस्था में मनुष्य अपनी इन्द्रियों को काम में लिये बिना भी देखता है, सूँघता है, खाता है, पीता है। यहाँ तक कि जिस मनुष्य को मरे कई वर्ष हो गये उसे भी प्रत्यक्ष देखता है। इस प्रकार की बातें निश्चय ही शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं।

प्रश्न—जीवों की उत्पत्ति भौतिक संमिश्रणों के आधार पर होती है। या तो माता-पिता के रजोवीर्य के मिलने पर या इधर-उधर के परमाणुओं से ही जीवोत्पत्ति हो जाती है। जैसे आटे में जीव पड़ना, बालों में जूँ पड़ना आदि। अगर ये सब जीव भवान्तर से आकर पैदा होते हैं तो भवान्तर के शरीर को छोड़ते ही उनके लिये जैसा शरीर चाहिये वैसे ही शरीर का संयोग अपने आप कैसे बन जाता है? जैसे किसी जीव को मनुष्य पर्याय में आना है तो उसके मरते ही कहीं अन्यत्र उसी समय पुरुष के और स्त्री के समागम से उत्पन्न शुक्रशोणित का मिश्रण भी तैयार रहना चाहिये, ताकि वह उसमें आ सके। इस प्रकार की तैयारी सदा ही अकस्मात् मिल जाना सम्भव नहीं है। इससे तो यही क्यों न माना जाय कि भौतिक मिश्रणों से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। यह नहीं कह सकते कि कोई जीव भवान्तर के शरीर से निकलने के बाद, जब तक उनके योग्य शरीर की सामग्री का संयोग न मिले तब तक यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही भटकता रहता है। क्योंकि विग्रहगति में अधिक से अधिक काल जैन-सिद्धान्त में तीन समय मात्र बताया गया है। चौथे समय में तो उसे जहाँ भी जन्म लेना है वहाँ अवश्य पहुँचना ही पड़ता है। यह तीन समय का काल बहुत ही थोड़ा है। जैन-शास्त्रों में एक श्वास में ही असंख्यात समय बताये हैं।

उत्तर—जैन-शास्त्रों में जीवों का जन्म तीन तरह का माना है—सम्मूर्च्छन, उपपाद और गर्भ। इनमें से सम्मूर्च्छन जन्म के लिये तो कोई कठिनाई नहीं है। यह जन्म रजोवीर्य के संयोग से नहीं होता है। यह तो तीन लोक में फैले हुए इधर-उधर के पुद्गल पदार्थों से ही हो जाता है अतः अगणित जीवों के इस जन्म के लिए तो हर समय लोक में सामग्री भरी पड़ी है। उपपाद जन्म देव-नारकियों का होता है। इस जन्म के लिए भी माता-पिता के संयोग की जरूरत नहीं है। इस जन्म के लिये तो नियत स्थान बने हुए हैं और वे सदा तैयार मिलते हैं। रहा गर्भजन्म, उसके लिये अगर माता-पिता के संयोग की जरूरत रहती है तो वह भी दुर्लभ नहीं है। मैथुन कर्म करने वाले जीवों की लोक में कोई कमी नहीं है। यह संयोग भी हर समय मिल ही जाता है। मैथुन के अन्त में ज्यों ही रजोवीर्य का पतन होकर मिश्रण हो, उसी समय भवान्तर से जीव आकर उसमें पैदा हो, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। किसी के मत से रजोवीर्य के उस मिश्रण में सात दिन पश्चात् तक जीव का आना बताया गया है।

इस तरह से जीवों के आवागमन की समस्या भी हल हो जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भरतैरावत में वृद्धिह्रास किसका है ?

श्री भगवदुमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय में एक सूत्र है कि 'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।' इसका शब्दार्थ ऐसा होता है कि—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह कालों में भरत और ऐरावत का वृद्धि ह्रास होता है। इस सामान्य वचन के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो यह है कि—'भरत और ऐरावत का क्षेत्र घटता बढ़ता है और दूसरा यह कि 'भरतैरावत में प्राणियों के आयुकायादि घटते बढ़ते रहते हैं। भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ....' और 'ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः' इन सूत्र वाक्यों से न मालूम सूत्रकार का असली अभिप्राय क्या था ? तत्त्वार्थसूत्र पर जो राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसार जैसी विशाल टीकायें हैं वे भी एकमत नहीं हैं और इन टीकाओं के अतिरिक्त अन्य जैनग्रंथों का भी प्रायः यही हाल है। इन सब में कोई ग्रंथकर्ता तो 'आयुकायादिकी वृद्धि ह्रास का कथन करते हैं किन्तु 'भूमि का वृद्धि ह्रास नहीं हो सकता, या हो सकता' ऐसा कुछ नहीं कहते। कोई आयुकायादि की ही वृद्धि ह्रास बताते हैं और भूमिके वृद्धि ह्रास का स्पष्ट खंडन करते हैं। तथा कोई ऐसे भी हैं जो क्षेत्र की घटाबढ़ी का मुख्य उल्लेख करते हैं व आयुकायादि की घटाबढ़ी गौणरूप से बताते हैं और कोई सूत्रकार की तरह केवल सामान्य ही विवेचन करते हैं। नीचे हम पाठकों की जानकारी के लिये इसी बात को ग्रंथों के उद्धरण दे कर स्पष्ट करते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र त्रिलोकसार में कहते हैं कि—

"भरहेसुरेवदेसु ये ओसप्पुस्सप्पिणित्ति कालदुगा ।
उस्सेधाउवलाणं हाणीवड्ढी य होंतित्ति ॥ ७७९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के शरीर की ऊंचाई आयु बल, इनकी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल में क्रम से वृद्धि हानि होती है।

सकलकीर्ति कृत मल्लिनाथपुराण के ७ वें परिच्छेद में लिखा है—

"उत्सर्पिण्सवसर्पिण्योः षट्काला हानिवृद्धिजाः।
आयुःकायादिभेदेन सर्वे प्रोक्ता जिनेशिना ॥ ८८ ॥"

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल आयु कायादि की हानि-वृद्धि को लिये हुये हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इन अवतरणों से इतना ही सिद्ध है कि 'आयुकायादि की हानिवृद्धि होती हैं' किन्तु इससे क्षेत्र का हानिवृद्धि विषयक कुछ भी विधिनिषेध प्रकट नहीं होता। अस्तु आगे देखिये—

तत्त्वार्थ राजवार्तिक के तीसरे अध्याय में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुये श्रीमद्भट्टाकलंकदेव कहते हैं कि—

"इमौ वृद्धिह्रासौ कस्य भरतैरावतयोर्ननु क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके कथं तयोर्वृद्धिह्रासौ अत उत्तरं पठति।"

अर्थ—यह घटना बढ़ना भरत और ऐरावत क्षेत्रों का है। यदि यहाँपर यह शंका हो कि—भरत और ऐरावत क्षेत्र तो अवधिवाले स्थित हैं कभी उनका बढ़ना घटना नहीं हो सकता फिर यहाँ उनके वृद्धिह्रास का उल्लेख कैसा ? वार्तिककार इसका उत्तर देते हैं—

"तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः ॥ १ ॥ इहलो के तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं भवति यथा गिरिस्थितेषु वनस्पतिषु दह्यमानेषु गिरि-दाह इत्युच्यते। तथा भरतैरावतस्थेषु मनुष्येषु वृद्धिह्रासावापद्यमानेषु भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासावुच्येते।"

अर्थ—संसार में तात्स्थ्य रूप से ताच्छब्द्यका अर्थात् आधेयभूत पदार्थों-का कार्य आधारभूत पदार्थों का मान लिया जाता है, जिस प्रकार पर्वतमें विद्यमान वनस्पतियों के जलने से गिरिदाह माना जाता है उसी प्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्रों के मनुष्यों में वृद्धिह्रास कह दिया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अधिकरणनिर्देशो वा ॥ २ ॥"

"अथवा भरतैरावतयोरित्यधिकरणनिर्देशोऽयं स चाधेयमाकांक्षतीति भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ।"

अर्थ—अथवा 'भरतैरावतयोः' यह अधिकरणनिर्देश है। अधिकरण सापेक्ष पदार्थ है वह अपने रहते अवश्य आधेय की आकांक्षा रखता है। भरत और ऐरावत रूप आधार के आधेय मनुष्य आदि हैं इसलिए यहाँ पर यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि भरत और ऐरावत क्षेत्रों में मनुष्यों का वृद्धि और ह्रास होता है। इसी सूत्र का विवेचन करते हुए पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में ऐसा कहा है—

"वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ। काभ्यां षट्समयाभ्याम्। कयोः भरतैरावतयोः। न तयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ स्तः। असम्भवात्। तत्स्थानां मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ भवतः। अथवा अधिकरणनिर्देशः भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासाविति। किंकृतौ वृद्धिह्रासौ? अनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ।"

भावार्थ—षट्कालों में जो वृद्धि ह्रास होता है वह भरतैरावत के क्षेत्र का नहीं होता, क्योंकि यह असम्भव है; किन्तु भरतैरावत में स्थित मनुष्योंके भोगोपभोग आयुकायादि का होता है। वही अधिकरण निर्देश से भरतैरावत का कहा जाता है।

इन उल्लेखों से साफ प्रकट है कि 'भरतैरावत क्षेत्र की हानि वृद्धि नहीं हो सकती। बल्कि सर्वार्थसिद्धि के कर्ता ने तो उसे बिल्कुल असम्भव बताया है। अब सामान्य कथन देखिये—

महाकवि वीरनन्दि ने चन्द्रप्रभचरित काव्य के १८वें सर्ग में कहा है कि—

"भरतैरावते वृद्धिह्रासिनी कालभेदतः।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालभेदावुदाहृतौ ॥ ३५ ॥"

तथा अमृतचन्द्राचार्य विरचित तत्त्वार्थसार में लिखा है कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धिहानिदे ।
भरतैरावतौ मुक्त्वा नान्यत्र भवतः क्वचित् ॥२०८॥"

इन श्लोकों में वही सामान्य कथन किया है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में हैं। इसी ढंग को लिये हुए ऐसा ही अस्पष्ट कथन हरिवंशपुराण में जिसमें कि तीन लोकका खूब विस्तृत वर्णन है, जिनसेन ने लिखा है। यथा—

कल्पस्ते द्वे तथार्थानां वृद्धिहानिमती स्थितिः ।
भरतैरावत क्षेत्रेष्वन्येष्वपि ततोऽन्यथा ॥

सातवें सर्ग के ६३वें श्लोक का हिन्दी अनुवाद ऐसा है 'उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी में भरतैरावत के पदार्थों का वृद्धि ह्रास होता हैं'।

अब क्षेत्र की हानि वृद्धि मानने वालों की सुनिये। विद्यानंद महोदय अपने श्लोकवार्तिक में 'ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिताः' सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

"न हि भरतादिवर्षाणां हिमवदादिवर्षधराणां च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्। प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात् आगमांतरस्य च तद्बाधकस्याप्रमाणत्वात्। तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तदपरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिह्रासयोगायोगाभ्यां विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते।" (पृ० ३५४)

इसका भाव ऐसा है कि—भरतैरावत क्षेत्रका वृद्धिह्रास मानने पर ऊपर तीन सूत्रों में जो भरतादिक्षेत्र और हिमवदादि वर्षधर पर्वतों का विस्तार वर्णन किया है उसमें बाधा आएगी। शंकाकार की इस शंका का उत्तर देते हुये विद्यानंदि लिखते हैं कि—'उसमें कोई बाधा नहीं आ सकती क्योंकि वह प्रत्यक्ष अनुमान का विषय नहीं है। रही आगम प्रमाण की बात सो प्रवचन का एक देश तो उसमें कोई बाधा नहीं देता और जो उसके बाधक आगमान्तर हैं वे अप्रमाण हैं इसलिए सूत्रद्वय से जो भरतैरावत और अपर भूमिके वृद्धिह्रासके योग अयोगका किया कथन है वह अबाधित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो लोग इसका विपरीत भाव निकालते हैं उन्हें श्लोकवार्तिक के पृष्ठ ३७८ की निम्नस्थ पंक्तियों पर ध्यान देना चाहिए—

"भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यसर्पिणीभ्यां इति वचनात् तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासौ प्रतिपादितौ न भूमेरपरपुद्गलैरिति न मन्तव्यं, गौणशब्दप्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात्। तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथा वचनं सफलतामस्तु ते प्रतीतिश्चानुल्लंघिता स्यात्"।

भावार्थ—"भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ...." इत्यादि सूत्रकार के वचनों से क्षेत्रस्थित मनुष्यों के आयुकायादि का वृद्धिह्रास प्रतिपादन किया है न कि पौद्गलिक भूमिका। प्रतिवादी का ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि गौण शब्द के प्रयोग से मुख्य अर्थ घटित होता है वर्ना निष्ययोजन मुख्य शब्द का अर्थ क्यों छोड़ा जावे। अतः भरतैरावत के क्षेत्र का वृद्धिह्रास मानना ही मुख्य है और उन क्षेत्रस्थ मनुष्यों का वृद्धिह्रास मानना गौण है इस प्रकार कहना ही ठीक है और यही प्रतीति में आता है।

श्लोकवार्तिक के इस कथन से साफ है कि विद्यानंदस्वामी भूमि की घटी-बढ़ी को मुख्य रूप से मानते हैं साथ ही उनकी उक्त कारिका से यह भी प्रकट होता है कि उस समय क्षेत्र की हानि वृद्धि को मानने वाले और न मानने वाले दोनों प्रकार के आगम मौजूद थे, जिसे उन्होंने 'प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात् आगमान्तरस्य च तद्बाधकस्याप्रमाणत्वात्' शब्दों से प्रकट किया है और क्षेत्र की हानिवृद्धि के बाधक आगम को अप्रमाण कोटि में डाल दिया है। न केवल यही बल्कि श्लोकवार्तिक में कालभेद से भूमि को समतल मानने से भी इन्कार किया है जैसा कि उसकी निम्न पंक्तियों से जाहिर किया है—

'न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात्' पृष्ठ ३७७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनः—

'तदापि भूमिनिम्नत्वोन्नतत्वविशेषमात्रस्यैव गतेः तस्य च भरतैरावतयोर्दृष्टत्वात्' पृष्ठ ३७८।

ऐसे ही गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण के इस श्लोक से ध्वनित होता है। यथा—

"ततो धरण्या वैषम्यविगमे सति सर्वतः।

भवेच्चित्रा समाभूमिः समाप्तात्रावसर्विणी ॥३५३॥ –पर्व ७६"

अर्थ—इसके बाद पृथ्वी का विषमपना सब नष्ट हो जायेगा और चित्रा पृथ्वी निकल आवेगी तथा यहाँ ही पर अवसर्पिणी काल समाप्त हो जायेगा।

श्लोकवार्तिक में अन्य भी कई ऐसी बातें हैं जो ग्रन्थान्तरों से एकमत नहीं रखतीं, उनका विशेष विवेचन अन्य स्वतन्त्र लेख द्वारा बताया जा सकता है। श्लोकवार्तिक में एक खास उल्लेख योग्य विषय यह है कि—'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयोर्नृलोके' सूत्र के निरूपण करते हुए भूगोल भ्रमण पर अच्छा विचार किया गया है इस प्रकार का वर्णन अन्य संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों में नहीं मिलता है। यह खूबी श्लोकवार्तिक में ही है।

इस विषय में श्वेताम्बरों का आगम निम्न प्रकार है—

आत्मारामजी कृत 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' पुस्तक के पृष्ठ ४५ में लिखा है कि—

'शाश्वती वस्तु घटती बढ़ती नहीं है सो भी झूठ है क्योंकि गंगा-सिंधु का पाट, भरतखण्ड की भूमिका, गंगासिन्धु की वेदिका, लवण समुद्र का जल वगैरह बढते-घटते हैं।'

इस सारे विवेचन में जो ऊपर दिगम्बर जैनों के आगम वाक्य उद्धृत किये गये हैं उनमें करीब-करीब सब ही विद्यानन्द से सहमत नहीं मालूम होते, खासकर अकलंक और पूज्यपाद तो बिलकुल ही विरुद्ध हैं। हरिवंश-पुराण का कथन श्वेताम्बरोंके सम्यक्त्व शल्योद्धार से कुछ समता रखता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। हाँ, अलबत्ता सूत्रकार के वचन जरूर विद्यानन्द की तरफ झुकते ज्ञात होते हैं और श्वेताम्बरों के उक्त कथन के साथ तो विद्यानन्द का अति साम्य है ही। किन्तु दि० जैन ग्रन्थ ऐसा देखने में नहीं आता जिसमें विद्यानन्द की तरह क्षेत्र की हानि वृद्धि का स्पष्ट उल्लेख हो। विद्वानों का कर्तव्य है कि वे इस विषय के प्राचीन ग्रन्थ टटोलें। खोज करने पर जरूर कुछ इस विषय रहस्य का उद्घाटन होगा। विद्यानन्दजी के "प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात्" वाक्य से तो वैसा कथन मिलने की और भी अधिक सम्भावना है।

स्वामी विद्यानन्दजी बड़े नैयायिक विद्वान् थे इसलिये तर्क बल से वैसा कथन कर दिया होगा ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है। विद्यानन्द जैसे एक ऊँचे आचार्य के प्रति वैसी भावना रखना एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझना चाहिये। किसी सिद्धान्त की बात को स्वरुचि से निरूपण करना स्वयं विद्यानन्दजी ने अनादरणीय कहा है। यथा—"स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षवतामनादरणीयत्वात्' श्लोकवार्तिक पृ० २।

पुनः—

'न पूर्वशास्त्रानाश्रयं यतः स्वरुचिविरचित्वादनादेयं प्रेक्षावतां भवेदिति यावत्' श्लोकवार्तिक पृ० २।

जिन्होंने विद्यानन्दजी के ग्रन्थों का मनन किया है वे मानते हैं कि जिन शासन का जो कुछ भी गौरव है उसका श्रेय विद्यानन्द जैसे आचार्य महोदयों को ही है। अतः विद्यानन्दजी की कृति पर अश्रद्धा प्रकट करना निःसार है। बल्कि हमें तो उनसे अपने को धन्य समझना चाहिए कि—ऐसे ऐसे तार्किक दिग्गज विद्वानों ने भी परमपावन जिनेन्द्र का आश्रय लिया है और जब कि विद्यानन्द स्वामी ने खुद अपने कथन को प्रवचन के एक देश से अबाधित लिखा है तो फिर स्वरुचि रचना की कल्पना उठाने को स्थान ही कहाँ है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपलब्ध जैन ग्रन्थों में ज्योतिश्चक्र की व्यवस्था

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे चार अनुयोगों में गुंफित है। सृष्टि की तमाम रचनाओं का हाल करणानुयोग में पाया जाता है। आजकल करणानुयोग का अधिकांश विषय आक्षेप का स्थान बना हुआ है। सूर्यादि के भ्रमण से रात्रि दिन को जैसी कुछ व्यवस्था जैन-ग्रन्थों में पायी जाती है उस पर तो हमारे कतिपय भाइयों को विश्वास ही नहीं है। और एक इसी बात से वे लोग सारे ही जैन-धर्म को अश्रद्धा की नजर से देखते हैं। ऐसे लोग जितनी तत्परता शंकायें करने में दिखाते हैं उसकी शतांश भी कोशिश उनके दूर करने की नहीं करते। यह भी नहीं कि शंका करने वालों ने उपलब्ध जैन-ग्रन्थों को भी अच्छी तरह देख लिया हो। तत्त्व निर्णय के इच्छुक का काम केवल शंका खड़ी करने का ही नहीं है किन्तु उसके समाधान का उद्योग करना भी है। पाठकों को याद होगा कि बाबू जगरूपसहायजी वकील ने पहिले एक विज्ञप्ति निकाली थी कि—'जैन शास्त्रों से कोई छह मास का रात्रि-दिन सिद्ध कर दें तो उसे मैं एक हजार रुपये भेट में दूंगा।' उत्तर में मैंने जैन गजट में छपाया था कि वकील साहब, रुपये किसी मध्यस्थ के यहाँ जमा करा दें तो मै सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा। बस उसी दिन से वकील साहब चुप हो गए। इसी एक उदाहरण से पता लगता है कि लोग इस मामले में कितने स्वच्छन्द हैं और वे शंका उठाने की कितनी जल्दी करते हैं। यह विषय कोई बच्चों का खेल नहीं है जो चुटकियों में ही उड़ ।दिया जावे। बड़ा गहन है और ऐसा गहन है जिस पर सम्मिलित रूप से विचारशील विद्वानों के द्वारा गम्भीर दृष्टि से बड़ी शांति के साथ विचार होना चाहिये। इसकी गूढ ग्रंथियों के सुलझाने के साधन भी वर्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मान में बहुत ही विकट हो चले हैं। प्रथम तो इस विषय के ग्रन्थ ही पूरे नहीं मिलते। अमितगति कृत चन्द्रप्रज्ञप्ति सुनी जाती है वह कहाँ है ? सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक में समतल से ज्योतिष्कों की ऊँचाई निरूपक उक्तं च गाथा आती है वह कहाँ की है ? त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति में तो वह है नहीं। त्रिलोकप्रज्ञप्ति की निम्न दो गाथाओं में भी 'लोक-विभाग' और 'लोक व्युच्छित्ति' का उल्लेख मिलता है–

जो इट्ठणणयरीणं सव्वाणं रुंदमाण सारिच्छं।
बहलं तं मण्णंते लोगविभागस्स आइरिया ॥११५॥
पण्णासाधिय दुसया कोदंडा राहुणयरवहलत्तं।
एवं लोयविछिण्णय कत्ताइरिया परूवेंदी ॥२०३॥

ये दोनों गाथा पाठांतर हैं जिनमें अन्य ग्रन्थों के मत दिये गये हैं। ये ग्रन्थ कहाँ हैं ?

'लोकप्रकाश' श्वेताम्बर ग्रन्थ के पत्र २८८ में भी इस विषय के 'कर्मप्रकृत्यादि' नामक दिगम्बर ग्रन्थ तथा 'करणविभावना' ग्रन्थ, एवं पूर्वाचार्यों की कितनी ही गाथाओं का उल्लेख है। इत्यादि ग्रन्थ न जाने किस कालकोठरीमें अपनी आयु समाप्त कर रहे हैं।

इस तरह एतद्विषयक बहुतेरा साहित्य लुप्त प्रायः हो रहा है।

इसके अलावे जैनभूगोल का ठीक ठीक ज्ञान न होने का यह भी कारण है कि कई शताब्दियों पहिले ही से यह विषय बहुत कुछ विच्छेद हो चुका था। इस विषय के जो ग्रन्थ आज मिल रहे हैं उनके कर्ताओं के वक्त ही कोई इसका पूर्णज्ञानी न रहा था। यह आपको निम्न अवतरणों से मालूम होगा।

"त्रिलोकप्रज्ञप्ति में लिखा है कि—

संपइ कालवसेणं ताराणामाण णत्थि उवदेसो ॥३२॥
परिहीसु ते वरंते ताणं कणयाचलस्स विच्चालं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अण्णंपि पुव्वभणिदकालवसादो पणट्ठउवएसं ॥४५७॥
ताणं णामप्पहुदी उवएसो संपइ पणट्ठो ॥४९४॥
—ज्योतिर्लोकाधिकार

अर्थ—कालवश से ताराओं के नामों का उपदेश वर्तमान में नहीं रहा है। ग्रहों की परिधियें, उनका मेरु से अंतराल तथा अन्य भी पहिले सूर्य चन्द्र का कहा हुआ जैसा कथन है यह सब उपदेश कालवश से नष्ट हो गया है। उन ताराओं के नामप्रभृतिका उपदेश वर्तमान में नष्ट हो गया है।

श्वेताम्बरों के 'लोकप्रकाश' नामक ग्रन्थ के २८८ वें पत्र में भी लिखा है कि—

अनंतरं नरक्षेत्रात्सूर्यचन्द्राः कथं स्थिताः।
तदागमेषु गदितं साम्प्रतं नोपलभ्यते ॥

अर्थ—मनुष्यक्षेत्र के आगे सूर्य चन्द्रमा किस तरह स्थित हैं, तत्प्रतिपादक आगम इस समय उपलब्ध नहीं है।

इसी ग्रन्थमें "तत्तु संप्रदायगम्यं" 'तत्तु बहुश्रुतगम्यं' 'वेत्ति तत्त्वं तु केवली' इस प्रकार के शब्दों से कितनी ही जगह एतद्विषयक ज्ञान को कमी जाहिर की है।

ये सब अवतरण इस बात को सूचित करते हैं कि उस समय भी ज्योतिर्लोक की बहुत सी बातें लुप्त हो चुकी थीं। और यही कारण है जो आज इन उपलब्ध ग्रन्थों में यह बहुत कुछ मतभेद के साथ पाया जाता है जिसका कुछ दिग्दर्शन नीचे करा देना उचित होगा।

इस विषय के दिगम्बर, श्वेताम्बर ग्रन्थ जो हमारे देखने में आये उनके नाम हैं—दिगम्बर ग्रन्थ जैसे—त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सिद्धान्तसारदीपक, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और हरिवंशपुराण। श्वेताम्बर ग्रन्थ जैसे—सूर्यप्रज्ञप्ति, लोकप्रकाश, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, बृहत्क्षेत्रसमास टीका, और संग्रहणीसूत्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीचे का जो कुछ वक्तव्य है वह इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर समझना चाहिये—

१—त्रिलोकसार गाथा ३३२ में समतल भूमि से ज्योतिष्कों की ऊँचाई बताई है वहाँ चन्द्रमा से चार चार योजन ऊँचे नक्षत्र और बुध बताकर फिर उनसे तीन तीन योजन ऊँचे शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनि के विमान बताये हैं। किंतु राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक में कुछ फर्क है। वहाँ चन्द्रमा से नक्षत्र, बुध, शुक्र और बृहस्पति को तीन-तीन योजन ऊँचे बताकर फिर उनसे मंगल, शनि को चार-चार योजन ऊँचे बताये हैं।

शेष सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दि० ग्रन्थों और कुछ एक श्वे० ग्रन्थों में त्रिलोकसारवत् ही कथन है[1]। राजवार्तिकादि में जिस उक्तं च गाथा के आधार से उक्त कथन किया है वही गाथा सर्वार्थसिद्धि में भी उक्तं च रूप से दी है। सिर्फ उसके दूसरे पाद के थोड़े से अक्षरों के उलट फेर हो जाने से कथन भेद हो गया है।

२—ज्योतिष्क विमानों के नाप में भी मतभेद है। त्रिलोकसार में राहु के विमान की चौड़ाई कुछ कम एक योजन की, बृहस्पति की कुछ कम एक कोशकी और तारों के विमानों की जघन्य पाव कोश, मध्यम आधकोश, उत्कृष्ट पौन कोश की बताई है। और जितनी जिसकी चौड़ाई है उससे आधी उसकी मोटाई निरूपण की है। किन्तु ग्रन्थांतरों में इनका कुछ और ही प्रमाण लिखा है। राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और हरिवंशपुराण में राहु की चौड़ाई पूरे एक योजन की तथा मोटाई ढाईसौ धनुष की ही बताई है। हरिवंशपुराण और सिद्धांतसार दीपक में बृहस्पति की

---

१. हरिवंशपुराण की हिन्दी टीका में पं० गजाधरलाल जी शास्त्री ने मंगल से ऊपर शनिश्चर को चार योजन ऊँचा लिखकर शेष कथन त्रिलोकसार की तरह बताया है सो गलत है। मूल ग्रन्थ में इस तरह है ही नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौड़ाई पौन कोश की लिखी है। एवं हरिवंशपुराण और राजवार्तिक में तारों के विमानों का विस्तार जघन्य पाव कोश, मध्यम कुछ अधिक पाव कोश, और उत्कृष्ट आध कोश प्ररूपण किया है। यहीं पर राजवार्तिक में लिखा है कि–"ज्योतिष्क-विमानानां सर्वजघन्यवैपुल्यं पंचधनुःशतानि।"

ज्योतिष्क विमानों का थोड़ा से थोड़ा विस्तार पाँचसौ धनुप का होता है इससे कम किसी का नहीं होता। (हिन्दी अनुवाद में जो यहाँ 'वैपुल्यं' का अर्थ मोटाई किया है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोटाई तो पाँचसौ से भी कम ढाईसौ धनुप की राहु, शुक्र आदि की बता दी गई है) त्रिलोकसार में शुक्र की मोटाई आधकोश, बृहस्पति की कुछ कम आध कोश और बुध, मंगल, शनि की पाव पाव कोश की प्रतिपादन की है। (दो हजार धनुष का एक कोश होता है इसी को राजवार्तिक में देखिये तो वहाँ इन सब की मोटाई मात्र ढाईसौ धनुप ही की लिखी है।

रही त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सो उसमें भी त्रिलोकसार की भाँति ही कथन है। हाँ, पाठांतर जो दिये हैं उनमें कुछ और कथन है। पाठांतर की ११५वीं और २०३वीं गाथा में लिखा है कि–"सभी ज्योतिष्क विमानों का जो विष्कंभ है उतनी ही उनकी मोटाई है ऐसा लोक विभाग के कर्ता आचार्य कहते हैं। राहु की मोटाई ढाईसौ धनुप की लोकव्युच्छित्ति के कर्ताओं ने कही है।" ये दोनों गाथायें ऊपर उद्धृत हो चुकी हैं।

इस सम्बन्ध में श्वेतांबर आगमों में निम्न प्रकार कथन मिलता है–

लोकप्रकाश में लिखा है कि–"सर्वे ज्योतिर्विमाना हि निजव्यासार्द्ध-मुच्छ्रिताः" सभी ज्योतिष्क विमान अपने अपने विस्तार से आधे-आधे ऊँचे हैं। उत्कृष्ट आयुवाले ताराओं के विमान अर्धकोश चौड़े और पाव कोश मोटे हैं। तथा जघन्य आयुवाले ताराओं के विमान पाव कोश चौड़े और ढाईसौ धनुप मोटे हैं। विदित हो कि शुक्र, बृहस्पति, बुध, शनि, मंगल की चौड़ाई मोटाई किसी भी श्वे० ग्रन्थ में उक्त दि० ग्रंथों की तरह नहीं बताई है केवल सभी ग्रहों की चौड़ाई आध योजन और मोटाई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाव योजन की वर्णन की है। इससे राहु की चौड़ाई भी आध योजन की ही हुई क्योंकि राहु की गणना ग्रहों में ही है। दि० ग्रन्थों में राहु को एक योजन या उससे कम बताया है। दोनों सम्प्रदाय में कितना फर्क पड़ गया है। शेष रहे सूर्य, चन्द्रमा, और नक्षत्र सो इनके माप में सभी जैनग्रन्थ एकमत हैं। सिर्फ ग्रह और तारों ही के माप में मतभेद है।

३—त्रिलोकसार गाथा ३४२ में चन्द्रकला की हानि वृद्धि होनेमें आचार्यों के दो मत दिये हैं। एक मत तो यह है "चन्द्रमण्डल अपने सोलह भाग में से एक-दो भाग प्रतिदिन स्वयमेव कृष्ण और शुक्लरूप पन्द्रह दिन तक परिणमता रहता है।" दूसरा मत यह है कि 'उसका शुक्ल कृष्णत्व अधःस्थित राहु विमान की गति विशेष से होता है।' यही दो मत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में भी दिये हैं। प्रथम मत का श्वेताम्बरों के किसी आगम में उल्लेख नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उनके शास्त्रों में इस प्रकार कथन है—

राहु के विमान दो प्रकार के हैं—एक नित्य राहु और दूसरा पर्व राहु। उसमें नित्य राहु कृष्ण और शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा के ६२ भाग में से चार भाग को प्रतिदिन अपनी गति से क्रम से ढाँकता और उघाड़ता रहता है। होते-होते एक पक्ष में अर्थात् अमावस को चन्द्रमा के ६२ भाग में ६० भाग राहु से ढक जाते हैं। शेष दो भाग सदैव प्रकट रहते हैं वे कभी नहीं ढकते। पर्व राहु के कारण ग्रहण होता है। पर्व राहु का विमान जब चंद्र सूर्य के नीचे आ जाता है तो ग्रहण होता है। सूर्य चंद्र ग्रहण कम से कम ६ मास में होता है। तथा अधिक से अधिक चंद्रग्रहण ४२ मास में और सूर्यग्रहण ४८ वर्ष में होता है। संग्रहणी सूत्र में लिखा है कि राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में अमावस को सोलह भाग में एक भाग या यों कहो कि ६४ भाग में चार भाग चंद्रमा का अनावरण रहना बताया है जब कि श्वे० में ६२ भाग में दो भाग अनावरण रहना बताया है। इसके अलावा दि० में चन्द्रमा ६४ भाग में ४ भाग प्रतिदिन कृष्ण-शुक्ल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पक्ष में क्रम से ढकता उघड़ता रहता है। किन्तु श्वे० में ६२ भाग में ४ भाग ढकता उघड़ता रहता है। यानी वनिस्पत दि० के श्वे० मत में चन्द्रबिम्ब का वृद्धि-ह्रास अधिक होता रहता है। दि० के किसी ग्रन्थ में चन्द्र सूर्यग्रहण का जघन्योत्कृष्टकाल का व्याख्यान देखने में नहीं आया। सूर्यग्रहण भी पर्व राहु से न बताकर केतु से बताया है। त्रिलोकसारादि में तो राहु के उक्त दो भेदों का भी कथन नहीं है। हाँ त्रिलोकप्रज्ञप्ति में दिन राहु और पर्व राहु का उल्लेख मिलता है।

४—त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि दि० ग्रन्थों में ताराओं का अन्तर (एक दूसरे से फासला) जघन्य एक कोशका ७वाँ भाग, मध्यम ५० योजन व उत्कृष्ट एक हजार योजन का लिखा है।

श्वेराम्बरमत में अन्तर दो प्रकार से बतलाया है—एक व्याघात और दूसरा निर्व्याघात। किसी चीज के बीच में आ जाने से जो अन्तर पड़ता है वह व्याघात अन्तर है इससे विपरीत निर्व्याघात अन्तर है। निषध, नील पर्वत चार-चारसौ योजन ऊँचे हैं। जिन पर पाँच-पाँच सौ योजन की ऊँचाई लिए नव नव कूट हैं, इससे कूट समेत ये दोनों पर्वत पृथ्वी से नौ-सौ योजन ऊँचे हो जाते हैं। इसी के कारण ताराओं में व्याघात अन्तर पड़ जाता है। उन कूटों की अग्रभाग की चौड़ाई २५० योजन की है तथा कूटों के दोनों तरफ आठ-आठ योजन की दूरी पर तारों के विमान विचरते हैं अतः उनमें २६६ योजन का फासला रहता है।

यह अन्तर त्रिलोकसार में क्यों नहीं बतलाया ? इसलिए कि उसकी गाथा ७२३ में उक्त कूटों की ऊँचाई केवल एक-सौ ही योजन की बताई है। जिससे व्याघात नहीं पड़ता[1] किन्तु आश्चर्य है कि राजवार्तिक में

---

१. त्रिलोक प्रज्ञप्ति में कूटों की ऊँचाई त्रिलोकसार जितनी ही लिखी होगी। अन्यथा ताराओं के अन्तर का कथन दोनों में एक रूप से नहीं हो सकता था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हीं कूटों की ऊँचाई श्वेताम्बरवत् बतलाई है। उसके अध्याय ३ सूत्र ११ की व्याख्या में न केवल निषध, नील के ही बल्कि छहों कुलाचलों के कूटों की ऊँचाई पाँच-पाँच सौ योजन और अग्रभाग की चौड़ाई २५० योजन की लिखी है। यह भी दि० आचार्यों में बहुत बड़ा मतभेद समझना चाहिए। इससे भट्टारक अकलंकदेव के मत से ताराओं का अन्तर त्रिलोकप्रज्ञप्ति से भिन्न होगा।

५—सभी दि० ग्रन्थों में पूर्व पश्चिम मध्यलोक के अंत घनोदधिवातवलय तक ज्योतिष्कों का होना लिखा है। किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थों में ऐसा नहीं है उनमें तिर्यक् मध्यलोक के अन्तर से ११११ योजन भीतर तक ही ज्योतिर्गण बताये हैं।

६—त्रिलोकसार में ज्योतिर्लोकाधिकार की करीब १२५ गाथाओं में इस विषय का वर्णन है। जब कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति में यही विषय छहसौ से ऊपर गाथाओं में निबद्ध किया गया है। तिस पर उसमें गद्यभाग फिर और है। इससे पाठक। यह न समझें कि 'प्रज्ञप्ति' की अपेक्षा त्रिलोकसार में थोड़ा-सा कथन है। गाथा संख्या कम होते भी त्रिलोकसार में 'प्रज्ञप्ति' का कोई विशेष तात्त्विक कथन नहीं छूटा है। जिस किसी एक बात के कहने में 'प्रज्ञप्ति' में सौ-पचास गाथायें भरी हैं उन सब का तात्पर्य त्रिलोकसार में पाँच-चार गाथा में ही आ गया है। वास्तव में नेमिचन्द्राचार्य की तमाम ही रचनाओं में गागर में सागर भरा हुआ है। उनके बनाये ग्रंथों को सूत्रग्रंथ कहना चाहिये और इसीलिए उनके ग्रन्थ नामों के अन्त में सार शब्द लगा हुआ है। जैसे त्रिलोकसार, लब्धिसार, गोम्मटसार। कोई-कोई बात त्रिलोकसार में त्रिलोकप्रज्ञप्ति से भी अधिक मिलती है। जैसे त्रिलोकसार गाथा ३७१–३७२ में जंबू द्वीपवर्ती कुलाचलों और क्षेत्रों में अलग-अलग तारासंख्या प्रतिपादन की है। यह बात त्रिलोकप्रज्ञप्ति तो क्या किसी भी दि० ग्रन्थ में नहीं है और न श्वे० ग्रन्थों में ही है। इसके विपरीत कोई कथन त्रिलोकसार में भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छूट गया है। ज्योतिष्कविमान किस मणिविशेष के बने हैं यह वर्णन प्रायः सभी दि० ग्रन्थों में है पर त्रिलोकसार में है ही नहीं।

७. निम्न कथन श्वेताम्बर शास्त्रों में पाया जाता है पर दि० शास्त्रों में नहीं मिलता—

(क) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की टीका में लिखा है कि—

"तत्रैव स्थाने स ध्रुवः परिभ्राम्यति, न तु मेरोः प्रादक्षिण्येन गतिं प्रतिपद्यते, तथाहि तदद्यापि ध्रुवताराचक्रमाक्रांतोत्तरदिक्कं परिवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणेनैव।"

'चौथे अध्याय के १४ वें सूत्रकी व्याख्या'

अर्थ—उसी स्थान में वह ध्रुवतारा घूमता है उसकी गति मेरुप्रदक्षिणा रूप नहीं है। आज भी उत्तर दिशा की ओर घूमते हुए ध्रुव तारा की प्रत्यक्ष से उपलब्धि होती है।

(ख) ठाणांग सूत्रादिक में लिखा है कि–

'जम्बूद्वीप के चतुर्दिग्वर्ती चार ध्रुवतारों के निकट जो सप्तऋषी आदि अन्य तारे हैं उनकी गति ध्रुवतारों की प्रदक्षिणारूप है न कि मेरु प्रदक्षिणा रूप।'

(ग) संग्रहणी सूत्र में लिखा है कि–

लवण समुद्र की शिखा सोलह हजार योजन ऊँची है और ज्योतिष्क विमान नवसौ योजन तक ही ऊँचे हैं। अतः वहां के ज्योतिष्क विमान सब उदकस्फटिक रत्न के हैं जिससे जल फट जाता है ताकि उन विमानों को फिरने में कुछ बाधा नहीं पड़ती।

८. कुछ कथन ऐसा भी है जो दि० ग्रन्थों में तो मिलता है पर श्वे० ग्रन्थों में नहीं मिलता। जैसे ज्योतिष्कों की किरण संख्या का कथन आदि।

और भी बहुत-सी बातें हैं जो यहाँ संकीर्णस्थान में नहीं लिखी जा सकतीं। इतना सब कुछ होते भी वर्तमान में जो कुछ बचा खुचा साहित्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपलब्ध है वह भी एकदम कम नहीं है। बल्कि आज तो उसके भी जानकार विरले ही हैं। इस विषय की सभी बातें किसी एक ही ग्रन्थ में नहीं मिलतीं। इधर-उधर बिखरी हुई हैं। साथ ही किसी एक ग्रन्थ से बहुत-सी बातें स्पष्ट भी नहीं होतीं। अतः मैं बहुत अरसेसे एतद्विषयक एक ऐसी पुस्तक निकलने की आवश्यकता का अनुभव कर रहा था जिसमें सारे ही ग्रन्थों का सार खींचकर नवीन ढंग से रख दिया गया हो। इसके लिए हमारे शास्त्री पंडितों से तो कुछ आशा करना फ़िजूल है। क्योंकि इस विषय से उन्हें बहुत उपेक्षा है और उसी के कारण उनमें एतद्विषयक अज्ञान छाया हुआ है।

समाज के एक प्रसिद्ध विद्वान् का हाल सुनिये—न्यायतीर्थ पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुर ने तत्त्वार्थसार का हिन्दी अनुवाद किया है। उसके पृ० ११८ में सूर्य विमान का विस्तार बताते हुए लिखा है कि—

"अड़तालीस योजन तथा एक योजनका इकसठवां भाग इतना व्यास है, कुछ इससे अधिक तिगुनी परिधि है। चौबीस योजन तथा एक योजन का इकसठवां भाग इतनी मोटाई ऊपर की तरफ है!" जैन ग्रन्थ चाहे वे श्वे० हों या दिगम्बर सभी में सूर्य का एक योजन से भी कम व्यास लिखा है तब न जाने यह अड़तालीस योजन का सूर्य शास्त्रीजी ने कहाँ से लिख दिया। हद हो गई! जिन्हें इतनी मोटी-सी बात का ज्ञान नहीं उनसे और क्या आशा की जा सकती है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोत्रकर्म का संक्रमण

विश्व प्रचलित धर्मों में जैनधर्म के सिवाय ऐसा कोई धर्म नहीं जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त जीवों को समान बतला कर समस्त जीवों की रक्षा करने का उपदेश देता हो और न ही कोई ऐसा मत है जो जीवमात्र को परमात्मा बन सकने का प्रतिपादन करता हो। इस दशा में जैन धर्म से बढ़कर उदारता अन्यत्र कहीं नहीं पाई जा सकती।

किन्तु हमारे कतिपय महानुभाव इस उदारता में भी त्रुटिका अनुभव करते हुए नीच गोत्री मनुष्य को उसी भव में ऊँचगोत्री बना देने की उदारता की इच्छा जैनधर्म से और चाहते हैं। उनकी इस चाहना में प्रमुख कारण आधुनिक राजनैतिक तथा सामाजिक वातावरण है।

हमारे वे महानुभाव अपने विचारों की जड़ जमाने के लिये जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त का आश्रय टटोलते हैं। उनका खयाल है कि गोत्र कर्म में संक्रमण हो जाया करता है। तदनुसार एक मनुष्य जो नीच गोत्र के उदय से नीचकुल में पैदा हुआ है अपने सदाचार से उन्नति करता हुआ अपने नीच गोत्र का संक्रमण कर के ऊँचगोत्र रूप करके ऊँच गोत्री हो सकता है। कर्मसिद्धान्त यदि ऐसा स्पष्ट विधान करता तो उस से आनाकानी करने का किसी को स्थान न होता और न उस दशा में इस विषय पर मतभेद या दलबन्दी ही होती। अस्तु।

श्रीमान् पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ एक उत्साही नवयुवक हैं। उन्होंने "जैनधर्म की उदारता" नामक एक छोटी सी पुस्तक लिखी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस पुस्तक में आप ने नीचकुली मनुष्य को उसी भव में ऊँचकुली हो सकने के लिये युक्ति और आगम उपस्थित किया है।

आप ने "जैनधर्म की उदारता" के पृष्ठ १६ में गोम्मटसार कर्म-कांड का प्रमाण देते हुये लिखा है कि—

"असाता वेदनीय, अशुभगति, ५ संस्थान, ५ संहनन, नीचगोत्र, अपर्याप्त, अस्थिरादि ६; इन २० प्रकृतियों के विध्यात, अधःप्रवृत्त और गुणसंक्रमण होते हैं। अतः जिस प्रकार असाता वेदनीय का साता के रूप में संक्रमण हो सकता है उसी प्रकार से नीच गोत्र का ऊंच गोत्र के रूप में भी परिवर्तन होना सिद्धान्तशास्त्र से सिद्ध है। अतः किसी को जन्म से मरने तक नीच गोत्री ही मानना दयनीय अज्ञान है।"

इस प्रकार आपने वहाँ की डेढ़ गाथा से यह फलितार्थ निकाला है कि किसी नीच गोत्र वाले मतुष्य के नीच गोत्र कर्म पलट कर उच्च गोत्र हो जाने पर सत्ता में उसके उच्च गोत्र कर्म ही विद्यमान रहेगा और तब वही उदय में भी आवेगा। इस लिये नीच गोत्र वाला मनुष्य अपनी उसी पर्याय में उच्च गोत्री भी बन सकता है। ऐसा आपका खयाल है।

गोम्मटसार का वह प्रकरण ध्यान से देखने पर आपका यह विचार मुझे भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। मालूम होता है आपने विध्यात, अधः-प्रवृत्त और गुणसंक्रमण का मतलब यथार्थ नहीं समझा है। खाली संक्रमण के नाम से ही आप भूल में पड़ गये दीखते हैं। अतः मैं भी प्रथम संक्रमणों का स्वरूप यहाँ बतला देना आवश्यक समझता हूँ।

संक्रमण के ५ भेद होते हैं। उनके नाम और स्वरूप इस प्रकार हैं—उद्वेलन-प्रकृति की परमाणुओं में उद्वेलन भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतनी परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप होना 'उद्वेलन संक्रमण' कहलाता है। मन्दविशुद्धि धारी जीव के जिसका बन्ध न पाया जावे ऐसी विवक्षित कर्म प्रकृति के परमाणुओं में विध्यात भागहार का भाग देने से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो लब्ध आवे उतनी परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप होना 'विध्यात संक्रमण' कहलाता है। कर्म की ऐसी विवक्षित प्रकृति जिसका कि वहाँ बन्ध सम्भव हो उसके परमाणुओं में अधःप्रवृत्त भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप होना 'अधः प्रवृत्त संक्रमण' कहलाता है। किसी विवक्षित अशुभ प्रकृति के परमाणुओं में संक्रमण भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना और यह परिणमन आगे प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे होते जाना इस प्रकार का गुणाकार परिणमन 'गुणसंक्रमण' कहलाता है तथा विवक्षित प्रकृति के परमाणुओं में से अन्य प्रकृति रूप परमाणुओं के होते होते आखिर अन्त में फालि रूप ही परमाणु वच रहें उनका भी अन्य प्रकृति रूप हो जाना 'सर्व संक्रमण' कहलाता है।

विध्यात, अधःप्रवृत्त आदि नाम किसी संख्या विशेष के हैं। इन नामों वाली संख्यायें कितनी कितनी होती हैं ? यह वर्णन कर्म कांड गाथा ४३० से ४३५ तक हैं वहाँ देख लेवें। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा जाता। गाथा ४०९ की टीका में भी इन्हें भागहारों के नाम से ही उल्लिखित किया है। यथा—

"यैः भागहारैः शुभाशुभं कर्म परप्रकृतिरूपेण परिणमति ते भागहाराः उद्वेल्लनविध्याताधःप्रवृत्तगुणसर्वसंक्रमनामानः पंच संभवन्ति।"

अर्थ—जिन भागहारों से शुभाशुभकर्म परप्रकृति रूप से परिणमता है वे भागहार उद्वेलन विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुण, सर्व ऐसे पाँच संक्रमण नाम के होते हैं।

संक्रमणों के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आदि के ४ संक्रमण ऐसे हैं जिनमें किसी प्रकृति का पूरा संक्रमण नहीं होता है किन्तु उसके उतने ही हिस्से का संक्रमण होता है जितना कि ऊपर लिखित भागहार के भाग देने से लब्ध आता है। बाकी हिस्सा उस प्रकृति का बगैर संक्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मण हुये रहता है। ऐसी हालत में आपने प्रमाण देकर जो नतीजा निकाला है वह सचमुच भूलभरा ही कहना चाहिये। तमाम संक्रमणों में केवल एक सर्वसंक्रमण ही ऐसा है जिसमें विवक्षित कर्मप्रकृति का पूरा पूरा संक्रमण हो सकता है। ऐशी सर्वसंक्रमणवाली ५२ कर्म प्रकृतियाँ हैं जिनके नाम गाथा ४१४, ४१५, ४१७ में दिये हैं। उन नामों में नीचगोत्र का नाम कतई नहीं आया है अगर नीचगोत्र का सर्वसंक्रमण हो सकता होता तो इसका नाम भी जरूर दिया जाता।

इसके अलावा गोम्मटसार कर्मकाण्ड में जहाँ गुणस्थानों में गोत्रकर्म के बन्धोदयसत्त्व को लेकर भंग बताये गये हैं वह भी आपके मंतव्य के विरुद्ध ही पड़ता है। वह प्रकरण यों है—

मिच्छादि गोदभंगा पण चदु तिसु दोण्णि अट्ठठाणेसु।
एक्केक्का जोगिजिणे दो भंगा होंति णियमेण ॥६३८॥

इसकी संस्कृत टीका का अविकल अनुवाद निम्न प्रकार है—"मिथ्यात्व गुणस्थान में गोत्रकर्म के पाँच भंग हैं—१–नीच का बन्ध, नीच का उदय, नीच-उच्च दोनों का सत्त्व, २–नीच का बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनों का, ३–उच्चका बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनों का, ४–उच्चका बन्ध, नीचका उदय, सत्त्व दोनों का। ५–नीच का बंध, नीच का उदय, नीच का सत्त्व।

सासादन में उक्त पाँचों में अन्तिम भंग नहीं है। शेष चार भंग हैं। क्योंकि उच्च गोत्र की उद्वेलनावाले तेजकायिक, वातकायिक जीवों के सासादन का अभाव है। मिश्र, अविरत और देशविरत गुणस्थानों में १–उच्चका बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनों का २–उच्चका बन्ध, नीच का उदय, सत्त्व दोनों का ऐसे दो दो भंग हैं। प्रमत्त से लेकर सूक्ष्मसांपराय तक के गुणस्थानों में उच्चका बन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनों का ऐसा एक एक भंग है। आगे सयोगकेवली तक गुणस्थानों में बन्ध का अभाव होने से उच्चका उदय सत्त्व दोनों का ऐसा एक एक ही भंग है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४ वें गुणस्थान में १–उच्चका उदय-सत्त्व दोनों का २–उच्चका उदय उच्चका सत्त्व ऐसे दो भंग हैं।

इस कथन से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि पहिले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक ऐसा कोई भी गुणस्थान नहीं है जिसमें अकेले उच्चगोत्र का सत्त्व पाया जाता हो। ऐसी अवस्था में गोत्र संक्रमण का सहारा लेकर नीच का उच्च होना जो सिद्धांत दृष्टि से सिद्ध किया जाता है वह कितना अयुक्त और पोच है, यह हरएक के हृदयंगम हो सकता है। दूसरे से १३वें गुणस्थान धारी जीवों में कोई ऐसा जीव ही नहीं हो सकता कि जिसके नीच उच्च दोनों गोत्रकर्मकी सत्ता न पाई जाती हो। बल्कि १४वें गुणस्थान में भी द्विचरमसमय तक दोनों गोत्र की सत्ता पाई जाती है। देखो गाथा ३५ वीं। अब रहा प्रथम गुणस्थान सो उसमें जरूर एक गोत्र की सत्ता बताई गई है, लेकिन बताई गई है नीच गोत्र ही की। इससे नीच का उच्च होना तो वहाँ भी सिद्ध नहीं हो सकता। तथापि आप "जैनधर्म की उदारता" पुस्तक में नीच का उच्च होना सिद्ध करते हैं।

यदि कोई कहे कि नीच का उच्च होना सिद्ध नहीं होता तो न सही, लेकिन उच्च का नीच होना तो सिद्ध होता है क्योंकि प्रथम गुण स्थान में अकेले नीच गोत्र की सत्ता वाला भी भंग बताया है और सर्व संक्रमण वाली प्रकृतियों में भी उच्च गोच का नाम दिया है। इससे उच्चकुली मिथ्यादृष्टि पुरुष का उसी पर्याय में नीचगोत्री हो सकने में तो कोई बाधा नहीं है। इसका समाधान यह है कि—मिथ्यात्व में केवल नीच गोत्र की सत्ता और उच्च गोत्र का संक्रमण जो सिद्धान्त में बताया है वह तेजकायिक, वातकायिक जीवों की अपेक्षा से बताया गया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है कि—

उच्चुव्वेल्लिद तेऊ वाउम्मि य णीचमेव सत्तं तु। अर्थात्—उच्च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोत्र की उद्वेलना वाले तेजकायिक वातकायिक जीवों के नीच गोत्र की सत्ता होती है।

तथा ऊपर गाथा ६३८ की टीका में सासादन गुणस्थान में अकेले नीच गोत्र की सत्ता वाला भंग न होने का कारण बताते हुये लिखा है कि तेजकायिक, वातकायिक जीवों के सासादन गुणस्थान न होने से उस गुणस्थान में वह भंग नहीं होता है।

इससे साबित होता है कि अकेले नीच गोत्र की सत्ता सिर्फ तेजकायिक, वातकायिक जीवों में ही पाई जा सकती है, दूसरों में नहीं। अगर अन्यत्र भी पाई जाती होती तो उनका नाम नहीं दिया जाता और जो मनुष्य में पाई जा सकती होती तब तो सासादन गुणस्थान में उसका निषेध कभी किया ही नहीं जाता।

ऊपर के इस सारे विवेचन का मतलब यह हुआ कि गोत्र कर्म का संक्रमण होता है यह ठीक है पर पूरा संक्रमण उसकी उच्चगोत्र प्रकृति का ही होता है, नीच गोत्र प्रकृति का नहीं। और उच्च का भी पूरा संक्रमण तेजकायिक, वातकायिक जीवों को छोड़कर दूसरों में नहीं होता है। अतः यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि मनुष्यों में प्रायः गोत्र की नीच उच्च प्रकृतियों की एक साथ सत्ता सदैव नियम से पाई जाती है और तब उनके दोनों में से कोई सा भी गोत्र आजीवन रह सकता है। इसमें कोई आपत्ति सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं आ सकती है।

इसके सिवाय नीच गोत्र कर्म का नोकर्म नीच गोत्री माता-पिता के रज-वीर्य से बना हुआ शरीर है जो कि उसी भव भव में किसी तरह बदल शरीर के बिना बदले नीच गोत्री का भुज्यमान नहीं सकता है। नीचगोत्र कर्म उच्चगोत्र रूप नहीं हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौबीस यक्ष यक्षियाँ

चौबीस तीर्थंकरों के गौमुख, महायक्ष, त्रिमुख, तुंबर, मातंग आदि २४ देव क्रमशः यक्ष कहलाते हैं। और चक्रेश्वरी, काली, महाकाली, चामुंडा आदि २४ देवियाँ वर्तमानकाल के प्रत्येक तीर्थंकर की एक-एक यक्षिणी कही जाती है। यह याद रहे कि इन यक्षियों को ही 'शासन देवता' नाम से कहा गया है। अन्य देव-देवियों की शासन देव-देवी संज्ञा नहीं है ऐसा आशाधर ने अपने प्रतिष्ठा-शास्त्र में निरूपण किया है। किन्तु यह स्पष्ट कहीं नहीं किया गया कि इन यक्षियों को यह खिताब क्यों मिला ? अन्य महर्द्धिक इंद्रादिकों तक को भी इस पद से वंचित क्यों रक्खा गया ?

इन देवों की पूजा करनी चाहिये या न करनी चाहिये यह सवाल तो बाद का है। पहिले हमें यह देखना है कि इनके अस्तित्व की सिद्धि भी प्राचीन और समीचीन जैन वाङ्मय से होती है या नहीं।

पहिले हमने जैन संदेश में दश दिग्पालों के विषय में लिखा था और विद्वानों से यह जानना चाहा था कि इन दिग्पालों के अस्तित्व की सिद्धि करणानुयोगी प्राचीन जैन साहित्य से बताई जावे। उस लेख में कितना ही ऊहापोह किया गया था "उसमें उठाये गये कितने ही प्रश्नों का उत्तर न देकर चूड़ीवाल जी ने मंगलाष्टक व आदिपुराण का प्रमाण देकर सिर्फ दिग्पालों की दश संख्या बताने का उद्यम किया है। मंगलाष्टक का कर्ता कौन है ? और वह किस समय की रचना है ? ऐसा कुछ बताये बिना उसका प्रमाण देना बेकार है। रहा आदि-पुराण का प्रमाण सो उसका जो पद्य प्रमाण में पेश किया है उसमें न तो दिग्पालों के नाम हैं और न दश संख्या ही। वह श्लोक भगवान् के जन्माभिषेक के समय का है उसमें इतना ही लिखा है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"उस समय दिग्पाल देव भी दिशा-विदिशाओं में स्थित थे।" इस कथन से चूड़ीवाल जी ने दिग्पालों की दश संख्या कैसे समझी ? कहीं लिखा हो कि "उस प्रतापी राजा के भय से उसके शत्रु दिशा-विदिशाओं में भाग गये।" इस इबारत का अर्थ यह नहीं है कि उस राजा के दश ही शत्रु थे। चूड़ीवालजी को जान लेना चाहिये कि करणानुयोगी ग्रन्थों में लिखा मिलता है कि देवों की इन्द्र सामानिक आदि जातियाँ होती हैं जिनमें से लोकपाल अपर नाम दिग्पाल नाम की भी जाति होती है और इस जाति के देवों की भी कितनी ही संख्या होती है। वे सब भी उस वक्त भगवान् के जन्माभिषेक के अवसर में दिशाविदिशाओं में यानी इधर-उधर खड़े थे ऐसा स्पष्ट अभिप्राय आदिपुराण का है। इस प्रमाण से दिग्पालों की दश संख्या की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है। अस्तु,

आज हम इस लेख में यक्ष-यक्षियों के सम्बन्ध में भी नीचे लिखे विकल्प विद्वानों के सामने जिज्ञासा भाव से रखते हैं और आशा करते हैं कि वे उन पर गंभीरता से विचार कर समाधान करेंगे कि ये यक्ष-यक्षियाँ काल्पनिक हैं या वास्तविक ? (१) ये यक्ष-यक्षियाँ पूर्वजन्म में कौन थीं ? और ये जिस तीर्थंकर की कहलाती हैं उनके साथ इन्होंने कौन सा ऐसा विशिष्ट कार्य किया जिससे उनकी कहलाईं इत्यादि इनका कोई चरित्र आगम में लिखा क्यों नहीं मिलता है। धरणेन्द्र और उसकी देवी श्री पार्श्वनाथ स्वामी का उपसर्ग निवारणार्थ आई थी यह कथा भी पार्श्वनाथ की यक्ष-यक्षी की नहीं है। धरणेन्द्र और उसकी देवी ये पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी हैं ही नहीं। पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम तो धरण या मातंग है न कि धरणेन्द्र और पद्मावती। यह नाम पार्श्वनाथ की यक्षिणी का है न कि धरणेन्द्र की देवी का। धरणेन्द्र की देवी का नाम किसी भी करणानुयोगी ग्रन्थ में पद्मावती लिखा नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विचार हमने इसी पुस्तक में अन्यत्र किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२—यह भी बताया जावे कि क्या इन यक्ष-यक्षियों का परस्पर में दाम्पत्य सम्बन्ध है या सम्बन्धित नहीं है ?

३—जब कि महापुराण में चौबीस ही तीर्थंकरों का विस्तृत चरित्र लिखा मिलता है। यहाँ तक कि प्रत्येक तीर्थंकर को आहारदान देने वाले तक का भी नाम, ग्राम लिखा मिलता है तो महापुराण में किसी भी तीर्थंकर के चरित्र में इन यक्ष-यक्षियों में से जो कि बहुत अधिक जिनभक्त और शासनदेवता कही जाती हैं किसी एक का भी उल्लेख क्यों नहीं है ?

४—तीर्थंकर की माता की सेवा में आने वाली षट्कुलाचलवासिनी और रुचकवासिनी आदि देव-देवियों के जैसे नाम आते हैं वैसे इन यक्ष-यक्षियों के भी अगर वास्तव में ये होते तो अवश्य कहीं न कहीं नाम आते।

५—क्रियाकांडी जैनसाहित्य को छोड़कर शेष करणानुयोगी आदि साहित्य में इनका उल्लेख क्यों नहीं है ? यह खास विचारणीय है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में जरूर इनके नाम मात्र लिखे मिलते हैं। किंतु त्रिलोक-प्रज्ञप्ति की श्लोक संख्या स्वयं ग्रंथकार ने आठ हजार प्रमाण लिखी है जबकि उपलब्ध त्रिलोकप्रज्ञप्ति में नव हजार श्लोक संख्या पाई जाती है। अतः यह अवश्य मानन पड़ेगा कि उसका बढ़ा हुआ अंश प्रक्षिप्त है। संभव है यक्ष-यक्षियों की नामनिर्देशक गाथायें उसमें क्षेपक हों। यह संभावना इसलिए भी ठीक कही जा सकती है कि ये गाथायें प्रक्षिप्त नहीं होतीं तो इनका अनुसरण इसके उत्तरवर्ती त्रिलोकसार राजवार्तिक आदि ग्रंथों में भी किया जाता। अलावा इसके त्रिलोकप्रज्ञप्ति में जहाँ ये गाथायें दी हैं वह प्रकरण समवशरण का है। विषय चल रहा है कि "कोठों में बैठने वाले प्राणियों के भगवान् के माहात्म्य से रोग, मरण, पीड़ा आदि नहीं होते हैं।" इसी के आगे बिना प्रकरण के ही इन यक्ष-यक्षियों के नाम लिख दिये गये हैं। समवशरण में कोई इनका काम भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ नहीं बताया गया है, यों ही खाली इनके नाम गिना दिये गये हैं। इस प्रकार ये गाथायें यहाँ बिलकुल बेतुकी सी जंचती हैं और साफतौर पर क्षेपक होने की आशंका पैदा करती हैं। (देखो चौथे अधिकार की गाथा नं० ९३४ आदि)

६—अन्य मत में काली, महाकाली, चामुण्डा आदि अद्भुत शक्तिशालिनी देवियों की मान्यता की ओर जनता को आकर्षित होता देख कर जैनमत में भी उन्हीं के कुछ नामों में अपने नये नाम मिलाकर और उनके साथ तीर्थङ्करों का सम्बन्ध जोड़कर इन चौबीस यक्षियों की कल्पना कर डाली है। यह बात इनके 'जिन शासन देवता' इस नामकरण से ही प्रकट हो जाती है। सोमदेव ने भी यशस्तिलक में 'ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।" वाक्य लिखकर इनको कल्पित ही बताया है। पं० पन्नालालजी सोनी को उक्त वाक्य में आया 'कल्पिताः' शब्द खटका है इसलिये उन्होंने 'शासन देव पूजा के अनुकूल अभिप्राय' नामक पुस्तक में 'कल्पिताः परमागमे' के स्थान में 'मानिताः परमागमे' पाठ बदलकर रखा है जो नितान्त अनुचित है। श्री मुख्तार साहब ने यशस्तिलक के 'चत्वारश्च विधोचिताः' पाठ के स्थान में 'चतुर्थश्च विधोचितः' पाठ बदल कर लिखा सो उन्होंने तो अर्थ समझ में न आने के कारण भ्रान्ति से उसे अशुद्ध खयाल कर अपनी तरफ से शुद्ध पाठ बनाकर लिख दिया जिस पर तो विपक्षी पण्डितों ने होहल्ला मचाया परन्तु सोनीजी ने जो उक्त वाक्य बदला वह क्या समझकर बदला सो भी तो बताया जावे जिसका प्रतिवाद आज तक इन पण्डितों में से किसी एक ने भी नहीं किया है।

७—भगवान् की सेवा में भाग लेने वाले सौधर्मेन्द्र, कुबेर, अग्नीन्द्रकुमार आदिकों के नाम तो तीर्थङ्करों के चरित्रों में मिलते हैं। किन्तु इन चौबीस यक्ष-यक्षियों ने भगवान की किसी सेवा में भाग लिया हो ऐसा-कुछ भी लिखा मिलता नहीं है तब यह कैसे माना जाये कि ये यक्ष-यक्षियाँ भगवान की बड़ी भक्त हुई हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८—अकृत्रिम प्रतिमाओं के अगल-बगल में हाथ में चामर लिये इन यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ होती हैं यह कहना भी गलत है। त्रिलोकसार, राजवार्तिक, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में तो अकृत्रिम प्रतिमाओं के दोनों बाजुओं में ३२ नागकुमारों व यक्षों को चामर हाथों में लेकर पंक्तिबद्ध खड़े रतना बताया है। वहाँ न चौबीस संख्या का निर्देश है न यक्षियों का उल्लेख ही। आदिनाथ पुराण में जहाँ कि श्री जिनसेन स्वामी ने श्री ऋषभदेव के समवशरण और उनके प्रातिहार्यों का विस्तृत वर्णन किया है वहाँ भी श्री ऋषभदेव की यक्षिणी चक्रेश्वरी और यक्ष गौमुख का कहीं नाम तक नहीं लिखा है। चामर ढुरानेवालों की संख्या भी वहाँ दो लिख देते तो कदाचित् इनकी उपपत्ति किसी तरह बैठाई जा सकती परन्तु वहाँ तो चामर ढोरने वाले भी ६४ यक्ष लिखे हैं।

९—वर्तमान चौबीसी के तीर्थङ्करों में से कितने ही तीर्थङ्करों को हुये सैकड़ों हजारों सागर काल व्यतीत हो चुका है। उनसे सम्बन्धित इन यक्ष-यक्षियों में से कइयों की अपनी-अपनी पर्याय भी कभी की खतम हो चुकी ऐसी हालत में जब वे रहे ही नहीं तो उनका आह्वानादि कर उनसे विघ्ननिवारण की आशा रखना वृथा है। यदि कहो कि उनके स्थान में दूसरे जीवों ने आकर जन्म लिया, वे ही फिर ये यक्ष-यक्षी कहलाने लगे तो यह भी बात बनने जैसी नहीं है क्योंकि जिन्होंने भगवान् की कोई विशिष्ट भक्ति आदि ही नहीं की वे उस स्थान में जन्म लेने मात्र से ही आदर के पात्र कैसे हो सकते हैं?

ऐसा मालूम पड़ता है कि इन क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों को छोड़कर बाकी किन्हीं भी मूलसंघ के प्राचीन जैनग्रन्थों में इन चौबीस यक्षों और चौबीस यक्षियों का कहीं भी नाम निशान नहीं है। जबतक ऊपरलिखित मुद्दों के सन्तोषजनक उत्तर न हो जायें तब तक इन्हें काल्पनिक ही माना जायेगा। और जबकि इनका अस्तित्व ही खपुष्पवत् है तो ऐसी अवस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में इनका आदर सत्कार करने न करने का तो हाल सवाल ही उठाना निरर्थक है।

आशाधर प्रतिष्ठापाठ अध्याय १ श्लोक ७७ में लिखा है कि–प्रतिमा के सामने भाग पर तीर्थङ्कर का चिह्न हो, दक्षिणी पसवाड़े में यक्ष और वाम पसवाड़े में यक्षिणी हो। इस विषय में और भी आगे वढ़ते हुए अन्य क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थों में लिखा है कि–प्रतिमा के अधोभाग में नवग्रह, मध्य में क्षेत्रपाल, बाईं ओर यक्षी और दक्षिण में यक्ष हो। (देखो चर्चा-सागर पृ० ४४)

इस प्रकार इन ग्रन्थों में वीतराग प्रतिमा के चारों ओर सरागी व काल्पनिक देवों का घेरा डालकर एक तरह से जैनधर्म का आदर्श और मूर्ति-पूजा का उद्देश्य ही खत्म कर डाला गया है। आशाधर आदि ने यहाँ इन यक्ष-यक्षियों के हाथ में चामर लेकर खड़े रहने की वात भी नहीं लिखी है। फिर जिनबिम्ब के अगल-बगल में इनको यों ही खाली खड़े रखने का क्या तात्पर्य है यह कुछ समझ में नहीं आता है। अकृत्रिम प्रतिमाओं के वर्णन में तो न कहीं यक्षिणी लिखी है न नवग्रह क्षेत्रपाल ही। वहाँ तो भगवान् की महिमा के द्योतन के लिये चामर हाथ में लिये देवों का खड़ा रहना वताया गया है। यही चीज हम वर्तमान में उपलब्ध कुछ खड्गा-सन मूर्तियों के साथ भी देखते हैं कि चामर लिये हुये दो देव प्रतिमा के अगल-वगल में खड़े हैं।

मूलसंघ के ग्रन्थों में कहीं भी इन शासन देव-देवियों का उल्लेख नहीं हैं। पं० आशाधरजी ने इनका प्रतिपादन किया भी है तो साथ ही उन्होंने अपने वनाये प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय ३ श्लोक १२७ में ऐसा लिखा है—"इन यक्षों की पूजा ऐहिक फल प्राप्ति की इच्छा से वे करते हैं जो अव्युत्पन्नसम्यग्दृष्टि हैं।" तथा यही बात उन्होंने उसी प्रतिष्ठा-सारोद्धार के ६वें अध्याय श्लोक ४३ में लिखी है। सागार धर्मामृत में भी इन्होंने ऐसा लिखा है कि—"आपदाकुलितोऽपि दार्शनिकः शासन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवतादीन् कदापि न भजते।" अर्थात् आपदा आ पड़ने पर भी सम्यग्दृष्टि श्रावक शासन देवों की कदापि आराधना नहीं करता है।

इसी तरह श्रुतसागर ने अभिषेक पाठ संग्रह के पृष्ठ १६८ पर प्राकृत गद्य में आये अरिहंत के विशेषण "देवपरिपुज्जिदाय" शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"अदेवाः—हरिहरहिरण्यगर्भादयः, कुदेवाः—व्यंतरादयः, देवाः—कल्पवास्यादयः एतेषां त्रिविधानामपि देवानां परि समंतात् पूजितस्तस्मै।" इसमें हरि हर ब्रह्मा को अदेव, कल्पवासी-कल्पातीत देवों को देव और व्यंतरादिकों को कुदेव बताया है। और इस तरह श्रुतसागर ने स्पष्टतया व्यंतरादि भवनत्रिक देवों की गणना कुदेवों में की है। धरणेन्द्र, क्षेत्रपाल, नवग्रह, यक्ष, पद्मावती-चक्रेश्वरी आदि यक्षिणियाँ जयादि व रोहिणी आदि देवियाँ इत्यादिकों का अन्तर्भाव भवनत्रिकों में ही किया जाता है। इस कथन से जो इनकी पूजा करते हैं वे कुदेवपूजक ही कहलावेंगे। किन्तु श्रुतसागर इनको कुदेव बताते हुए भी इनकी आराधना का विधान करते हैं यह उनकी बेढंगी कथन शैली है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी तो रागी-द्वेषी देवों की उपासना करने को देवमूढता बताते हैं और कुदेव पूजा के निषेध में यहाँ तक लिखते हैं कि—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥

—रत्नकरंड श्रावकाचार

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि हैं वे भय-आशा-स्नेह और लोभ से भी कुदेव कुशास्त्र और कुसाधुओं का प्रणाम विनय नहीं करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनतिथि और व्रततिथि

बाजारों में मिलने वाले पंचांगों में जो तिथियाँ लिखी हुई रहती हैं वे ही क्या जैन तिथियाँ हैं? या जैन तिथियाँ अन्य तरह से होती हैं ? और वे कैसे होती हैं ? तथा जैनतिथि और व्रततिथि में क्या कुछ भेद है ? इन्हीं विषयों पर नीचे कुछ प्रकाश डाला जाता है। इस विषय में "जैन-गजट वर्ष ३८ अंक ९ और १६ में हमने पहले बहुत कुछ लिखा है।[1]

पंचांगों में जो तिथियाँ लिखी रहती हैं वे मात्र सूर्योदय की अपेक्षा को लेकर होती हैं। यानी सूर्योदय के वक्त जो तिथि होगी वही सारे दिन मानी जायेगी चाहे वह कुछ पलों ही की क्यों न हो। और जो तिथि सूर्योदय के बाद शुरू होकर अगले दिन के सूर्योदय से पहिले ही खतम हो जाती है वह पंचांगों में क्षय कर दी जाती है। तथा जो एक ही तिथि दोनों दिन के सूर्योदय के वक्त पाई जाती है तो वह पंचांग में दोनों दिन मानी जाती है। इसे ही वृद्धि तिथि कहते हैं। ६० घड़ी का अहोरात्र (दिनरात) होता है। अगर सब ही तिथियाँ साठ-साठ घड़ियों की होतीं तो तिथि की क्षय वृद्धि का अवसर ही नहीं आता। हरएक तिथि का प्रमाण ५४ से ६६ घड़ियों के बीच होता है अर्थात् कम से कम ५४ घड़ी और कुछ पलों की व अधिक से अधिक ६५ घड़ी और कुल एक पलों की एक तिथि होती है। इसके लिए

---

१. उस वक्त सम्पादक पं० खूबचन्दजी ने हमारे लेख पर जो अपना अभिमत प्रकाशित किया है वह इस प्रकार है:—लेखक महोदयने जो रीति लिखी है वह सचमुच में निर्दोष, सरल और आगम तथा जैनाम्नाय के अनुकूल है। इन्दौरवाले गोधाजी के जैनतिथिदर्पण की जो लेखक ने समालोचना की है वह भी हमारी समझ से बहुत उचित है। गोधाजी, कटारिया जी के लेख का आशय भले प्रकार समझे नहीं हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्योतिष में एक सूत्र भी है—"बाण (५) वृद्धि रस (६) क्षयः।" इसी से कभी-कभी तिथि का वृद्धिह्रास हो जाया करता है।

जैनमत में तिथि व्यवस्था उपर्युक्त प्रकार से नहीं मानी जाती है। तिथि की मान्यता उसमें इस प्रकार है कि—सूर्योदय के बाद छह घड़ी या उससे ऊपर तक जो तिथि रहती है वह जैनमत में उस सारे दिन मानी जाती है। जो तिथि सूर्योदय के बाद ६ घड़ियों से कम रहती है तो वह जैनमत में कतई नहीं मानी जा सकती। पंचांग में जिस प्रकार सूर्योदयको आधार मानकर ऊपर तिथि का वृद्धिह्रास बताया गया है, उसी प्रकार जैनमत में उदय की ६ घड़ी के आधार पर तिथि का वृद्धिह्रास होता है। अर्थात् जैसे पंचांग में प्रथम दिन सूर्योदय के बाद से शुरू होकर अगले दिन के सूर्योदय से पहिले ही पूर्ण हो जाने वाली तिथि क्षय तिथि मानी जाती है, उसी तरह जैनमत में जौ तिथि प्रथम दिन में सूर्योदय से ६ घड़ी बाद शुरू होकर अगले दिन सूर्योदय के ६ घड़ी बाद से पहिले ही पूर्ण हो जाती है वह क्षय तिथि मानी जाती है। किन्तु जैनमत की वृद्धि तिथि समझना जरा कठिन है। कारण कि पंचांग में जो वृद्धि तिथि होती है वह दोनों दिन सूर्योदय के वक्त आ जाने से होती है। इसी तरह जैनमत में भी प्रथम दिन सूर्योदय से ६ घड़ी या उससे ऊपर तक अगर एक ही तिथि आ सकती होती तो वृद्धि तिथि हो जाती और यह तब हो सकता था जब कि तिथि का प्रमाण ६६ या उससे ऊपर की घड़ियों का होता। परन्तु किसी भी तिथि का प्रमाण अधिक से अधिक ६५ घड़ियों और कुछ पलों से अधिक नहीं होता है पूरी ६६ घड़ियों की भी कोई तिथि नहीं होती। इसलिए जैनमत में दो तिथि किसी दूसरे ही ढंग से होती हैं। उसे बतलाने के पहिले मैं यह समझा देना चाहता हूँ कि तिथि का अधिक से अधिक प्रमाण जैसे ऊपर बताया गया है उसी तरह हर एक तिथि का कस से कम प्रमाण ५४ घड़ियों और कुछ पलों का होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे कम तिथि नहीं होती है। मतलब यह है कि तिथि ५४ से ऊपर और ६६ से नीचे बीच में कितनी भी घड़ियों की हो सकती है। किन्तु हर एक तिथि पूरी की पूरी अहोरात्र भर में कभी आ भी सकती है और नहीं भी आ सकती है। कितनी ही बार एक ही अहोरात्र में कुछ भाग एक तिथि का रहता है और कुछ भाग दूसरी तिथि का। शेष भाग उनके अगले पिछले दिन में भुगतते रहते हैं। जैसे शुक्रवार को अष्टमी १५ घड़ियों की है अर्थात् सूर्योदय से लेकर १५ घड़ियों तक अष्टमी रही, ४५ घड़ियों तक इसी शुक्रवार को नवमी रहेगी। अष्टमी का शेष भाग पूर्व दिन बृहस्पतिवार को भुगता है और नवमी का शेष भाग अगले दिन शनिवार को भुगतेगा। इस उदाहरण में अष्टमी उदय तिथि कहलायेगी क्योंकि वह शुक्रवार को सूर्योदय के वक्त थी। तथा नवमी अस्ततिथि कहलायेगी क्योंकि वह शुक्रवार को सूर्यास्तके वक्त रही है। इस तरह कई दिनों तक लगातार प्रत्येक-प्रत्येक दिन में दो-दो तिथि चला करती हैं। ऐसी हालत में दो तिथि में एक दिन कौन-सी तिथि मानी जावे यह समस्या आके खड़ी हो जाती है। इस समस्या को हल करने के लिए पंचांगों में तो यह नियम रक्खा गया कि जो तिथि सूर्योदय के वक्त पाई जावे वही उस अहोरात्रभर में मानी जावे और जैनमत में यह नियम रक्खा कि सूर्योदय वाली तिथि उस हालत में उस दिन मानी जावे जब कि वह कम से कम उस दिन छह घड़ी तक रहती हो। जैसा कि शास्त्र के निम्न पद्यों से प्रकट है—

सूर्योदयात्षड्घटिकाप्रमा चेत् तिथिस्तदा स्यात् सकला व्रतेषु।
धर्मादिकार्येष्वखिलेषु गण्या वदंति तां धर्मविदो यतीन्द्राः॥
मुहूर्तैश्च त्रिभिर्न्यूना तिथिर्यत्र भवेत् खलु।
सा तिथिर्नैव मान्या हि जैनमार्गानुयायिभिः॥

अर्थ—यदि सूर्योदय से ६ घड़ी प्रमाण तिथि हो तो उसे धर्मज्ञ यतीश्वरों ने व्रत और सभी धर्मादि कार्यों में पूर्ण मानी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और जो तीन मुहूर्त कहिये ६ घड़ी से कम उदय तिथि हो तो उसे जैनियों को नहीं मानना चाहिये।

यहाँ यह विचारणीय है कि जिस दिन ६ घड़ी की उदय तिथि आवेगी उसी दिन ५४ घड़ी की अस्त तिथि आवेगी तो उसे नहीं माना जावेगा। किन्तु जब किसी दिन ६ घड़ी से कम उदय तिथि आवेगी तो उसी दिन ५४ घड़ी से ऊपर अस्ततिथि आवेगी वह मान ली जायेगी। इसका फलितार्थ यह हुआ कि जैनमत में दो प्रकार की तिथि मानी जाती हैं। एक तो छह घड़ी की या इस से ऊपर की उदय तिथि और दूसरी तरफ ५४ घड़ी से ऊपर की अस्ततिथि। यद्यपि ६ घड़ी से कम की उदय तिथि नहीं मानने से ही यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि उस दिन की अस्ततिथि मानना। फिर भी हम अस्ततिथि माननेका शास्त्र प्रमाण दे देते हैं—

त्रिमुहूर्तेषु यत्रार्क उदेत्यस्तं समेति च।
सा तिथिः सकला ज्ञेया उपवासादिकर्मणि॥

—पद्मदेवकृतव्रतविधाने

अर्थ—उपवासादिकार्य में वह तिथि पूर्ण मानी जाती है जिसमें तीन मुहूर्त तक सूर्य उदय रहता है। अथवा जिस तिथि में सूर्यास्त रहता है।

इसी अर्थ का द्योतक श्लोक नं० ५१ पं० आशाधर जी कृत "अनगारधर्मामृत" के ९वें अध्याय में भी है। वर्तमान के कुछ पंडितोंने इस श्लोकका उदयकी तरह अस्त में भी तीन मुहूर्त होना अर्थ किया है सो गलत है। ऐसे अर्थ की कुछ संगति नहीं बैठती है।

जो तिथि ५४ घड़ियों से ऊपर की होती है वह एक तरह से पूर्ण तिथि ही है क्योंकि तिथि का कम से कम प्रमाण ५४ घड़ी और कुछ पलों का होता है जैसा कि ऊपर बताया गया है। ऐसी पूर्ण तिथि जब एक ही अहोरात्र के अन्दर आ जाती है तो वह मानी जानी चाहिये ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए तो ६ घड़ी से कम की उदय तिथि अमान्य ठहराई गई है ताकि इसके स्थान में उस दिन वह मानी जा सके। अगर ६ घड़ी से कम की उदयतिथि भी मान ली जाती तो अस्त की पूर्ण तिथि जो उसी दिन है छूट जाती। बस यही रहस्य छह घड़ी उदय तिथि मानने का है जो बड़ी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का सूचक है।

शंका—एक ही दिन में आनेवाली दो तिथियों में छह घड़ी की तिथि तो मान लेना और ५४ घड़ी की तिथि छोड़ देना ऐसा क्यों ?

समाधान—लगातार कई दिनों तक प्रतिदिन दो-दो तिथि होने पर दोनों में से किसी एक को मानने से ही तिथि का सिलसिला बराबर आगे तक चल सकता है इसलिये दोनों में एक को मान लो चाहे वह थोड़ी ही घड़ियों की हो।

शंका—दोनों में जो अधिक घड़ियों की हो उसे मान लेने पर भी तिथि का सिलसिला तो चल सकता था।

समाधान—जब एक ही दिन में बराबर की घड़ियों की दो तिथि आती तो किसे मानते। इसलिये किसी एक ही को सदा मानने का नियम तो होना ही चाहिये।

शंका—यदि ऐसा है तो उदय तिथि को ही प्रधानता क्यों दी ?

समाधान—इसका कारण यह है कि विशेष कर नित्य कर्म, धार्मिक अनुष्ठान व लौकिक व्यवहार भी दिन ही में हुआ करते हैं रात्रि तो अधिकतया शयन में ही बीतती है। इसलिए उदय तिथि को प्रधानता दी है।

शंका—छह घड़ी से कम की उदय तिथि न मानने का ही नियम क्यों रक्खा गया ? सात आठ आदि घड़ियों से कम की उदय तिथि न मानने का रखते तो क्या हर्ज था ?

समाधान—किसी एक अधूरी तिथि को पूरी माने विना आगे तक तिथियों का सिलसिला बराबर चल नहीं सकता इसलिये ऐसी एक उदय तिथि ६ घड़ी की मान ली। बाकी तिथि पूरी ही मानी गई। अगर सात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आठ आदि घड़ियों से कम की उदय तिथि भी न मानी जाती तो उस दिन अधूरी अस्ततिथि माननी पड़ती। तब उदय और अस्त दोनों ही तिथियाँ अपूर्ण मानने में आतीं जो ठीक नहीं होता।

शंका—पंचांग की तरह केवल उदय मात्र तिथि मानने में क्या खराबी है?

समाधान—यह कि उस दिन की पूर्ण अस्ततिथि उसी दिन नहीं मानी जाती। इसलिये तिथि विधान में जैन आम्नाय ही ठीक मालूम होती हैं।

ऊपर हमने जैन क्षय तिथि कैसी होती है यह बतलाया था। अब हम इस विवेचन के बाद जैन सम्मत वृद्धि तिथि होना बताते हैं—

ऊपर यह बतलाया गया है कि—सूर्योदय के बाद छह घड़ी पहिले जो तिथि लगती है वह अस्ततिथि कहलाती हैं और वही उसी दिन मानी जाती है। फिर वही तिथि अगर अगले दिन भी सूर्योदय से छह घड़ी या उसके बाद तक चली जाती है तो वह दूसरे दिन भी मानी जाती है। बस यही हिसाब जैनमत में दो तिथि होने का है।

पंचांग से जैन तिथि निकालने का तरीका—

किसी इच्छित पंचांग को खोलकर देखिये उसमें प्रत्येक तिथि के आगे एक खाने में उसकी घड़ियाँ लिखी मिलेंगी। जिस तिथि के सामने जितनी घड़ियाँ लिखी हैं उसका मतलब है कि वह तिथि उस दिन सूर्योदय के बाद उतनी घड़ियों तक रही है। बाद में उसी दिन अगली तिथि लग गई है। अगर किसी वार को तिथि के आगे छह या छह से अधिक घड़ियाँ लिखी हों तो उस वार को वही तिथि समझना चाहिये। और जो किसी वार

---

१. सोदयं दिवसं ग्राह्यं कुलाद्रिघटिका प्रमम्।
अर्थात्—कुलाद्रि (षट्कुलाचल) यानी ६ घड़ी प्रमाण उदय तिथि माननी चाहिए। यह तिथि नियमन के लिए जैनसूत्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को तिथि के आगे छह से कम घड़ियाँ लिखी हों तो उस वार को अगली तिथि माननी चाहिये। मतलब कि जिस तिथि के सामने कम से कम छह घड़ी हों तो वह पंचांग की तिथि ही जैन तिथि हो जावेगी। किन्तु जिस तिथि के आगे ६ से कम घड़ियाँ लिखी होंगी तो पंचांग की वह तिथि जैन तिथि न होकर उस दिन उसकी अगली तिथि होगी। इस दृष्टि को ध्यान में रखने से अपने आप क्षयतिथि और वृद्धि तिथि भी निकल आवेगी। जैन तिथि निकालते वक्त यह बात ध्यान में रखने की है कि—पंचांगों में जो तिथि क्षय बताई हो उसे छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसका वार (दिन) वही यिया रहता है जो उससे पूर्व की तिथि का है अतः उसे छोड़कर ही चलना चाहिए ताकि भ्रम में न पड़े। पंचांगों में जो तिथि क्षय बताई जाती है उसके 'योग' के खाने में सदा 'क्षय' लिखा रहता है और उस तिथि के आगे अनेक शून्य ० दी हुई रहती है यह पंचांग की क्षय तिथि की पहचान है।

तिथि क्षय वृद्धि के विषय में एक निष्कर्ष यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि—पंचांगों में जिस तिथि को क्षय बताई हो जैनाम्नाय में सदा उससे पूर्व की १-२ तिथियों में ही क्षय तिथि आती है और पंचांगों में जो तिथि वृद्धिगत बताई हो जैनाम्नाय में सदा उसके आगे की १-२ तिथियों में ही वृद्धि तिथि आती है।

ऊपर भी हमने तिथि के वृद्धिह्रास के बाबत खूब स्पष्ट कर दिया है। उसे भी ध्यान में रख लेना चाहिये। जैन तिथि निकालने की यह ऐसी सरल तरकीब है कि कोई भी सज्जन पंचांग को देख कर बड़ी आसानी से जैन तिथि निकाल सकता है पहिले इसी तरह सब निकालते थे। अब तो लोग सीधे बने तिथि दर्पणों को देखकर ही काम चलाने लगे हैं। जिससे भारी हानि यह हुई कि जैन जनता जैन तिथि निकालने की विधि ही भूल बैठी। जिसका फल यह हुआ कि कतिपय तिथि दर्पणों की गलत तिथियाँ भी मानी जाने लगी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब हम पंचांग से एक नमूना दिये देते हैं और उसी के आगे जैन मान्यतानुसार फलित होने वाली जैन तिथि और जैन-क्षय-वृद्धि तिथि भी एक कोष्ठक में बता देते हैं इससे आप इस विषय को भली भाँति समझ सकेंगे और इसी रीति से पंचांगों की तिथियों से जैन तिथियां अनायास निकाल सकेंगे।

—श्रावण शुक्ल पक्ष सं० २०१३—

योग	तिथि	वार	घड़ी	पल		वार	जैन तिथि—	
	३	गुरु	७	२६		गुरु	३	
						गुरु		चौथ क्षय
	४	शुक्र	३	२६		शुक्र	५	
	५	शनि	०	३२		शनि	६	
क्षय	६	शनि	५८	४५	००००००००००००००००		+	
	७	रवि	५८	१२		रवि	७	
	८	चंद्र	५८	५८		चंद्र	८	
	९	मंगल	६०	०		मंगल	९	
	९	बुध	१	०		बुध	१०	
	१०	गुरु	४	१०		गुरु	११	दो ग्यारस
	११	शुक्र	८	१९		शुक्र	११	

जैन तिथियों के लिये अलग जैन पंचांग निकालने की भी कोई जरूरत मालूम नहीं होती है। प्रचलित पंचांग ज्योतिष शास्त्र के अनुसार ही निकलते हैं और उन्हीं से जैन तिथियाँ निकाली जा सकती हैं। इसके अलावा सारे जैन समाज में एक व्रत तिथि मानना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि दूरवर्ती देशभेद के कारण सब पंचांगों की तिथियाँ समान घड़ियों की नहीं हो सकतीं और अपने अलग-अलग देशों में अलग-अलग पंचांग मानने से तिथियों में फर्क भी अवश्य रहेगा ही। हाँ पंचांग से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनतिथि निकालने की जो विधि है उसमें विद्वानों को एकमत हो जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में जो गल्ती पर हैं उन्हें युक्त्यागम से निर्णय कर अपनी गल्ती सुधार लेना चाहिए।

कुछ लोग जैन तिथि को ही व्रततिथि समझते हैं सो भी ठीक नहीं है। जैनतिथि लोक व्यवहार में काम आने के लिए होती है और व्रत-तिथि व्रतादि धर्म कार्यों के लिए। जैनियों की अल्प संख्या के कारण लोक व्यवहार में खुद जैनियों को भी वहुसंख्यक हिन्दुओंके देन-लेन (व्यापारादि) में अधुना पंचांग की तिथियाँ ही मानने को वाध्य होना पड़ता है और इसीलिए जैनतिथियाँ अव मात्र व्रतादि धर्मकार्यों ही के काम की रह गयीं हैं। जिसे देख लोग जैनतिथि और व्रततिथि को एक ही समझ वैठे हैं। यह मालूम होना चाहिए कि दो तिथियों में कौन-सी तिथि व्रत के लिए मानी जावे और क्षयतिथि का व्रत किस तिथि को किया जावे इत्यादि विचार व्रततिथि में ही किया जाता है, जैनतिथि में नहीं। हाँ यह बात जरूर है कि व्रततिथि का मूल जैनतिथि ही रहता है।

वृद्धितिथि में व्रतविधान करने की शास्त्राज्ञा निम्न प्रकार है—

तिथिवृद्धिर्यत्र पक्षे तस्यामुक्तं व्रतं हि यत्।
तत्पूर्वस्यां तिथौ कुर्यादुत्तरस्यां तिथौ नहि॥

—व्रतनिर्णय

अर्थ—जिस पक्ष में तिथि की वृद्धि हो और उस तिथि में जो व्रत कहा हो उसे पहली तिथि में करना चाहिए, अगली में नहीं।

युक्ति से विचार करने से भी प्रथम तिथि ही ठीक यों बैठती है कि ५४ घड़ियों से अधिक की पूर्ण तिथि प्रथम दिन में ही रहती है।[1]

---

१. जैनी जियालाल जी के पंचांग में एक अलग खाना जैन तिथियों का रहता है। उसकी जैनतिथियाँ ठीक विधि से निकली हुई रहती हैं। किन्तु दो तिथियों में वहाँ दूसरी तिथि मानी जाती है यह ठीक नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षय तिथि पूर्व दिन में शामिल की जाती है क्योंकि उसका बहु भाग उसी दिन रहता है। इसलिए व्रत भी उसका उसी दिन करना चाहिए यह स्पष्ट है अतः शास्त्र प्रमाण देने की जरूरत नहीं है।

दो मास हों तो कौन सा मानना इसके लिए आगमप्रमाण यों है—

संवत्सरे यदि भवेन्मासो वै चाधिकस्तदा।
पूर्वस्मिन् न व्रतं कार्यमपरस्मिन् कृतं शुभम् ॥

—व्रततिथि निर्णय

अर्थ—यदि वर्ष में अधिक मास हो तो पहले में व्रत न करके दूसरे मास में करना शुभ है।

दश लक्षणिकादि व्रत दूसरे भादवे में करने चाहिये। तिथि पहली और मास दूसरा मानना यह जैन आम्नाय है। ढाई वर्ष में एक मास बढ़ा करता है। तिथियों के कारण पैदा हुई कमी मास बढ़ाकर पूर्ण की जाती है। दूसरा मास ही पूर्णता के नजदीक रहता है इसलिए व्रतादि के लिए दूसरा मास मानना युक्ति से भी ठीक है।[1]

व्रत दो प्रकार के होते हैं—तिथि प्रधान और दिन प्रधान। जिन व्रतों में आदि अंत की कोई ख़ास तिथि नियत रहती है वे तिथि प्रधान व्रत कहलाते हैं। जैसे दशलाक्षणिक, पंचमेरु, लब्धिविधान, षोडश कारण, नंदीश्वर आदि। और जिनमें दिन संख्या की प्रधानता रहती है वे दिन

उसीके आधार पर बना तिथिदर्पण हर वर्ष 'दिगम्बर जैन' और 'जैनमित्र' के ग्राहकों को भेंट दिया जाता है। उसमें भी तिथि की वृद्धि होने पर दूसरी तिथि ही तथा क्षय होने पर आगे की तिथि ही मानी जाने का उल्लेख रहता है। उसके संपादक जी को चाहिए कि यह गल्ती सुधार लें या अपने मन्तव्य की पुष्टि में आगम प्रमाण पेश करें।

१. विद्वज्जन बोधक के चतुर्थ खंड में भी तिथि पहली और मास दूसरा मानना जैनों में अनादि की रीति लिखी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधान व्रत कहलाते हैं। जैसे सिंहनिष्क्रीड़ित, सर्वतोभद्र, कनकावली आदि। इन व्रतों में किसी तिथि का बंधन नहीं है जब कभी भी शुरू किये जा सकते हैं। और दिनों की संख्या से धारणे पारणें इनमें हुआ करते हैं। तिथि प्रधान व्रतों में किसी व्रत का प्रारम्भ खास नियत तिथि में हुआ करता है पर जब व्रत के दिनों में कोई क्षयतिथि आ जाती है तो एक दूसरा अपवाद नियम भी है और वह इस प्रकार हैं।

यावत्सु वासरेषूच्चैर्यद् व्रतं च प्ररूपितम्।
तिथिक्षयश्चेदत्रास्ति तत्र पूर्वं दिनं भजेत्॥

—व्रतनिर्णय

अर्थ—जितने दिनों का जो व्रत कहा है इसमें यदि तिथि का क्षय हो तो उसे पूर्वदिन ग्रहण करना चाहिये।

उदाहरण के लिये जैसे दशलक्षण व्रत के दिनों में एकादशी आदि कोई तिथि क्षय हो जावे तो उसे पंचमी के पूर्व चतुर्थी से शुरू किया जावे और यही वर्तमान में किया भी जाता है। यह नियम सोलहकारणव्रत के लिये भी लागू होना चाहिये। किंतु कुछ महाशय इसे मासिक व्रत बतलाकर इस नियम से उसे बाहर रखना चाहते हैं। हमारी समझ से यह अनुचित है। जिस प्रकार दशलाक्षणिकादि व्रतों की आदि अंत की तिथि नियत है उसी तरह इसकी भी नियत है तब वह उक्त अपवाद नियम से कैसे बच सकता है। यह दूसरी बात है कि सोलहकारणव्रत की आदि अन्त की तिथि के भीतर मास भर भाद्रपद का आ गया है इससे यह नहीं कहा जा सकता कि तिथिक्षय होने पर भी वह भाद्रपद के पूर्व दिन में प्रारम्भ नहीं किया जाता। मतलब यह है कि जैसे दूसरे व्रतों की प्रारम्भिक तिथि नियत होने पर भी तिथिक्षय होने पर वे पूर्व दिन से शुरू किये जाते हैं उसी तरह सोलहकारणव्रत पूरे भाद्रपद मास में नियत रहने पर भी वह तिथिक्षय होने पर श्रावण शुक्ला १५ को शुरू किया जाना चाहिये यही ठीक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ जैसे क्षयतिथि में पूर्वदिन शुरू करके दिन बढ़ा लिया गया है उसी तरह यह न समझ लेना चाहिये कि इन व्रतों में कहीं वृद्धितिथि हो जावे तो इन्हें इनकी नियत तिथि से अगले दिन शुरू कर दिन घटा लिया जावे। शास्त्रकारों की आज्ञा वृद्धितिथि में दिन घटाने की नहीं है। 'अधिकस्याधिकं फलं' कहकर उन्होंने तिथिवृद्धि में बढ़ता हुआ दिन रखना ही प्रायः प्रतिपादन किया है[1]।

---

१. ज्योतिष व्यवहार कालः—

६० पल (२४ मिनट) = १ घड़ी।

२ घड़ी (४८ मिनट) = १ मुहूर्त्त।

२॥ घड़ी (६० मिनट) = १ घंटा।

७॥ घड़ी (३ घंटा) = १ पहर।

६० घड़ी (८ पहर या २४ घंटा) = १ अहोरात्र (दिनरात)।

नोटः—दिगम्बर आम्नाय में उदयात् छह घड़ी की मान्यता है।

श्वेतांबर ,, ,, ,, ,, एक घड़ी ,, ,, ,, ,,

वैदिक ,, ,, ,, ,, मात्र उदयात् ,, ,, ,,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'व्रततिथि निर्णय' ग्रन्थ का निरीक्षण

यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन, विवेचन और अनुवाद श्री नेमिचन्द्र जी शास्त्री, आरा निवासी ने किया है। अनेक सिंहनन्दियों में से प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता १८वीं सदी में होनेवाले कोई सिंहनन्दि नाम के भट्टारक हैं। सम्पादक जी ने इनका समय १७वीं सदी लिखा है वह ठीक नहीं है चूँकि इस ग्रन्थ के पृ० २२२ में ग्रन्थकार ने दामोदर, देवेन्द्रकीर्ति और हेमकीर्ति को अपने समय में होना बताया है। दामोदर ने चंद्रप्रभ-चरित की रचना सं० १७२७ में की है। और देवेन्द्रकीर्ति और हेमकीर्ति का भी यही समय है। (देखो भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ८३–१२२) अतः इन सिंहनन्दि का समय १८वीं सदी का दूसरा, तीसरा चरण से पहिले नहीं हो सकता है। एक सिंहनन्दि वे हैं जिन्होंने 'पंचनमस्कारदीपिका' नामक ग्रन्थ संवत् १६६७ में बनाया है जिनका उल्लेख इसी ग्रन्थ के पृ० १३२ पर हुआ है वे इनसे जुदे और पूर्व के हैं। एक और सिंहनन्दि १६वीं सदी में भी हुए हैं जिनका उल्लेख श्रुतसागर ने किया है। प्रस्तावना पृ० ११ में सम्पादक जी ने इसका प्रभाव जमाने के लिये झूठ-मूठ ही इसे प्राचीन बता दिया है। ग्रन्थ की समाप्ति में सिंहनन्दि का नाम ग्रन्थ के कर्त्ता के रूप में स्पष्ट लिख रखा है ऐसी हालत में ग्रन्थ को संकलित कहकर ग्रन्थ-कर्त्ता को अनिर्णीत लिख देना कुछ मतलब नहीं रखता है जब कि आपने स्वयं ही ग्रन्थ की विवेचना करते हुये कई जगह सिंहनन्दि का नामोल्लेख कर्त्तारूप से किया है। देखो पृ० १०६, १३२, ९९, १४५, २६६।

यद्यपि मूलग्रन्थ छोटा-सा बीस, तीस पेजों में लिखा जा सके जितना ही है, किन्तु ग्रन्थ का कलेवर २८० पृष्ठों में बढ़ा दिया है। तिस पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी कहीं-कहीं मूल ग्रन्थ के पद्यों और गद्यों के संशोधन की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया गया है। उन्हें यों ही जैसे मिले वैसे ही प्रकाशित कर दिये हैं। अशुद्धि के कारण अर्थ ठीक तौर से न बैठ सका तो उसका भी कुछ खयाल नहीं किया गया है। यहाँ तक कि अशुद्धि के कारण छन्द भंग हो रहा है तो उस पर भी दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। उदाहरण के तौर पर देखिये—

(१) "विविधातिथिसमायते....." पृ० ७९ (२) "व्रते वटोपमागत्यं...." पृ० ८० (३) "ये गृह्णंति सूर्योदयं शुभदिनमसद्दृष्टिपूर्वा नराः। तेषां कार्यमनेकधा व्रतविधिमार्गमेवेति च ॥" पृ० ८६। ये सब पाठ छपी हुई प्रति के हैं और अशुद्ध हैं। अशुद्ध होने के कारण ही इनका अर्थ भी ऊटपटांग ही किया गया है। ऐसी अशुद्धियाँ ग्रन्थ में अन्यत्र भी यत्र-तत्र पाई जाती हैं। उक्त अशुद्ध पाठों के स्थान में शुद्ध पाठ क्रमशः निम्न प्रकार जानने चाहिये—

(१) "वेधातिथिसमायाते।
(२) "व्रते वटोऽथ मांगल्ये।"
(३) "ये गृह्णंति सदोदयं शुभदिनेऽसद्दृष्टिपूर्वा नराः।"
तेषां कार्यमनेकधाव्रतविधिर्मांगल्यतामेति न।"

भट्टारकी साहित्य की जैसी रूपरेखा हुआ करती है वही इसकी भी है। पृ–१९० पर मुकुटसप्तमीव्रत का कथन करते हुये लिखा है कि—

"आदिनाथस्य वा पार्श्वनाथस्य मुनिसुव्रतस्य च पूजां विधाय कंठे मालारोपः।" इसका अर्थ अनुवादकजी ने यों किया है–"आदिनाथ या पार्श्वनाथ और मुनिसुव्रत का पूजन कर जयमाला को भगवान का आशीर्वाद समझ कर गले में धारण करना चाहिये।" यहाँ व्रत करने वाला भगवान की पूजा करने के अनन्तर माला को अपने गले में पहिने ऐसा अर्थ दर्शाकर अनुवादक ने मूल ग्रन्थकार को आक्षेप से बचाने की कोशिश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है किंतु ग्रन्थकार आगें पृ० १३१ पर इसी मुकुटसप्तमीव्रत का फिर कथन करते हैं, वहाँ स्पष्टतौर पर वीतराग-भगवान के गले में माला और मस्तक पर मुकुट पहिनाने का विधान करते हैं। कुछ लोग ऐसी अयुक्त बातों की भी संगति वीतराग-देव के साथ लगाने के लिये अपनी विलक्षण प्रतिभा दिखाते हुये कहते हैं कि "अष्टप्रातिहार्यों में भगवान पर पुष्पवृष्टि होना बताया है वे पुष्प भी तो भगवान के गले मस्तक पर गिरते हैं तो फूलों की मुकुटमाला किसी व्रतविशेष में भगवान को पहिनाना बता दिया तो इसमें क्या अनुचित बता दिया ?" ऐसा कहने वालों की अक्ल को अजीर्ण हो गया है, उन्हें समझ लेना चाहिये कि भगवान पर पुष्पवृष्टि उनके गले मस्तक पर नहीं गिरती है, क्योंकि मस्तक पर छत्र-त्रय लगे रहते हैं। अतः पुष्पवृष्टि भगवान के आगे सामने होती है, जैसा कि आदि पुराण पर्व २३ श्लोक ३५ में कहा गया है।

इस व्रततिथिनिर्णय ग्रन्थ में और भी कितना ही कथन आपत्ति के योग्य है जिसे लेख विस्तार के भय से छोड़ा जाता है। मूल ग्रन्थकार ने विषय को ऐसे ढंग से चर्चा है कि उससे पाठकों को किसी निश्चितमत का पता ही नहीं लगता है कि वे खास बात क्या मानें और क्या न मानें। इसी प्रवाह में अनुवादकजी भी वह गये हैं वे भी कहीं क्या लिखते और कहीं क्या। उदाहरण के तौर पर देखिये—

पृ० १०७ पर मुनिसुव्रतपुराण का एक पद्य देकर षष्ठांशरूप में उदयतिथि के मानने को कहा गया है। जिसका अर्थ अनुवादक ने "दश घड़ी करीब की उदयतिथि से कमतिथि न मानी जावे" किया है। जब कि इसके पहिले ६ घड़ी की उदयतिथि मानने को कहा गया है फिर यहाँ १० घड़ी का कथन क्यों किया गया ? यह कुछ समझ में नहीं आता है। ग्रन्थकार ने इसे मतांतर भी नहीं बताया हैं और न इसका विरोध ही किया है। ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने षष्ठांश का अर्थ यहाँ छह घड़ी समझा हो। इसी प्रकार पृ० ८९ में छह से बारह घड़ी तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की उदयतिथि के मानने को कहा है। और पृ० १३० में छह घड़ी से कम उदयतिथि को ग्रहण करना भी लिख दिया है। तथा पृ० १२२ में ६ घड़ी प्रमाण उदयतिथि को भी अमान्य बता दिया। एवं पृ० ९२, ९३ में किसी व्रत के दिनों में तिथिक्षय होने पर उसे प्रारम्भ से पूर्व दिन में करने का विधान कर व्रत के दिनों में कमी न की जाये ऐसा कहा गया है। यही बात पृ० १२८ में 'दशलक्षणव्रत कभी भी ९ दिन नहीं किया जाता है' इन शब्दों में कह कर भी इसी के विरुद्ध पृ० १३० में लिखा है कि—"अन्तिमतिथि के क्षय होने पर दशलक्षण व्रत ९ दिन तथा अष्टान्हिका व्रत ७ दिन तक ही करने चाहिये, एक दिन पहले से व्रत करने लग जाना ठीक नहीं है।" फिर आगे पृ० १४३, १४४ में वही पृ० ९२ वाला कथन किया है कि—"यदि आदि मध्य और अन्त में तिथिहानि हो तो एक दिन पहले से व्रत का प्रारम्भ किया जावे।': इसी तरह रत्नत्रयव्रत में दिनहानि होने पर पृ० १९५ और ९३ में एक दिन पूर्व व्रत करने का विधान करके पृ० २२६ में इसके विरुद्ध कहा गया है। पृ० ८९ में दैवसिकव्रतों के लिए उदय तिथि ६ घड़ी की और नैशिकव्रतों के लिये अस्ततिथि मानने का कथन करके पृ० १४७ में इसके विरुद्ध लिखा है कि—

"दैवसिक व नैशिक दोनों ही प्रकार के व्रतों के लिये छह घड़ी की उदय तिथि ग्राह्य है।" इस प्रकार इस ग्रन्थ में कई जगह पूर्वापर विरुद्ध कथन किया हुआ मिलता है जिससे पाठक किसी खास निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं।

कहीं-कहीं तो अनुवादक ने मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को ठीक न समझने के कारण भी अंटसंट विवेचना की है। जैसा कि पृ० १४६ में किया गया है। वहाँ टीका में लिखा है कि—

"यथापूर्वमुदयकालव्यापिनी तिथि गृहीता चकारात्.....तथैवात्रापि अवधेयं।" इसका ठीक अर्थ तो यों होता है कि—"जैसे पहिले (यहाँ पूर्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द से ग्रन्थकार का संकेत पृ० ८८ के कथन से है) उदय तिथि और चकार से अस्ततिथि के ग्रहण का कथन किया है वही यहाँ भी समझना चाहिये।" किन्तु अनुवादक जी इसका तात्पर्य यों लिखते हैं कि—

"सूर्योदय के पूर्व तीन मुहूर्त रहने वाली तिथि भी नैशिकव्रतों के लिये ग्राह्य है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुवादक जी के इस तात्पर्य का समर्थन ग्रन्थ भर के किसी भी स्थल से नहीं होता है।

संपादक जी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में भगवान के जन्म-मोक्ष आदि कल्याणकों की तिथियों को नक्षत्र के अनुसार मानने के लिये जोर दिया है और इसके लिये वीरजयन्ती की तिथि में छह घड़ी से कम की उदय तिथि के मानने की भी स्वीकृति दे दी है। यह सब लिखना हम तो संपादक जी की खुद ही की कल्पना समझते हैं। क्योंकि इन्द्रनंदि ने नीतिसार में स्पष्ट लिखा है कि—

जिनजन्मादिकाः सर्वाः क्रिया मासतिथिप्रमाः।
नक्षत्रयोगकरणं तु न प्रधानं यतश्चलम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जिस मासतिथि में भगवान के जन्मादि हुए हैं उसी मासतिथि में जन्मादि कल्याणकों की क्रियायें करनी चाहिये। उनके लिये नक्षत्र का योग मिलाना प्रधान नहीं है क्योंकि वह अस्थिर है यानी कथित मासतिथि के साथ सदा ही कथित नक्षत्र का मेल नहीं बैठता है।

इस ग्रन्थ के पृ० ८८ पर ग्रन्थकर्त्ता का ११वाँ श्लोक मय व्याख्या के पाया जाता है। यहाँ पर जो व्याख्या की गई है वह ऐसी अजीब है कि जिसका तात्पर्य ही समझ में नहीं आता है। न अनुवादक जी ने ही उसका खुलासा किया है। इस तरह के स्थल, ग्रन्थ में अन्यत्र भी हैं। यहाँ लिखा है कि—उदय तिथि दैवसिक व्रतों के लिये और अस्ततिथि नैशिकव्रतों के लिये मानी जाती है।" इस प्रकार का कथन भी भट्टारक जी सिंहनंदि की अपनी खुद की सूझ को ही सूचित करती है। क्योंकि जिस श्लोक के आधार पर ऐसा कहा गया है वह श्लोक ही दर असल पं० आशा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धरजी का है जो अनगारधर्मामृत के ९वें अध्याय में ५१वें नम्बर पर पाया जाता है। जिसे कुछ रद्दो-बदल करके सिंहनंदि जी ने अपना बना लिया है। इसी तरह इन्द्रनन्दि के नीतिसार का श्लोक नं० १०४ को भी इसमें पृ० १२७ पर कुछ पाठ-भेद करके अपना बना लिया है जिसका नं० १९ दिया हुआ है, जिसे अनुवादक जी ने पृ० १३२ पर जोर देकर सिंहनन्दिकृत होना घोषित किया है। अनगार धर्मामृत में उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए आशाधरजी ने तो यह कहीं नहीं लिखा है, कि अस्ततिथि नैशिकव्रतों के लिये मानी जाती है। तिथिक्रम का विचार करने से भी यही सिद्ध होता है कि हर व्रत के लिये छह घड़ी उदय तिथि अथवा अस्ततिथि मानना अति जरूरी है, दोनों के माने बिना निर्वाह ही नहीं हो सकता है। व्रतों के साथ नैशिक नामकरण भी विलक्षण ही है। इसे भट्टारकजी की मनगढ़न्त के सिवा और क्या कहा जावे ?

इस ग्रन्थ के पृ० १८१ पर ग्रन्थकर्त्ता ने तिथि का प्रमाण कम से कम ५४ घड़ी और अधिक ६७ घड़ी का लिखा है। इस विषय में हमने ज्योतिष के विशेषज्ञों से दरयाफ्त किया तो उन्होंने कहा कि सूक्ष्म गणित के हिसाब से कम से कम तिथि ५० घड़ी की और अधिक से अधिक ६७ घड़ी की हो सकती है किन्तु ग्रहलाघव मकरन्द आदि प्रसिद्ध ज्योतिष के ग्रन्थों में "बाणवृद्धिरसक्षयः" इस मुख्य सिद्धान्त से अहोरात्र ६० घड़ी में ५ की वृद्धि और ६ का क्षय अर्थात् कम से कम तिथि ५४ घड़ी की और अधिक ६५ घड़ी की तिथि होना बताया है और इसी आधार पर पंचांगों का अधिक प्रचार है। हमने भी वृद्ध पंडितों के मुख से ऐसा ही सुना है और जैन समाज में जिन पंचांगों का प्रचार है, उनमें भी तिथि का दण्डात्मक मान कम से कम ५४ घड़ी और अधिक से अधिक ६५ से ऊपर व ६६ से कमका ही बैठता है यही बात पं० भूधरदास जी ने भी 'चर्चासमाधान' ग्रन्थ में चर्चा नं० ११८ में कही है। यथा—

'तिथि का प्रमाण चौवन घड़ी सूँ लेय पैंसठ घड़ी ताई होई, तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ घाटि छासठ घड़ी होइ पूरी छासठ न होइ। तहाँ जो पहिले दिन साठ घड़ी और अगले दिन पाँच घड़ी होइ तो पहिले दिन उपवास आरंभ कीजे। ईहाँ कोई कहे—अगले दिन छह घड़ी होइ तब क्या करे? तिसका उत्तर–पैंसठ घड़ी सों तिथि का प्रमाण बढ़ती होइ नाहीं यातैं अगले दिन में छह घड़ी कहाँ से आवे जो पहिले दिन साठ घड़ी सों कोई तिथि घटती होइ तो अगले दिन उदय काल में छह घड़ी पाइये सो तिथि उपवास कों योग्य है यातै तीन मुहूर्त की उदय तिथि जैन में लीन कही है। आशावर कृत यत्याचार में कही है।"

सिंहनन्दि ने तिथि का अधिक मान ६७ घड़ी का लिखा वह सूक्ष्म गणित की अपेक्षा ठीक कहा जा सकता है किन्तु जब सूक्ष्म गणित ही से तिथि मान बताना था तो कम से कम तिथि का मान भी सिंहनन्दि को ५० घड़ी का ही बताना चाहिये था, न कि ५४ घड़ी का। इसमें भी एक रहस्य है–ग्रन्थकार यह समझ रहा था कि तिथि का मान ६७ घड़ी माने बिना दो तिथि कैसे हो सकेगी। इस लिये उनने तिथि का अल्प मान तो प्रचलित व्यवहार से बता दिया और अधिक मान सूक्ष्म गणित से बता दिया जिसका कि खासतौर से कोई प्रचार नहीं है। किन्तु ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी। दो तिथि तो एक अस्त और ६ घड़ी उदय तिथि मिलकर भी हो सकती है जैसे मंगलवार को सप्तमी उदय में ५ घड़ी होने से मंगल को सप्तमी न मानकर इस दिन ५ घड़ी बाद आने वाली अष्टमी मानी जावेगी और यही अष्टमी अगले दिन बुधवार की उदय में ६ घड़ी या इससे अधिक होगी तो बुधवार को भी अष्टमी मानी जायेगी इस तरह दो तिथि हो सकती हैं। दो तिथि होने की यह विधि न मानी जावेगी तो "व्रत तिथि निर्णय" ग्रन्थ में दस व बारह घड़ी की उदय तिथि मानने के मतान्तर दिये हैं जो कि कर्णाटक आदि प्रान्तों में माने जाते हैं। उनके यहाँ दो तिथि कैसे होगी? तिथि का मान ७० या ७२ घड़ी का तो हो ही नहीं सकता। "उनके यहाँ दो तिथि होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही नहीं" ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है। लेखवृद्धि के भय से अभी हम और अधिक लिखना नहीं चाहते हैं। अन्त में हमारा इस ग्रन्थ के सम्पादक महोदय ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचन्द्र जी साहब शास्त्री से सविनय निवेदन है कि वे इस पर ठण्डे दिल से गम्भीरता के साथ विचार कर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्तामर स्तोत्र

स्तोत्र-पाठ साधु और श्रावक दोनों के लिये जिनपूजा का एक प्रशस्त प्रकार है।

भक्तामर स्तोत्र दि० श्वे० दोनों संप्रदायों में काफी लोकप्रिय है इसकी महत्ता इसी से आँकी जा सकती है कि—तत्त्वार्थ सूत्र के साथ में इसका भी जैन लोग प्रति दिन पाठ करते हैं।

इस स्तोत्र के प्रारम्भ में 'भक्तामर' शब्द होने से इसका नाम "भक्तामर स्तोत्र" प्रसिद्ध हो गया है वैसे यह आदिनाथ (ऋषभ) स्तोत्र भी कहलाता है जैसा कि इसके श्लोक १ में प्रयुक्त "युगादौ" श्लोक २ में प्रयुक्त "प्रथमं जिनेन्द्रं" तथा श्लोक २४ में प्रयुक्त "आद्यं" वाक्यों से सूचित होता है।

इस स्तोत्र पर अनेक संस्कृत टीकाएँ पायी जाती हैं एवं हिन्दी आदि लोक भाषाओं में भी विविध गद्य पद्यानुवाद उपलब्ध हैं इससे यह काफी प्रसिद्ध और प्राचीन स्तोत्र जान पड़ता है। इस स्तोत्र पर नीचे कुछ विचार किया जाता है :—

१—श्लोक ४२ में "बलवतामपि भूपतीनां" पाठ प्रचलित है जिससे इस श्लोक का अर्थ यह होता है कि—"युद्ध में बलवान् राजाओं की भी सेना आप के स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है।" इस पर स्वभावतः यह शंका होती है कि—बलवान् राजा तो स्वपक्ष में और स्वयं भी हो सकते हैं फिर स्तुतिकार उनका विनाश कैसे चाहेगा ? इसका समाधान हमारे पास के वि० सं० १५६३ के बसवा ग्राम के एक गुटके से होता है उसमें "बलवतामरिभूपतीनां" शुद्ध पाठ पाया गया है[1] जिससे श्लो-

१. यही शुद्ध पाठ दौसा ग्राम के एक गुटके में भी हमने देखा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्थ इस प्रकार होता है कि—"युद्ध में वलवान् शत्रु राजाओं की सेना आप के स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है।" 'अपि' की जगह 'अरि' शुद्ध पाठ होने से श्लोक कितना सुसंगत और निर्दोष हो गया है यह वताने की विशेष जरूरत नहीं है। विज्ञ पाठक इसकी खूबी का स्वयं अनुभव कर सकते हैं फिर भी एक वात मैं यहाँ और वता देना चाहता हूँ कि—प्राकृत में २३ गाथात्मक एक "भयहर स्तोत्र" पाया जाता है जो श्वेताम्वरों के यहाँ से "जैन स्तोत्र संदोह" द्वितीय भाग में प्रकाशित हुआ है। यह स्तोत्र भी मानतुंग की ही कृति वतलाया जाता है क्योंकि 'भक्तामर स्तोत्र' की तरह इसके भी अंतिम श्लोक में (श्लेषात्मक) मानतुंग शब्द पाया जाता है। भक्तामर स्तोत्र में जिस तरह ८ भयों का वर्णन है उसी तरह 'भयहर स्तोत्र' में भी है। इसकी गाथा १७ में 'रण' भय के अन्तर्गत रिउणरिन्द (रिपुनरेन्द्र) शब्द पाये जाते हैं उनसे भक्तामर स्तोत्र के 'अरिभूपतीनां' शुद्ध पाठ का अच्छा समर्थन होता है।

२—श्लोक ३५—'स्वर्गापवर्गगममार्ग' में 'गम' की जगह धुआँ ग्राम के एक प्राचीन गुटके में 'यम' पाठ पाया जाता है 'यम' का अर्थ द्वय = दो होता है[1] जिससे श्लोक का अर्थ "स्वर्ग और मोक्ष दोनों मार्ग" रूप संगत हो जाता है। किन्तु 'यम' की वजाय भी प्रचलित 'गम' पाठ ज्यादा वजनदार है क्योंकि 'गम' में एक तो 'ग' का शब्दालंकार वन जाता है दूसरा 'गम' के जो गमन; प्रवेश, प्राप्ति अर्थ होते हैं वे यहाँ विशेष सुसंगत हैं जिनसे यह भी फलित होता है कि "स्वर्ग-मोक्ष में जाने का मार्ग" ही कवि ने वताया है 'गम' शब्द रख कर आने के मार्ग का निषेध किया है। ठीक यही बात 'गम' शब्द की जगह 'पुर' (प्रवेशार्थक)

---

१. देखो धनंजय नाममाला—
द्वयं द्वितयमुभयं यमलं युगलं युगम्।
युग्मं द्वन्द्वं यमं द्वैतं पादयोः पातु जैनयोः ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द रख कर यशस्तिलक चंपू में इस प्रकार व्यक्त की हैं :—(ज्ञानपीठ काशी के 'उपासकाध्ययन' में श्लोक नं० ४९९)

मिथ्यातमःपटलभेदनकारणाय, स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिवोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमनाः प्रणमामि नित्यं, त्रैलोक्यमंगलकराय जिनागमाय ॥

—ज्ञानभक्तिः

३—श्लोक ६ में "तच्चारुचाम्रकलिका" पाठ प्रचलित है यह पाठ मूल ग्रन्थकार कृत नहीं है । प्राचीन प्रतियों में "तच्चारुचूतकलिका" पाठ ही पाया जाता है । प्राणप्रिय काव्य जिसमें भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक श्लोकका का अन्तिम चरण समस्या पूर्त्ति के रूप में ग्रहण किया है उसमें भी "तच्चारुचूतकलिका" पाठ ही उपलब्ध होता है अतः यही पाठ मूल-ग्रन्थकार कृत ज्ञात होता है लेकिन इसमें 'चूत' शब्द को अश्लील समझ कर उसकी जगह 'चाम्र' पाठ का परिवर्त्तन कर दिया यह परिवर्त्तन भी ३००,४०० वर्ष प्राचीन प्रतियोंमें पाया जाता है किन्तु 'चाम्र' में जो 'च' है वह समासादि की दृष्टि से सदोष है अतः आज के युग में उसे भी संशोधित कर 'तच्चाम्रचारुकलिका' पाठ बना दिया गया है इसमें 'चाम्र' को पहिले रख दिया है और 'चारु' को बाद में । इससे समास सम्बन्धी दोष तो दूर हो गया है किन्तु इसमें भी 'च' शब्द व्यर्थ रह गया है ।

मूल स्तोत्रकार ने 'चूत' शब्द का प्रयोग 'आम्र' अर्थ में किया है किसी अश्लील अर्थ में नहीं अतः किसी प्रान्तीय अर्थ को लेकर किसी शब्द विशेषमें अश्लीलता का आरोप समुचित नहीं ।

४—श्लोक ४८ में "तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः" पद का साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जी आदि ने इस प्रकार अर्थ दिया है : "उस

देखो—अमरकोष :—आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभः । ये आम के पर्यायवाची नाम हैं जिनमें 'चूत' भी एक नाम है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानतुंग को लक्ष्मी (स्वर्ग मोक्ष विभूति) 'अवशा' सती—स्वतन्त्र होती हुई प्राप्त होती है।"

पर यह शब्दार्थ ठीक प्रतीत नहीं होता सीधा-सादा अर्थ इस प्रकार है :—उस मानतुंग को अवशालक्ष्मी = स्वातन्त्र्यमोक्षलक्ष्मी (मुक्तिरमा) प्राप्त होती हैं। यहाँ 'अवशा' शब्द लक्ष्मी का विशेषण है अतः ऊपर से 'सती' पद जोड़ना व्यर्थ है।

५—अब मैं विविध प्राचीन प्रतियों से संचित कुछ महत्त्वपूर्ण पाठान्तर नीचे प्रस्तुत करता हूँ, इन पाठों में कौन पाठ वस्तुतः मूल ग्रन्थकार कृत हैं इसका निर्णय गवेषक विद्वान् करें :—

श्लोक नं०	चरण नं०	प्रचलित पाठ	पाठान्तर
३	ए	पीठ (सम्बोधन)	पीठं (कर्म)
५	सी	मृगो	मृगी
८	बी	प्रभावात्	प्रसादात्
१६	ए	रपवर्जित	रपि वर्जित
२०	सी	तेजःस्फुरन्मणिषु	तेजो महामणिषु
२०	डी	नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि	काचोद्भवेषु न तथैव विकासकत्वं
२३	ए	पुमांस–	पवित्र–
२६ सी, ३१ डी		त्रिजगतः	त्रिजगती (समास)
२७	ए	को विस्मयोऽत्र	चित्रं किमत्र
२७	सी	विविध	विबुध
३२	बी	शुभ	शिव, सुख
३२	बी	भूति	भूरि (अत्यन्त)
३३	सी	प्रपाता	प्रयाता
३३	डी	वचसां (प्राणप्रिय काव्य में भी)	वयसां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३५	डी	गुणैः प्रयोज्यः	गुणप्रयोज्यः (प्राणप्रिय काव्य में भी)
३९	सी	क्रमगतं	क्रतगतान् (वहुवचन)
३९	डी	चलसंश्रितं ते	चलसंश्रितान्स्ते ,,
४१	डी	नागदमनी (स्त्रीलिंग)	नागदमनो (पुल्लिग)
४४	ए	चक्र	चक्रे
४४	डी	भवतः स्मरणाद्	तव संस्मरणाद्
४५	डी	मर्त्याः	सद्यो
४६	सी	स्मरन्तः	स्मरंति
४६	डी	सद्यः	नाथ (सम्बोधन)
४७	सी	तस्याशुनाश	तस्य प्रणाश
४७	डी	यस्तावकं	यस्तेऽनिशं
४८	वी	विविध	रुचिर

६—इस स्तोत्र के कर्त्ता मानतुंग कविको कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों ने हर्षवर्धन के समकालीन वताया है। सम्राट् हर्ष का समय ७वीं शती है इसीलिये पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने भी महापुराण-प्रस्तावना पृ० २२ में आचार्य मानतुंग को ७वीं शताब्दी का लिखा है अगर यह ठीक है तो आदिपुराण पर्व ७ श्लोक २९३ से ३११ का जो वर्णन भक्तामरस्तोत्र से मिलता हुआ है वह आचार्य जिनसेन ने सम्भव है भक्तामरस्तोत्र से लिया हो।

७—श्वे० सम्प्रदाय भक्तामर के ३२ से ३५ तक के चार श्लोक नहीं मानता है कुल ४४ श्लोक ही मानता है इससे चार प्रातिहार्यों का वर्णन छूट जाता है जब कि श्वे० सम्प्रदाय में भी पूरे ८ प्रातिहार्य माने हैं। कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भी 'भक्तामर' की तरह पूरे ८ प्रातिहार्यों का वर्णन है और उसे श्वे० सम्प्रदाय भी अविकल रूपसे मानता है तब फिर भक्तामरस्तोत्र के उक्त चार श्लोकों को श्वे० सम्प्रदाय क्यों नहीं मानता?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शायद यह कहा जाता है कि कल्याणमन्दिर में ४४ श्लोक हैं अतः भक्तामर में भी ४४ ही होने चाहिए, अगर यह कहा जाता है तो यह अजीब तुक है। ऐसी तुक मिलाने वालों को चाहिये कि—जिस तरह कल्याणमन्दिर में ८ प्रातिहार्यों का वर्णन है उसी तरह भक्तामर में भी ८ प्रातिहार्य के वर्णन वाले पूरे श्लोक मानें, व्यर्थ के श्लोक संख्या साम्य में पड़कर ४ प्रातिहार्यों को न छोड़ें।

श्वे० स्थानकवासी कविवर मुनि अमरचन्दजी ने पूरे ४८ श्लोक मानकर ही भक्तामर का हिन्दी पद्यानुवाद किया है दूसरे भी श्वे० विद्वानों को इसका अनुसरण करना चाहिए।

८—भक्तामर स्तोत्र के ४८ श्लोक के अतिरिक्त ४ श्लोक और भी मिलते हैं देखो अनेकान्त वर्ष २ किरण १—

नातः परः परमवचोभिधेयो,
लोकत्रयेऽपि सकलार्थविदस्ति सार्वः।
उच्चैरितीव भवतः परिघोषयन्त-
स्तेदुर्गभीरसुरदुन्दुभयः सभायाम् ॥ १ ॥

वृष्टिर्दिवः सुमनसां परितः पपात,
प्रीतिप्रदा सुमनसां च मधुव्रतानाम्।
राजीवसा सुमनसा सुकुमारसारा,
सामोदसम्पदमदाज्जिन ते सुदृश्यः ॥ २ ॥

पूष्मामनुष्य सहसामपि कोटिसंख्या-
भाजां प्रभाः प्रसरमन्वहया वहन्ति।
अन्तस्तमःपटलभेदमशक्तिहीनं,
जैनी तनुद्युतिरशेषतमोऽपि हन्ति ॥ ३ ॥

देव त्वदीयसकलामलकेवलाय,
बोधातिगाधनिरुपप्लवरत्नराशेः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घोषः स एव इति सज्जनतानुमेते,
गम्भीरभारभरितं तव दिव्यघोषः ॥ ४ ॥

किन्तु इन श्लोकों में भी प्रातिहार्यों का ही वर्णन होने से ये पुनरुक्त हैं और असंगत हैं। 'जैनमित्र' फाल्गुन सुदी ६ वीर सं० २४८६ के अंक में भी इन से भिन्न चार श्लोक छपे हैं। हमारे पास के १-२ गुटकों में भी ये ४ श्लोक हैं—

यः संस्तुवे गुणभृतां सुमनो विभाति,
यः तस्करां विलयतां बिबुधाः स्तुवन्ति।
आनंदकन्द हृदयाम्बुजकोशदेशे,
भव्या व्रजन्ति किल या मर देवताभिः ॥१॥
इत्थं जिनेश्वर सुकीतयतां जिनोति,
न्यायेन राजसुखवस्तुगुणा स्तुवन्ति।
प्रारम्भभार भवतो अपरापरां या,
सा साक्षणी शुभवशो प्रणमामि भक्त्या ॥२॥
नानाविधं प्रभुगुणं गुणरत्न गुण्या,
रामा रमंति सुरसुन्दर सौम्यमूर्तिः।
धर्मार्थकाम मुनयो गिरिहेमरत्नाः,
उध्यापदो प्रभुगुणं विभवं भवन्तु ॥३॥
कर्णो स्तुवेन नभवानभवत्यधीशः,
यस्य स्वयं सुरगुरु प्रणतोसि भक्त्या।
शर्मार्धनोक यशसा मुनिपद्मरंगा,
मायागतो जिनपतिः प्रथमो जिनेशः ॥४॥

पर ये भी मूल ग्रन्थकार कृत नहीं हैं क्योंकि भक्तामर स्तोत्र के पठन का फल बताकर स्तोत्र को वहीं समाप्त कर दिया है अतः ये अतिरिक्त श्लोक किसी ने बाद में बनाये हैं इनकी रचना भी ठीक नहीं है और अर्थ भी सुसंगत नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनके सिवा भी हमारे पास के १ गुटके में ४ श्लोक और पाये जाते हैं जिन्हें बीज काव्य[1] लिखा है इनकी भी स्थिति उपरोक्त ही है वे भी मूल स्तोत्रकार कृत नहीं हैं।

९—ग्रन्थ प्रकाशकों से निवेदन है कि वे छेदक नं० १ में सुझाये गये 'बलवतामरि' शुद्ध पाठक को अपनाने की कृपा करें। तथा छेदक नं० ४ में सुझाये गए शुद्ध शब्दार्थ को देने का कष्ट करें।

ग्रन्थों का शुद्ध प्रकाशन पाठकों के लिए ही लाभप्रद नहीं है किन्तु

बीजकं काव्यम् :—

ओं आदिनाथ अर्हन्सुकुलेवतंसः,
श्रीनाभिराज निजवंश शशिप्रतापः।
इक्ष्वाकुंवश रिपुमर्दन श्रीविभोगी,
शाखा कलापकलितो शिव शुद्धमार्गः ॥१॥

कष्ट प्रणाश दुरिताप समांवनाहि—
अंभोनिधौ दुखय तारक विघ्नहर्ता।
दुःखाविनारि भय भग्नति लोह कष्टं—
तालोर्द्धघाट भयभीत समुत्कलापाः ॥२॥

श्रीमानतुंग गुरुणा कृत बीज मंत्रः,
यात्रा स्तुतिः किरण पूज्य सुपादपीठः।
भक्तिभरो हृदयपूर विशाल गात्रा—
कौ धौ दिवाकर समां वनितांजनांह्रीं ॥३॥

त्वं विश्वनाथ पुरुषोत्तम वीतरागः—
त्वं जैन राग कथिता शिवशुद्धमार्गा।
त्वौच्चाट भंज नव पुःखल दुखटालान्—
त्वं मुक्तिरूप सुदया पर धर्मपालान् ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह ग्रन्थ और ग्रन्थकार एवं प्रकाशक के गौरव को भी अभिवृद्ध करने वाला है।

१०—भट्टारकादिकों ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मंत्रतंत्रादि और उनकी कथाओं के जाल से गूंथकर जटिल और सराग बना दिया है तथा इसके निर्माण के सम्बन्ध में प्रायः मनगढ़ंत कथायें रच डाली हैं। ये निर्माण-कथायें कितनी असंगत, परस्पर विरुद्ध, और अस्वाभाविक हैं यह विचारकों से छिपा नहीं है।

किसी कथा में मानतुंग को राजा भोज के समय में बताया है किसी में कालिदास के तो किसी में बाण, मयूर आदि के समय में बताया है जो परस्पर विरुद्ध है।

राजा ने कुपित होकर मानतुंग को ऐसे कारागृह में बन्द करवा दिया जिसमें ४८ कोठे थे और प्रत्येक कोठे के एक एक ताला था, ऐसा कथा में बताया है पर सोचने की बात है कि—एक वीतराग जैन साधु को जिसके पास कोई शस्त्रास्त्रादि नहीं कैसे कोई राजा ऐसा अद्भुत दंड दे सकता है? और फिर ऐसा विलक्षण कारागार भी संभव नहीं। सही बात तो यह है कि ४८ श्लोक होने से ४८ कोठे और ४८ तालों की बात गढ़ी गई है अगर कम ज्यादा श्लोक होते तो कोठों और तालों की संख्या भी कम ज्यादा हो जाती। श्वेतांबर ४४ श्लोक ही मानते हैं—अतः उन्होंने बन्धन भी ४४ ही बताये हैं। इस तरह इन कथाओं में और भी पद पद पर अनेकानेक बेतुकापन पाया जाता है जो थोड़े से विचार से ही पाठक समझ सकते हैं।

११—यह लेख लिखने का उत्साह मुझे माननीय श्री ए० एन० उपाध्ये के ३-१-५९ के उस पत्र से हुआ जिसमें उन्होंने मेरे द्वारा सुझाये गए 'भक्तामर' के "बलवतामरि" पाठको सुन्दर Really nice बताते हुए मुझे इस विषय में एक लेख लिखने की प्रेरणा की थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेरा पंथ और बीस पंथ

हम शादी में फाल्गुण कृष्णा ४ वि० सं० २०१४ को माधोराजपुरा गये थे। वहाँ तीन जैन मन्दिर हैं। वहाँ के शास्त्र भण्डारों का पं० दीपचन्द जी पांड्या और हमने अच्छी तरह अवलोकन किया। बाबू रतनलालजी पापड़ीवाल जो वहाँ के सेवाभावी कर्मठ सज्जन हैं उनका हमें पर्याप्त सहयोग रहा। दो मन्दिरों के शास्त्रों की तो अच्छी व्यवस्था और सुन्दर सूची बनी हुई थी पर एक अग्रवाल मन्दिर के शास्त्रों की कोई सूची नहीं थी। हमने उनकी सूची बनाई।[1] तीनों मन्दिरों में कुल मिलाकर २५० करीब हस्तलिखित ग्रन्थ हैं पर उनमें कोई महत्त्वपूर्ण और अज्ञात ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। फिर भी एक बात ऐसी ज्ञात हुई जिसने हमारे परिश्रम को बहुत कुछ सफल कर दिया। जब हम तीन लोक पूजा की प्रति उसके कर्त्ता का नाम ढूँढ़ने के लिये देख रहे थे तो प्रशस्ति गत निम्न वाक्यों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया—

मिती अषाढ़ दूसरो जानि, पहल पक्ष की चौथ बखानि।
संवत् अष्टादश शत जोय, और अठाइस ऊपर होय॥
तां दिन पाठ समापत कियो, अपनो नर भव को फल लियो।
भयो हरष बढ़ो चित चाव, विषम पंथ अब सुगम कराव॥
तीन लोक जिन पूजा सोय, देख्यो पाठ अशुद्ध सु जोय।
तिनमें रागी जोवनी तनी, पूजा देखी हमने घनी॥
तब हम पाठ अशुद्ध सु जानि, मनमें मतो कर्यो इम आनि।
पाठ संस्कृत में विपरीत, जिन भाषिन देखी नहीं रीत॥

---

१. कवि डालूरामजी अग्रवाल यहीं के निवासी थे उनका साहित्य यहाँ अच्छी मात्रा में पाया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग दोष मद मोहित जीव, तिन पद पूजा अर्घ चढीव।
तव हम जानि तुछ बुद्धि न जीव, एक सरे पावे न सदीव॥
तातैं तुछ बुद्धिन के काज, भाषा पाठ भलो सुख साज।[1]

"इसमें बताया गया है कि–१८२८ संवत् में तीन लोक पूजा ग्रन्थ समाप्त करके कवि (टेकचन्द जी) को बड़ा हर्ष हुआ कि विषम (बीस) पन्थ अब सुगम हो गया। तीन लोक पूजा पहले संस्कृत में थी जिसमें पाठ अशुद्ध थे और रागी द्वेषी जीवों (क्षेत्रपालादि (को अर्घ चढ़ाने व उनकी पूजा करने का जिसमें विधान था जो जिनमत विरुद्ध था अतः (बीस पन्थ की) इन विषम–जिनमत से साम्य नहीं रखने वाली बातों को कवि ने अपनी भाषा पूजा द्वारा तुच्छ बुद्धि प्राणियों के लिये सुगम (ठीक) किया।" इससे स्पष्ट जाना जाता है कि पहले बीस पन्थ का असली नाम विषम पंथ था जिसका बिगड़ा हुआ रूप बीस पन्थ है। इसी तरह तेरा पन्थ का अर्थ भी तेरा यानि जिनेन्द्र का पन्थ है जैसा कि ज्ञानानन्द श्रावकाचार पृ० १११ और ११५ में लिखा है—"हे भगवान म्हां तो थांका बचनां के अनुसार चलां हो ता तै तेरा पन्थी हों ते सिवाय और कुदेवादिक को हम नहीं सेवै हैं..... तुम ही ने सेवौ सो तेरा पन्थी सो म्हां तुम्हारौ आज्ञाकारी सेवक हौं।" श्वेतांबर स्थानकवासियों में भी 'तेरा पन्थ' सम्प्रदाय है। उसके मानने वालों ने भी शायद अपने पन्थ का नामकरण इसी उपपत्ति को लेकर किया है। एक बात और है 'तेरा' और 'विषम' यह नाम (Title) अध्यात्ममती-वाराणसी मतवालों ने ही रखा प्रतीत होता[2] है। जब उन्होंने भट्टारकों और

---

१. जोधराज जी गोदीका के प्रवचनसार के अंत में एक सवैया दिया हुआ है उसमें लिखा है :—

कहे जोध अहो जिन तेरापन्थ तेरा है।

२. कवि टेकचन्द जी की 'तीनलोक पूजा' वीर प्रेस जयपुर से प्रकाशित हो गई है, इसमें प्रशस्ति कुछ अशुद्ध छपी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिथिलाचारियों की वीतरागता व अहिंसा से हीन जिनमत विरुद्ध प्रवृत्तियों को देखा तो अपने को तेरा पन्थी = जिनेन्द्र के मत के अनुसार चलने वाला तथा अपने से भिन्न को विषम पन्थी = जिनमत से साम्य नहीं रखने वाला घोषित किया ज्ञात होता है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि—'बीस' पन्थ का नाम संख्यावाची न होकर 'विषम' शब्द से बिगड़ा हुआ है। इसी तरह 'तेरा पन्थ' नाम भी १३ की संख्या वाला न 'होकर' तेरा, यानी जिनेन्द्र का पन्थ वाची है। बहुत वर्षों से जो 'तेरा' और 'बीस' नाम की संगति नहीं बैठ रही थी हमारे खयाल से वह इन प्रमाणों के प्रकाश में अब ठीक बैठ गई है।

माधोराजपुरा के पास ही मौजाद (मौजमाबाद) नाम का प्राचीन ग्राम है वहाँ भी हम दर्शनार्थ गये थे। वहाँ दो मन्दिर और एक नाशियाँ हैं। जिसमें एक मन्दिर काफी मनोज्ञ और कलात्मक है। इसमें दो भोंहरे (भूगृह) हैं। एक में अनेक छोटी-छोटी प्रतिमायें हैं, दूसरे में तीन विशाल पद्मासनस्थ आदमकद मूर्तियाँ हैं। प्रायः सब मूर्तियाँ १७वीं शताब्दी की हैं। उन पर 'वि० सं० १६६४ मानसिंह राज्य प्रवर्त्तमाने मौजाबाद' लिखा हुआ है। दूसरे मन्दिर में सिर्फ एक भोंहरा (भूगृह) है जिसमें दो-तीन प्रतिमायें हैं जो सं० १९८५ की प्रतिष्ठित हैं। यहीं एक शिलालेख पड़ा हुआ है जिसमें (केकड़ी के) पं० धन्नालाल जी के द्वारा सं० १९८५ के फाल्गुण बुध में हुई विम्ब प्रतिष्ठा का उल्लेख है। मौजाद के मन्दिरों में कुल मिलाकर छोटी-बड़ी २००-२२५ प्रतिमायें हैं। समयाभाव से हम यहाँ का शास्त्रभण्डार नहीं देख सके।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचास्तिकाय को १११ वां गाथा प्रक्षिप्त है

रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई से प्रकाशित भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय के द्वितीय संस्करण में गाथा नं० १११ इस प्रकार है :–

तित्थावर तणु जोगा, अणिलाणल काइया य तेसु तसा।
मण परिणाम विरहिदा, जीवा एइंदिया णेया ॥१११॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, वनस्पति—तीन स्थावर हैं और वायु, अग्नि त्रस हैं। (ये) मनोभाव से रहित एकेन्द्रिय जीव जानने चाहिए ॥१११॥

इस गाथा में अमृतचन्द्र के टीका रूप वाक्य इस प्रकार दिये हुए हैं—

"पृथ्वीकायिकादीनां पंचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽयं"।

परन्तु ये वाक्य टीका रूप नहीं हैं, ये तो ११२ वीं गाथा के उत्थानिका वाक्य हैं क्योंकि ११२ वीं गाथा पर अमृतचन्द्र के और कोई दूसरे उत्थानिका वाक्य नहीं पाये जाते। इसके सिवा जयसेनाचार्य ने भी अपनी टीका में ये वाक्य ११२ वीं गाथा पर ही दिये हैं जो इस रूप में हैं "अथ पृथ्वीकायिकादीनां पंचानामेकेन्द्रियत्वं नियमयति"।

इस प्रकार इस १११ वीं गाथा पर अमृतचन्द्र की कोई टीका नहीं पाई जाती और न कोई उत्थानिका वाक्य पाये जाते हैं अतः यह गाथा साफ प्रक्षिप्त मालूम होती है। अगर मूल ग्रन्थकार कृत होती तो अमृतचन्द्राचार्य जरूर इस पर उत्थानिका वाक्य और टीका लिखते; कम से कम तेजोवायु के त्रसत्व का तो समाधान अवश्य ही करते।

(२) धवलाकार वीरसेनाचार्य ने भी पंचास्तिकाय की गाथाओं को अनेक जगह प्रमाण रूप में उद्धृत किया है इससे यह ग्रन्थ धवलाकार को भी मान्य रहा है। अगर पंचास्तिकाय में १११ वीं गाथा होती तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धवलाकार कभी तेजोवायु के त्रसत्व का खंडन नहीं करते जैसा कि धवला पुस्तक १ पृष्ठ २६६ और २७६ तथा पुस्तक १३ पृष्ठ ३६५ पर पाया जाता है।

(३) दिगम्बर सम्प्रदाय में कुन्दकुन्द बहुत ही प्राचीन और सर्वाधिक मान्य आचार्य रहे हैं अगर तेजोवायु को त्रस मानने का उनका मत होता तो बाद के अनेक दि० ग्रन्थकार इसका जरूर अनुसरण करते किन्तु किसी ने भी इसका अनुसरण नहीं किया है प्रत्युत अनेक दि० ग्रन्थकारों ने इस मान्यता का खण्डन ही किया है। उदाहरण के लिए मोक्षशास्त्र अ० २ सूत्र १२ का अकलंकदेव कृत राजवार्तिक भाष्य देखो।

(४) भगवद् कुन्द-कुन्द ने अपने किसी अन्य ग्रन्थ में भी तेजोवायु को त्रस नहीं लिखा है। प्रत्युत 'त्रस' द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों को ही बताया है। देखो मूलाचार अ० ५ गाथा ८ और २१।

(५) 'पंचास्तिकाय' की गाथा ३९ में स्थावर और त्रस जीवों का लक्षण इस प्रकार दिया है—स्थावरों के कर्मफल चेतना होती है अर्थात् स्थावर कर्मोदय के द्वारा आत्मशक्ति से हीन-निरुद्यमी—विकल्प रूप कार्य करने में असमर्थ होकर अप्रगट रूप से कर्मों के फल को भोगते हैं। त्रस : रागद्वेष मोह की विशेषता लिए उद्यमी होकर इष्टानिष्ट कार्य करने में समर्थ होते हैं, इनके कर्म चेतना होती है।

इस कथन से गाथा १११ का कथन विरुद्ध पड़ता है अर्थात् तेजोवायु त्रस नहीं हो सकते हैं। अतः १११ वीं गाथा क्षेपक प्रमाणित होती है। अगर उसे क्षेपक नहीं माना जायगा तो ग्रन्थ में परस्पर विरुद्धता का दोष उत्पन्न होगा।

(६) गाथा ११२ के 'एदे' आदि वाक्यों का सम्बन्ध गाथा ११० से ही ज्यादा उपयुक्त बैठता है १११ से नहीं, इससे भी यह १११ वीं गाथा बीच में प्रक्षिप्त हो गई सिद्ध होती है।

(७) गाथा १११ की दूसरी लाइन शब्दशः वही है जो ११२ वीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा की दूसरी लाइन है। इस प्रकार ग्रन्थ में पुनरुक्ति दोष भी आता है जो मूल ग्रन्थकार कुन्द-कुन्द के इस ग्रन्थ में कहीं नहीं पाया जाता। इससे भी १११ वीं गाथा प्रक्षिप्त होनी चाहिए।

(८) अगर १११ वीं गाथा को हटा दिया जाय तो ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में कोई खामी नहीं आती प्रत्युत पुनरुक्ति और परस्पर विरुद्धतादि के दोष भी मिट जाते हैं।

शंका—इस गाथा को हटाने पर त्रस और स्थावर के कथन का ग्रन्थ में अभाव होगा।

समाधान—त्रस और स्थावर का कथन तो गाथा ३९ में पहिले ही कर दिया गया है। इसके सिवा त्रस और स्थावर का कथन करना इस ग्रन्थ के लिए कोई आवश्यक अंग नहीं है। दूसरे अधिकार में जीवों का इन्द्रिय भेद से कथन किया है त्रस स्थावर रूप से नहीं जैसा कि गाथा १२१ से लक्षित होता है यही बात अमृतचन्द्र ने गाथा ११८ के उत्थानिका वाक्य में कही है।

शंका—बालावबोध हिन्दी टीका में—"आगे पृथ्वीकायादि पांच थावरों को एकेन्द्रिय जाति का नियम करते हैं" ऐसा उत्थानिका वाक्य देकर गाथा, १११-११२ को युग्म रूप दिया है अतः ये गाथाएँ युग्म होनी चाहिए। अन्य हस्तलिखित प्रतियों में भी इन्हें युग्म ही प्रकट किया है और पूर्वोक्त "पृथ्वीकायिकादीनां पंचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽयं" अमृतचन्द्र के इन वाक्यों को उत्थानिका रूप में—गाथा नं० १११ पर दिया है।

समाधान—ये प्रतियाँ ज्यादा प्राचीन नहीं हैं। जयसेनाचार्य (वि० सं० १३६९) ने इन दोनों गाथाओं को अलग-अलग माना है, युग्म नहीं क्योंकि उन्होंने इनके उत्थानिका वाक्य और टीका वाक्य अलग अलग दिये हैं। इन गाथाओं को युग्म मानने पर भी जो दोष पहिले बता आये हैं उनका कोई निरसन नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शंका—जयसेनाचार्य ने १११ वीं गाथा के कथन में व्यवहार से तेजोवायु को त्रस मानना बताया है इसमें क्या बाधा है ?

समाधान—धवलाकार और राजवार्तिककार ने तेजोवायु के त्रसत्व का खण्डन किया है वह व्यवहार से ही किया है अतः व्यवहार से भी तेजोवायु का त्रसत्व उचित नहीं है। मूल गाथा में भी व्यवहार से मानने की कोई बात नहीं है। अगर फिर भी व्यवहार का ही आग्रह हो तो जल को भी त्रस बताना चाहिए था उसे स्थावर क्यों बताया ? क्या कुन्द-कुन्द ऐसा स्खलन कर सकते हैं ?

इसके सिवा इस कथन में एक आपत्ति और है वह यह कि आगे जो द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों का वर्णन है उन्हें क्या माना जाय ? त्रस या स्थावर ? या कोई अन्य ? यह कुछ नहीं बताया गया है।

इस प्रकार के युक्ति और आगम से विरुद्ध तथा अनेक दोषों से युक्त कथन कुन्द-कुन्द के नहीं हो सकते।

(९) मोक्षशास्त्र अ० २ सूत्र १४ का दिगंबरीय पाठ "द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः' है किन्तु श्वेतांबरीय पाठ "तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः" है इससे तेजोवायु को त्रस कहने की मान्यता श्वेतांबरीय ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि—किसी श्वे० विद्वान् ने ११२ वीं गाथा के पूर्वार्ध में अपने मत के अनुसार "तित्थावर तणु जोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा" ये वाक्य बढ़ा दिये। प्रतिलिपिकारादि के द्वारा फिर वे ही २ अलग-अलग गाथाओं के रूप में निबद्ध हो गये। यह सब अमृतचन्द्र के बाद हुआ है, जयसेन के निम्नांकित कथन से भी इसकी सूचना मिलती है :—

जयसेन ने पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति पृ० ९ पर उपोद्घात में लिखा है—"मेरे पाठक्रम से पहिले अधिकार में १११ गाथा हैं और अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार १०३ गाथाएँ हैं। दूसरे अधिकार में मेरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाठक्रम से ५० गाथाएँ हैं और अमृतचन्द्र की टीकानुसार ४८ गाथाएँ हैं और चूलिका रूप तीसरे अधिकार में २० गाथायें हैं"।

इस उपोद्घात से साफ लक्षित होता है कि—अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार दूसरे अधिकार में सिर्फ ४८ गाथायें ही जयसेन के वक्त थीं जब कि मुद्रित में दूसरे अधिकार की गाथायें ४९ दी हुई फलित होती हैं। इस तरह यह एक बढ़ी हुई गाथा वही १११ वीं होनी चाहिए जिस पर न तो अमृतचन्द्र की कोई टीका है और न उत्थानिका वाक्य, (पहले अधिकार में भी एक गाथा बढ़ी हुई है क्योंकि जयसेन ने अमृतचन्द्र के मत से प्रथम अधिकार में १०३ ही गाथायें सूचित की हैं जबकि मुद्रित संस्करण में १०४ दी गई हैं।

इस तरह पंचास्तिकाय की गाथा नं० १११ क्षेपक है यह सिद्ध होता है। अगर प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों की खोज की जाय तो उसमें यह गाथा कभी नहीं मिलेगी।

(१०) प्रसंगोपात्त त्रस और स्थावर के विषय में नीचे कुछ ज्ञातव्य विवेचन किया जाता है :—

(क) "त्रस त्रसनाली में ही होते है बाहर नहीं, स्थावर सारे लोक में व्याप्त हैं" ऐसा शास्त्रनियम है। अगर तेजोवायु को त्रस माना जायेगा तो शास्त्रनियम गलत हो जायगा क्योंकि फिर त्रस भी सारे लोक में व्याप्त हो जायेंगे। इस तरह त्रस स्थावर की भेद रेखा रूप त्रस-नाली ही व्यर्थ हो जायगी अतः तेजोवायु को दि० आचार्यों ने त्रस नहीं माना है।

(ख) कर्म ग्रन्थों में नाम कर्म की ९३ प्रकृतियाँ बताई हैं उनमें त्रस, स्थावर तथा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ५ जातिनामकर्म ये ७ अलग-अलग भेद बताये हैं। तब प्रश्न होता है कि—द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ४ भेद अलग क्यों बताये वे तो "द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः" इस सूत्र के अनुसार त्रस में आ जाते हैं। इसी तरह एकेन्द्रिय जातिनामकर्म भी अलग क्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बताया वह भी स्थावर में आ जाता है। यह मूल कर्म फिलासफी में ही गड़बड़ क्यों हैं ?

समाधान—जो जातिनामकर्म के ५ इन्द्रियभेद बताये हैं वे पाँचों पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ हैं। और त्रस तथा स्थावर ये २ अलग नामकर्म बताये हैं वे जीवविपाकी प्रकृतियाँ हैं। यही इन दोनों में खास अन्तर है। इसी को लक्ष्यकर पंचास्तिकाय की गाथा ३९ में स्थावर का लक्षण कर्मफलचेतना का भोक्ता और त्रस का लक्षण कार्य चेतना का भोक्ता बताया गया है जो जीवविपाकित्व की दृष्टि से है। इसमें 'एकेन्द्रिय को स्थावर और २ से ५ इन्द्रिय को त्रस कहते हैं' इसका भी अन्तर्भाव हो जाता है। पंचास्तिकाय का लक्षण सूक्ष्म—आभ्यंतरिक है। षट्खंडागम तत्त्वार्थसूत्रादि में द्वीन्द्रियादि को त्रस और एकेन्द्रिय को स्थावर लिखा है वह स्थूल (बाह्य) कथन है लक्षण नहीं, उसे फलितार्थ मात्र समझना चाहिए। इस प्रकार दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है, दोनों अलग-अलग विवक्षा से हैं।

पं० कैलाशचन्द जी का सम्पादकीय नोट—विद्वान् लेखक ने पञ्चास्तिकाय की १११ वीं गाथा के प्रक्षिप्त होने के सम्बन्ध में जो उपपत्तियाँ दी हैं वे विचारणीय हैं। इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्र के सामने यह गाथा नहीं थी, अथवा इसे उन्होंने मान्य नहीं किया था। इस गाथा के नीचे जो एक वाक्य छपा है वह आगे की गाथा का उत्थानिका वाक्य ही होना चाहिए। गाथा १११ से उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है ?

केवलज्ञान के १० अतिशयों में एक अतिशय "सुभिक्ष" बताया है इस विषय में जैन शास्त्रों में दो प्रकार के मतभेद पाये जाते हैं—एक के अनुसार यह सुभिक्ष एक सौ योजन (चार सौ कोश) तक होता है और दूसरे के अनुसार दो सौ योजन (आठ सौ कोश) तक होता है।

यह मान्यता भेद कैसे हुआ इस पर नीचे कुछ विचार किया जाता है। पहिले उन ग्रन्थों के उद्धरण दिये जाते हैं जिनमें एक सौ योजन तक सुभिक्ष होना बताया है :—

१—तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ कृत) अधिकार ४ गाथा ८९९।

जोयण सद मज्जादं सुभिक्खदा चउ दिसासु णियथाणा।

(जहाँ तीर्थंकर बैठे हों वहाँ से एक सौ योजन की सीमा में चारों दिशाओं में सुभिक्ष होता है)।

२—जम्बू दीव पण्णत्ति (पद्मनन्दि कृत) उद्देश १३, गाथा ९८

गाउय तह सय चउरो सुभिक्ख णिरुवद्दओ हवइ देसो।

जहिं-जहिं विहरइ अरहो तहिं-तहिं होइ णायव्वो॥

(जहाँ-जहाँ अरहंत भगवान् विहार करते हैं वहाँ-वहाँ चार सौ कोश (एक सौ योजन) प्रमाण देश सुभिक्ष से संयुक्त और निरुपद्रव होता है)।

गाउय (गव्यूत) का यहाँ जो एक कोश अर्थ लिया है वह ग्रन्थानुसार लिया है देखो उद्देश्य १३, गाथा ३४ जहाँ 'गाउय' का १ कोश ही अर्थ दिया है—

३—प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधर कृत)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है?३५३

सौभिक्षं भवतिस्म योजनशतं यत्संसदं सर्वतः ॥ अ० ४, श्लो० १८६

(समवशरण सभा के सब ओर सौ योजन तक सुभिक्ष होता है)

४—पद्म चरित (रविषेण कृत) सर्ग ४, श्लोक ५५

यं यं देशं स सर्वज्ञः प्रयाति गति योगतः ।

योजनानां शतं तत्र जायते स्वर्गविभ्रमम् ॥

(गति योग से जहाँ-जहाँ सर्वज्ञ जाते हैं वहाँ-वहाँ सौ योजन तक का क्षेत्र स्वर्ग तुल्य हो जाता है)

५—पउम चरिय (विमलसूरि)

(क) जोयण सयं समंता मारीइ विवज्झिओ देसो ॥उ० २, गा० ३२

(ख) विहरइ जत्थ जिणिंदो सो देसो सग्ग संनिहो होई ।

जोयण सयं समंता रोगादि विवज्झिओ रम्मो ॥ पर्व ४ गा० ३४

(ग) जोयणसयं अणूणं जत्थ छइ केवली समुद्देसे ।

वेराणुबंधरहिया हवंति नियय णरवरिंदा ॥ (पर्व ७५, गाथा २५)

(जहाँ जिनेन्द्र विहार करते हैं वहाँ सौ योजन तक का क्षेत्र स्वर्गतुल्य और रोगरहित हो जाता है एवं मनुष्यों के सब वैरभाव मिट जाते हैं)

६—नन्दीश्वर भक्ति (पूज्यपाद कृत)

गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता (गव्यूतिः क्रोशमेकं गव्यूतीनां शतचतुष्टये सुभिक्षता,—प्रभाचन्द्रकृत टीका) चार सौ कोश तक सुभिक्ष ।

७—त्वदास्थानास्थितोद्देशं परितः शतयोजनम् ।

सुलभासनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते ॥३६॥ (पर्व २५ आदि पुराण)

आदिपुराण (जिनसेन कृत) पर्व २५, श्लोक २७० ।

सुभिक्षक्षेत्रमारोग्यं गव्यूतीनां चतुःशती ।

भेजे भूर्जिनमाहात्म्यादजातप्राणिहिंसना ॥

(जिनेन्द्र के माहात्म्य से चार सौ कोश तक सुभिक्ष और आरोग्य था)

८—पार्श्वपुराण (पं० भूधरदास कृत) ९ वाँ अधिकार ।

चहुँ दिशि चार-चार सौ कोश होय सुभिच्छ सदा निर्दोष ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९—इष्टछत्तीसी (बुधजनजी कृत) योजन शत इक में सुभिख।

१०—रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वचनिका (पं० सदासुखजी सा० कृत) "चारों तरफ सौ-सौ योजन सुभिक्षता' (वीरसेवा मन्दिर सस्ती ग्रन्थमाला पृ० ४०९)

११—तिलोयसार वचनिका के अन्त में समोसरण वर्णन (स्थानीय हस्तलिखित प्रति—पंडित प्रवर टोडरमलजी सा० कृत)

'अर चौगिरद सौ-सौ योजन पर्यंत दुर्भिक्ष आदि ईतिभीति का न होना इत्यादि अतिशय वर्तें हैं।' (पत्र ३३७)

१२—महापुराण–अपभ्रंश (पुष्पदन्त कृत) गव्वूइ सयाइं चयारिजाम।
वित्थरइ सुहिक्खु सुखेउ ताम॥ संधि १०, कडवक २

अब उन ग्रन्थों के उद्धरण दिये जाते हैं जिनमें दो सौ योजन तक सुभिक्ष होना बताया हैः—

१३—हरिवंशपुराण (जिनसेनकृत)

(क) द्वियोजनशतक्षोणी सुभिक्षत्वोपपादकं। सर्ग ३, श्लोक १४

(ख) विहारानुग्रहीतायां भूमौ न डमरादयः।
दशाभ्यस्तयुगं भर्तुरहोऽत्र महिमा महान्॥ १०८॥

(द्विशत-योजनं, इति टिप्पणे) सर्ग ५९

(यह भगवान की महान् महिमा है कि—जहाँ वे विहार करते हैं वहाँ दो सौ योजन तक उपद्रवादि नहीं होते)

१४—चन्द्रप्रभ चरित (वीरनन्दि कृत) सर्ग १८, श्लोक १३४

व्यहरद् यत्र यत्रासौ तत्र तत्र सुभिक्षता।
अजायत जनप्रीत्यै योजनानां शतद्वये।

(जहाँ जहाँ भगवान ने विहार किया वहाँ वहाँ दो सौ योजन तक सुभिक्ष हो गया)

१५—धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र कृत) सर्ग २०, श्लोक ६६

नो दौर्भिक्ष्यं नेतयो नोपसर्गा नो दारिद्र्यं नोपघातो न रोगाः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तन्माहात्म्याद् योजनानां शते द्वे नाभूत् किंचित्क्वापि कर्माऽप्यनिष्टम् ॥

(भगवान के माहात्म्य से दो सौ योजन तक दुर्भिक्ष, ईति, उपसर्ग, दारिद्रय, उपघात, रोग यानी कुछ भी अनिष्टकर्म कहीं भी नहीं होते थे।)

१६—पद्मचरित (रविषेण कृत)

(क) यस्मिन्विहरणप्राप्ते योजनानां शतद्वये ।
दुर्भिक्षपरपीड़ानामीतीनां च न संभवः ॥
(सर्ग २, श्लोक ९१)

(ख) तिष्ठंति मुनयो यस्मिन्देशे परमलब्धयः ।
तथा केवलिनस्तत्र योजनानां शतद्वयम् ॥
पृथ्वी स्वर्गसंकाशा जायते निरुपद्रवा ।
वैरानुबन्धमुक्ताश्च भवन्ति निकटे नृपाः ॥
(सर्ग ७८, श्लोक ५५-५६)

जहाँ केवली रहते हैं वहाँ दो सौ योजन तक दुर्भिक्ष, परपीड़ा, ईति नहीं होती हैं तथा पृथ्वी स्वर्गतुल्य और निरुपद्रव हो जाती है तथा राजाओं के वैर छूट जाते हैं)

१७—पंचमंगल (रूपचंद पांडेकृत) दुइ सै जोजन मान सुभिच्छ चऊँदिसी ॥

अब मान्यता भेद के कारण पर प्रकाश डाला जाता है:—

उपर्युक्त प्रमाण नं० २, ६, ७, १२ में प्रयुक्त 'गाउय' (गव्यूत) 'गव्यूति' 'गव्वूइ' शब्दों के कोशग्रन्थों में २ अर्थ पाये जाते हैं:—एक कोस एवं दो कोस। और इसी से एक सौ योजन व दो सौ योजन की भिन्न-भिन्न मान्यतायें प्रचलित हो गई हैं। गव्यूति का व्युत्पत्ति परक अर्थ यह है कि—'जहाँ गायें मिलें' और यह दो कोस तथा एक कोस दोनों संभव है इसलिये कोष और साहित्य ग्रन्थों में उक्त दोनों अर्थ पाये जाते हैं देखो—'अमर कोष, कांड २ भूमिवर्ग श्लोक १८—'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगं'' (दो कोस को गव्यूति कहते हैं)

अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र कृत) कांड ३, श्लोक ५५१-५५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्विंशत्यंगुलानां, हस्तः दंडश्चतुष्करः। तत्सहस्रौ तु गव्यूतं, क्रोशः तौ द्वौ तु गोरुतं ॥ गव्या गव्यूतगव्यूती चतुष्क्रोशं तु भोजनम्।

(चार हाथ का एक दंड, दो हजार दंडों का एक गव्यूत = कोस तथा दो कोस को 'गोरुत' व 'गव्यूति' आदि कहते हैं और चार कोस का एक योजन होता हैं)

'शब्दार्णव कोश—

द्वाभ्यां धनुः सहस्राभ्यां गव्यूतिः पुंसि भाषितम्।

(दो हजार धनुष अर्थात् एक कोश को 'गव्यूति' कहते हैं)

वाचस्पति कोश—

धन्वन्तरसहस्रं तु क्रोशः क्रोशद्वयं पुनः।

गव्यूतं तु गव्यूतिः गोरुतं गोमतं च तत् ॥

(दो हजार धनुष को एक कोस तथा दो कोस को 'गव्यूत' 'गव्यूति' 'गोरुत' 'गोमत' कहते हैं)

—शब्दादर्श कोश (संस्कृत गुजराती)

गव्यूत = एक कोश, दो कोस। गव्यूति = दो कोस, दो हजार धनुष की लम्बाई (एक कोस) इसी तरह 'गोरुत' और 'गोमत' शब्द का अर्थ है।

प्राकृतशब्दमहार्णव—गाउ, गाउअ, (गव्यूत) कोस—दो हजार धनुष प्रमाण (औपपादिक सूत्र, जीव विचार गाथा १८, विशेषावश्यक ८२ टीका) २ कोस क्रोशयुग्म (ओघ निर्युक्ति गाथा १२)

—तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागर कृत) अध्याय ३, सूत्र ३८, पृ० १५२)

(ए) द्विसहस्रदण्डैमपिता एका प्रमाणगव्यूतिः (बी) द्विसहस्रदण्डैः गव्यूतिरुच्यते, चतुर्गव्यूतिभिर्मानवयोजनं भवति ॥ (दो हजार दण्डों की एक गव्यूति (एक कोस) होता है और चार गव्यूति (चार कोस) का एक योजन होता है)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा ही राजवार्तिक में लिखा है—"द्वे दण्डसहस्रे गव्यूतं चतुर्गव्यूतं योजनं"। षट् खंडागम पुस्तक १३, पृ० ३३९ पर भी यही लिखा है—बेहि दंडसहस्सेहि एवं गाउअं होदि। अट्ठाहि दण्डसहस्से हि जोयणं ॥

वरांग चरित, सर्ग ५, श्लोक ८—प्रोजकार्धं च गव्यूतिर्गव्यूत्यर्धं च मस्तके ॥

इसमें भी 'गव्यूति, शब्द का प्रयोग एक कोस के अर्थ में है, 'तत्त्वार्थ वृत्ति' श्रुतसागर कृत के पृष्ठ ११२ से मिलान करो

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि—गव्यूति, गव्यूत, गोरुत, गोमत आदि शब्द एकार्थवाची हैं और इनके एक कोस दो कोस ये दोनों अर्थ होते हैं। और इन्हीं शब्दों के आधार से एक सौ योजन या दो सौ-योजन तक सुभिक्ष होने की दो मान्यतायें प्रचलित हुई हैं। यह मान्यता भेद कितना प्राचीन है इसका पता ऊपर दिये 'पद्मचरित' के नं० ४ तथा १६ से लगता है जिनमें एक जगह तो रविषेण ने एक सौ योजन बतायी है और दूसरी जगह दो सौ योजन बतायी है। इस तरह दोनों मान्यताओं का उल्लेख उन्होंने किया है।

इन दोनों मान्यताओं में 'एक सौ योजन' वाली मान्यता ज्यादा ठीक और बहु मान्य प्रतीत होती है वह प्राचीन भी है जैसी कि तिलोय पण्णत्ति, जम्बू दीव पण्णत्ती और पउम चरिय के प्रमाण नं १, २ से विदित होता है। श्वेतांबर सम्प्रदाय में भी एक सौ योजन की मान्यता है देखो—

१—योगशास्त्र (हेमचन्द्र कृत) ११ वाँ प्रकाश, श्लोक २९—

आयोजनशतमुग्रा रोगाः शाम्यन्ति तत्प्रभावेण ॥

(तीर्थंकर के प्रभाव से एक सौ योजन तक के उग्र रोगादि शान्त हो जाते हैं)

समवायांगसूत्र में २५ योजन तक दुर्भिक्षादि का निषेध किया। जैन तत्त्वादर्श (आत्मारामजी कृत) में २५॥ योजन तक चारों ओर दुर्भिक्ष न होने का कथन किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्ममीमांसा (सत्यभक्त-कृत) प्रथम भाग पृ० १५६ पर २५ योजन तक रोगादि न होने का उल्लेख किया है।

पहिले, चारों ओर २५ योजन ही मिलकर कुल १०० योजन की मान्यता हो फिर १०० योजन भी चारों ओर माने जाने लगे हों)

२—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित (हेमचन्द्र कृत) पर्व १, सर्ग ६, श्लोक ५३—

अध साग्रं योजनां शतं लोकान् रुजां क्षयात्।
अनुगृह्यास्तापशांत्या, प्रावृषेण्य इवाम्बुदः ॥

३—अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) कांड १, श्लोक ६०—

साग्रे च गव्यूतिशतद्वये रुजा, वैरेतयो मार्यतिवृष्ट्यवृष्टयः।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भयं, स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः ॥

(स्वोपज्ञ टीका-साग्रे पंचविंशति योजनाधिके गव्यूतिः क्रोशद्वयं, गव्यूतीनां शतद्वये योजनशत इत्यर्थः रुजा रोगो ज्वरादिर्न स्यात्)

टीका में सवासौ (१२५) योजन का उल्लेख है यह मान्यता भेद है या कवि की अतिरिक्त कल्पना है कुछ कह नहीं सकते। मंत्रराज गुण-कल्पमहोदधि, पृ० १७६ पर भी १२५ योजन तक दुर्भिक्षादि का न होना बताया है। फिर भी श्वे० संप्रदाय में एक सौ योजन की ही प्रसिद्ध मान्यता है। इसके लिये पंडितवर्य्य कैलाशचन्द्र जी शास्त्री कृत 'नमस्कार मन्त्र' पुस्तिका का पृष्ठ ५५ देखो।

शास्त्रों में जो अनेक प्रकार के मान्यता भेद देखे जाते हैं उनमें से बहुत से इसी तरह शब्दार्थों के भेद से उत्पन्न हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्याणक रास और कल्याण माला

विनयचन्द्र मुनिकृत कल्याणक रासु (अपभ्रंश)

सिद्धि सुहंकर सिद्धिपहु, पणविवि तिजय-पयासण केवल ।
(दोहा) (चौपाई)
सिद्धिहि कारणि थुणमि हउं, सयलवि जिण-कल्यान णिहयमल ॥
(दोहा) (चौपाई) (–ध्रुवक)

१—पढम पक्खि दुइजहिं आसाढहि (चौपाई)
रिसह-गब्भु तह उत्तरसाढहि (चौपाई)
अंधारी छट्ठिहि तिहिमि, वंदमि वासुपुज्ज-गब्भुच्छउ
(दोहा) (चौपाई)
विमलु सु सिद्धउ अट्ठमिहि, दसमिहि णमिजिण जम्ममु तह तउ
(दोहा) (चौपाई)

—सिद्धि सुहंकर सिद्धि पहु—

२—धवल पक्खि तहु मासहु छट्ठिहि
पणवहु-गब्भु वीर-परमेट्ठिहि
णेमि भडारउ अट्ठमिहि, गउ णिव्वाणहि हरिकुल मंडणु
सत्त महामह छह दिवस, भवियहो करहु मोहमय खंडणु

३—सावण वहल दुइज दिणि सरियउ
गब्भहि सुव्वउ जिणु संचरियउ
दसमिहि कुंथु तिलोयपहु, जणणिहि उवरि सुहासरा वसियउ
मुत्ताहलु जिम सिप्पि-उडि, णियतणुतेएँ णिरु उल्लसियउ

४—धवलिय दुइज दिवसि जगणेसहु
वंदहु गब्भुच्छउ सुमईसहु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छट्ठिहि णेमिहि जम्मु तउ, पुणु सत्तमिहि पासु जिणु सिद्धउ
पुण्णिम दिणि सेयंससिउ, छहदिण रिसि[1] कल्याणउ सिद्धउ

५—भद्दवि जा अंधारी सत्तमि
संति-गब्भु तहि नवहु महातमि
गब्भु सुपासहु छट्ठि सिय, सिद्धउ णवमउ वारहमउ जिणु
धवलिय-अट्ठमि-चउदसिहि चारि महा-मह एक्केक्कउ दिणु

६—मास कुवारहु दुइज अंधारी
णमिजिण गब्भदिवसि सा सारी
णेमि-णाणु सिय पडिव दिणि अट्ठमि दिवसहि सिद्धउ सीयलु,
तिहिं दिवसहिं कल्लाणतउ अस्सिण मासि महहु सुह सीयलु।

७—कत्तिय गब्भु अणंतहु पडिवहि
संभव णाणु चउत्थिहि तमवहि
पउमप्पह जिण जम्मुतउ अंधारी तेरसिहि णमंसहु,
वीरजिणिंदहु सिव गमणु सिट्ठउ देवालिय अम्मावसि।

८—णिम्मल दुइजहिं सुविहि सु केवलु
णेमिहि छट्ठिहि गब्भु सुमंगलु।
अरजिण-णाणु दुवारसिहि संभव-संभउ पुंण्णिम वासरि
णव कल्लाणहं अट्ठ दिण इय विहिं पक्खहिं कत्तिय अवसरि

९—अगहणि बहुल दसमि तउ वीरहु
सुविहि जम्मु तउ सिव पडिवहि तहु
दसमिहि संजमु अरजिणहु एयारसिहि मल्लितउ-जम्मणु
णमि केवलु तत्थइ दिवसि अरजिण जम्मु चउद्दसि सासणु

१०—तहिमि मासि आगहणि पसिद्धउ
संभव-तउ पुण्णिमदिणि सिद्धउ

---

१. रिसि = सप्तर्षि ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्लाणइं णव दिवस छह मग्गसिरह दुहु पक्खहिं आयइं
भावें वंदहु जिणवरहं अक्खयसोक्खहेउ संजायइं
११—पूस-तिमिरभर दुइजहि केवलु
मल्लिजिणहु समदंसण सुह वलु
एयारसिहि सु जम्मु-तउ दुण्हवि जिण चंदप्पह पासहु
सीयल-केवलु चउदसिहि भावें पूज करेवि पसंसहु
११—संतिणाणु सिय दसमिहि पूसहु
अजियहु एयारसिहि सुहासहु
लद्धउ चउदसि पुण्णिमहि अहिणंदण जिणधम्महिं केवलु
दस जिण-उच्छव सन्त दिण वंदिवि माणहु सिवसुह अविचलु
१३—माहहु छट्ठि गब्भु पउमाहहु
सयिल जम्मुदिक्ख वारसि तहु
रिसह मोक्खु तम-चउदसिहि अम्मावसि केवलु सेयंसह
अवर पक्खि सिय दुइजदिणि केवल दिवसु वासुपुज्जेसहु
१४—विमल जम्मु तउ विमल चउत्थिहि
तासु जि केवलु उज्जल छट्ठिहि
णवमि दसमि अजियहु भणमि तउ जम्मु वि वारसि अहिणंदहु
तेरसि धम्महु जम्मु तउ दिणएयारह उच्छव पणरह
१५—कसिण चउत्थिहि सिउ पउमाहहु
फग्गुण छट्ठिहि णाणु सुपासहु
णाणु मोक्खु चंदप्पहहु मोक्खु सुपासहु सत्तमि तिण्णिवि
सुविहि-गब्भु णवमिहि तिहिमि तिमिर पक्खि णिसुखाहु मह अण्णवि
१६—सेयंसहु तउ जम्मु वि पविमलु
एयारसिहि रिसह जिण केवलु
सुव्वउ सिद्धउ वारसिहि चउदसि वासुपुज्ज तउ जम्मणु
धवल तीजि अर-गब्भु पुणु पंचमि मल्लि मोक्खु हयकम्मणु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७—ससि णिम्मलयरि फग्गुणि अक्खमि
संभव गब्भ-दिवसु सिय अट्ठमि
उच्छव पणरह दिवस दस ण्हवण पुज्ज समलहणु करेप्पिणु
पणवहु भावें तित्थयर मन्थय मंडलि कर जोडेप्पिणु
१८—चइति चउत्थिहि केवलु पासहु
पंचमि गब्भासउ ससिभासहु
अट्ठमि सीयल गब्भदिणु णवमिहि रिसह जम्मु संजमु तहु,
अरणिव्वाणु अणंतजिण-णाणु मोक्खु पणरसि तम चइतहु
१९—सिय पडिवहि मल्लिहि गब्भुच्छउ
कुंथुहि केवलु तीजहि सुच्छउ
अजियहु पंचमि मोक्ख दिणु सिद्धउ संभव जिणु सिय छट्ठिहि
जम्मु णाणु णिव्वाणु तसु सुमईसहु एयारसि दिट्ठउ
२०—तहिमि मासि चइतहि सिय पक्खहु
वीरजम्मु तेरसिहि णमंसहु
पउमप्पह जिण णाणु तहि पुण्णिम वासरि भावें वंदहु
बारस दिवसहं जिणवरहं सत्तारह उच्छव अहिणंदहु
२१—दुइजहि पास गब्भु वइसाहहु
णवमिहिं सुव्वय णाणु तमाहहु
दसमिहि सुव्वय जम्मु तउ णमिहि मोक्खु चउदसिहि कहिज्जइ
वइसाहहु सिय पडिवदिणि कुंथु जम्मु तउ मोक्खु णविज्जइ
२२—छट्ठिहि गब्भु मोक्खु अहिणंदहु धम्मु गब्भु अट्ठमिहि पवंदहु
सुमइहि संजमु णवमि दिणि वीरणाणु दसमिहि उप्पण्णउ
लोयालोय पयासयरु णवदिण तेरह उच्छव पुण्णउ
२३—जेट्ठ कसिण छट्ठिहि सेयंसहु गब्भु विमल जिण दसमि पसंसहु
दिक्ख जम्मु पुणु बारसिहि देव अणंतहु भणइ महामुणि
जम्मु सिद्धि तउ चउदसिहि संतिहि अजिय गब्भु पणरसिदिणि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४—धवल चउत्थि मोक्खु धम्मेसहु तउ जम्मु वि वारसिहि सुपासहु
एयारह मह सत्तदिण विहिं पक्खहिं जेट्ठहु गणि कहियइं
ऊणणवदि दिण जिणवरह वीसोत्तरु सउ उच्छव महियइं
२५—एयभत्तु एक्किजि कल्लाणइ, चिहि णिव्वियडि अहव इग ठाणइ।
तिहि आयंबिलु जिणु भणइ, चउहि होइ उववासु गिहत्थह।
अहवा सयलह खवणविहि, विणयचंदमुणि कहिउ समत्थहं॥
सिद्धि सुहंकर सिद्धिपहु०

(अर्थ—एक मिती में अगर एक कल्याणक हो तो 'एक भक्त' करे दो कल्याणक हो तो 'निर्विकृति' या 'एकस्थानक' करे। तीन हो तो 'आचाम्ल' करे। चार हो तो उपवास करे। अथवा सभी कल्याणक दिवस में एक उपवास ही करें यह उपवास का कथन समर्थ-सबल के लिये है)

॥ इति कल्याणक विधिः समाप्त ॥

मास नाम	कल्याणक संख्या	दिन (मिती) संख्या
आषाढ़	७	६
श्रावण	७	६
भाद्रपद	४	४
आश्विन	३	३
कार्तिक	९	८
मार्गशीर्ष	९	६
पौष	१०	७
माघ	१५	११
फाल्गुण	१५	१०
चैत्र	१७	१२
वैशाख	१३	९
ज्येष्ठ	११	७
कुल योग—	१२०	८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नोटः—यह दोहा चौपाई के मेल से बनाया गया रासा (गेय काव्य) आशाधर से कुछ पूर्व १३ वीं शताब्दी की रचना है।

यह कृति डेरांटू ग्राम के वि० सं० १५२९ के एक गुटके से तथा वि० सं० १४५५ के एक अन्य गुटके से उतारी गई है इसके सहयोग के लिए हम पं० दीपचन्द जी पांड्या के आभारी हैं।

श्रीमत्पंडिताशाधरविरचिता कल्याण-माला

पुरुदेवादिवीरान्तजिनेन्द्राणां ददातु नः।
श्रीमद्गर्भादिकल्याणश्रेणी निश्रेयसः श्रियम् ॥ १ ॥
शुचौ कृष्णे द्वितीयायां वृषभो गर्भमाविशत्।
वासुपूज्यस्तथा षष्ठ्यामष्टम्यां विमलः शिवम् ॥ २ ॥
दशम्यां जन्मतपसी नमेः शुक्ले तु सन्मतेः।
षष्ठ्यां गर्भोऽभवन्नेमेः सप्तम्यां मोक्षमाविशत् ॥ ३ ॥
सुव्रतः श्रावणे कृष्णे द्वितीयायां दिवच्युतः।
कुन्थुर्दशम्यां शुक्ले तु द्वितीये सुमतिस्थितौ ॥ ४ ॥
जन्मनिष्क्रमणे षष्ठ्यां नेमेः पार्श्वः सुनिर्वृतः।
सप्तम्यां पूर्णिमायां तु श्रेयान्निःश्रेयसं गतः ॥ ५ ॥
भाद्रे कृष्णस्य सप्तम्यां गर्भं शान्तिरवातरत्।
गर्भावतरणं षष्ठ्यां सुपार्श्वस्य सितेऽभवत् ॥ ६ ॥
पुष्पदन्तस्य निर्वाणं शुक्लाष्टम्यामजायत।
श्रितः शुक्लचतुर्दश्यां वासुपूज्यः परं पदम् ॥ ७ ॥
आश्विनेऽभूद्द्वितीयायां कृष्णे गर्भो नमेः सिते।
नेमेः प्रतिपदि ज्ञानं सिद्धोऽष्टम्यां च शीतलः ॥ ८ ॥
अनन्तः कार्तिके कृष्णे गर्भेऽभूत्प्रतिपद्दिने।
चतुर्थ्यां शंभवाधीशः केवलज्ञानमाप्तिवान् ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्मप्रभस्त्रयोदश्यां प्राप्तो जन्मव्रते शिवम् ।
दर्शे वीरो द्वितीयायां कैवल्यं सुविधिः स्थितः ॥ १० ॥
षष्ठ्यां गर्भोऽभवन्नेमेर्द्वादश्यां केवलोद्भवः ।
अरनाथस्य पक्षान्ते संभवेशस्य जन्म च ॥ ११ ॥
मार्गे दशम्यां कृष्णेऽगाद्वीरो दीक्षां जनिव्रते ।
सुविधेः पक्षतौ शुक्ले दशम्यां त्वरदीक्षणम् ॥ १२ ॥
एकादश्यां जनुर्दीक्षे मल्लेर्ज्ञानं नमेस्तथा ।
अरजन्म चतुर्दश्यां पक्षान्ते सम्भवव्रतम् ॥ १३ ॥
पौषकृष्णे द्वितीयायां मल्लिः कैवल्यमासदत् ।
चंद्रप्रभस्तथा पार्श्व एकादश्यां जनिव्रते ॥ १४ ॥
शीतलस्तु चतुर्दश्यां कैवल्यमुदमीमिलत् ।
शांतिनाथो दशम्यान्तु शुक्ले कैवल्यमापिवान् ॥ १५ ॥
एकादश्यान्तु कैवल्यमजितेशोऽभिनन्दनः ।
चतुर्दश्यां पूर्णिमायां धर्म्मश्च लभते स्म तत् ॥ १६ ॥
माघे पद्मप्रभः कृष्णे षष्ठ्यां गर्भमवातरत् ।
शीतलस्य जनुर्दीक्षे द्वादश्यां वृषभस्य तु ॥ १७ ॥
मोक्षोऽभवच्चतुर्दश्यां दर्शे श्रेयांसकेवलम् ।
शुक्लपक्षे द्वितीयायां वासुपूज्यस्य केवलम् ॥ १८ ॥
चतुर्थ्यां विमलो जन्मदीक्षे षष्ठ्यां च केवलम् ।
नवम्यामजितो दीक्षां दशम्यां जन्म चासदत् ॥ १९ ॥
अभिनंदननाथस्य द्वादश्यां जन्मनिष्क्रमौ ।
धर्म्मस्य जन्मतपसी त्रयोदश्यां बभूवतुः ॥ २० ॥
चतुर्थ्यां फाल्गुने कृष्णे मुक्तिं पद्मप्रभो गतः ।
षष्ठ्यां सुपार्श्वः कैवल्यं सप्तम्यां चाप निर्वृतिम् ॥ २१ ॥
सप्तम्यामेव कैवल्यमोक्षौ चन्द्रप्रभोऽभजत् ।
नवम्यां सुविधिर्गर्भमेकादश्यां तु केवलम् ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वृषो, जन्मव्रते तद्वच्छ्रेयान्मुक्तिं तु सुव्रतः ।
द्वादश्यां वासुपूज्यस्तु चतुर्दश्यां जनिव्रते ॥२३॥
अरः शुक्ले तृतीयायां गर्भं मल्लिस्तु निर्वृतिम् ।
पंचम्यां प्रापदष्टम्यां गर्भं श्रीसंभवोऽपि च ॥२४॥
चैत्रे चतुर्थ्यां कृष्णेऽभूत्पार्श्वनाथस्य केवलम् ।
पंचम्यां चन्द्रभो गर्भमष्टम्यां शीतलोऽश्रयत् ॥२५॥
नवम्यां जन्मतपसी वृषभस्य बभूवतुः ।
दर्शेऽनंतस्य कैवल्यं मोक्षोऽरस्याऽभवत्तथा ॥२६॥
शुक्लप्रतिपदा गर्भे मल्लिः कुन्थुस्तृतीयया ।
ज्ञानेऽजितोऽभूत्पंचम्यां मोक्षे षष्ठ्यां च संभवः ॥२७॥
एकादश्यां जनिर्ज्ञानमोक्षान्सुमतिरुद्भवम् ।
वीरः प्राप्तस्त्रयोदश्यां पद्माभोंऽत्येऽह्नि केवलम् ॥२८॥
पार्श्वः कृष्णे द्वितीयायां वैशाखे गर्भमाविशत् ।
नवम्यां सुव्रतो ज्ञानं दशम्यां च जनिव्रते ॥२९॥
धर्मो गर्भं त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां नमिः शिवम् ।
शुक्ले प्रतिपदि प्राप कुन्थुर्जन्मतपः शिवम् ॥३०॥
प्राप्तोऽभिनन्दनः षष्ठ्यां गर्भमोक्षे तु दीक्षणम् ।
नवम्यां सुमतिर्वीरो दशम्यां ज्ञानमक्षयम् ॥३१॥
श्रेयान् ज्येष्ठेऽसिते षष्ठ्यां दशम्यां विमलोऽपि च ।
गर्भं समाश्रितोऽनन्तो द्वादश्यां जन्मनिष्क्रमौ ॥३२॥
शान्तिः श्रितश्चतुर्दश्यां जन्मदीक्षाशिवश्रियः ।
अमावास्या दिने गर्भमवतीर्णोऽजितेश्वरः ॥३३॥
शुक्ले चतुर्थ्यां निर्वाणं प्राप्तो धर्मो जिनेश्वरः ।
सुपार्श्वनाथो द्वादश्यां जनिप्रव्रजिते स्थितः ॥३४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतीमां वृषभादीनां पुष्यत्कल्याणमालिकाम् ।
करोति कण्ठे भूषां यः स स्यादाशाधरेडितः ॥३५॥

॥ इत्याशाधरविरचिता कल्याणमाला ॥

यह कल्याणमाला १३ वीं शताब्दी के अंत की रचना है और कल्याण रास इससे पहिले की १३ वीं शताब्दी के मध्यान्तर की रचना है। दोनों की वर्णनशैली एक सी है सिर्फ भाषा का भेद है। दोनों में क्रमशः (आषाढादि) मास (कृष्ण शुक्ल) पक्ष और (प्रतिपदादि) तिथियां दी हैं जिससे मास पक्ष तिथि की कोई इधर-उधर गड़-बड़ हो तो झट पकड़ में आ सकती है। कल्याणक रास में इसके सिवा एक खूबी और पाई जाती है—उसमें प्रत्येक मास की साथ-साथ कल्याणक संख्या और दिन संख्या भी दे दी है।

दोनों रचनाओं में पंच कल्याणक तिथियाँ समान होते हुए भी एक जगह अन्तर पाया जाता है—कल्याणक रास में धर्मनाथ का गर्भ वैशाख शुक्ला ८ दिया है जब कि कल्याणमाला में वैशाख कृष्ण १३ दिया है। वैशाख कृष्ण १३ (रेवती नक्षत्र) ही उत्तर पुराण और धर्मशर्माभ्युदय में दिया है अतः यही प्रामाणिक है। उत्तर पुराण में तिथि के साथ नक्षत्र भी दिये हैं जिनके द्वारा—ज्ञानपीठादि से प्रकाशित उत्तर पुराण के एतद्विषयक पाठ और अर्थ में जो कहीं-कहीं गलतियाँ पाई जाती हैं उनका समुचित संशोधन हो सकता है।

आशाधर ने उत्तर पुराण ही की तिथियों को उनके साथ दिये नक्षत्र से मिलान कर अपनी कल्याणमाला में दिया है अतः कल्याणमाला का पाठ शुद्ध और प्रामाणिक है।

हिन्दी संस्कृतादि के पूजा पाठों और नकशों आदि में परस्पर विभिन्न पंचकल्याणक तिथियाँ पाई जाती हैं वे काफी अशुद्ध हैं आगे पंचकल्याणक तिथियों का एक शुद्ध नकशा दिया जाता है पाठक लाभ उठावें :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—पंचकल्याणक शुद्ध तिथियाँ—

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष
ऋषभ	आषा.कृ.२	चै.कृ.९	चै.कृ.९	फा.कृ.११	मा.कृ.१४
अजित	जे.कृ.१५	मा.शु.१०	मा.शु.९	पौ.शु.११	चै.शु.५
संभव	फा.शु.८	का.शु.१५	मृग.शु.१५	का.कृ.४	चै.शु.६
अभि.	वै.शु.६	मा.शु.१२	मा.शु.१२	पौ.शु.१४	वै.शु.६
सुमति	श्रा.शु.२	चै.शु.११	वै.शु.९	चै.शु.११	चै.शु.११
पद्म	मा.कृ.६	का.कृ.१३	का.कृ.१३	चै.शु.१५.	फा.कृ.४
सुपार्श्व	भा.शु.६	ज्ये.शु.१२	ज्ये.शु.१२	फा.कृ.६	फा.कृ.७
चन्द्र	चै.कृ.५	पौ.कृ.११	पौ.कृ.११	फा.कृ.७	,, ,, ,,
पुष्प	फा.कृ.९	मृग.शु.१	मृग.शु.१	का.शु.२	भा.शु.८
शीतल	चै.कृ.८	मा.कृ.१२	मा.कृ.१२	पौ.कृ.१४	आश्वि.शु.८
श्रेयांस	ज्ये.कृ.६	फा.कृ.११	फा.कृ.११	मा.कृ.१५	श्रा.शु.१५
वासु	आषा.कृ.६	फा.कृ.१४	फा.कृ.१४	मा.शु.२	भा.शु.१४
विमल	ज्ये.कृ.१०	मा.शु.४	मा.शु.४	मा.शु.६	आषा.कृ.८
अनंत	का.कृ.१	ज्ये.कृ.१२	ज्ये.कृ.१२	चै.कृ.१५	चै.कृ.१५
धर्म	वै०कृ०१३	मा.शु.१३	मा.शु.१३	पौ.शु.१५	ज्ये.शु.४
शांति	भा.कृ.७	ज्ये.कृ.१४	ज्ये.कृ.१४	पौ.शु.१०	ज्ये.कृ.१४
कुन्थु	श्रा.कृ.१०	वै.शु.१	वै०शु०१	चै.शु.३	चै.शु.१
अर	फा.शु.३	मृग.शु.१४	मृग.शु.१०	का.शु.१२	चै.कृ.१५
मल्लि	चै.शु.१	मृग.शु.११	मृग.शु.११	पौ.कृ.२	फा.शु.५
सुव्रत	श्रा.कृ.२	वै.कृ.१०	वै.कृ.१०	वै.कृ.९	फा.कृ.१२
नमि	आश्वि.कृ.२	आषा.कृ.१०	आषा.कृ.१०	मृग.शु.११	वै.कृ.१४
नेमि	का.शु.६	श्रा.शु.६	श्रा.शु.६	आश्वि.शु.१	आषा.शु.७
पार्श्व	वै.कृ.२	पौ.कृ.११	पौ.कृ.११	चै.कृ.४	श्रा.शु.७
वीर	आषा.शु.६	चै.शु.१३	मृग.कृ.१०	वै.शु.१०	का.कृ.१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ श्लोकों के अर्थ पर विचार

१—दीक्षा योग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः ।
मनोवाक्कायधर्माय, मताः सर्वेऽपि जंतवः ॥ ७९१ ॥
(यशस्तिलक चंपू उत्तरखंड—पृष्ठ ४०५)

पं० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने इस श्लोक के द्वितीय चरण को "चतुर्थश्च विधोचितः" इस रूप में बदल कर अनेकांत वर्ष १ पृ० ११, वर्ष ११ पृष्ठ १३ एवं 'महावीर का सर्वोदय तीर्थ' पुस्तिका पृष्ठ २१–२२ तथा 'सूर्य प्रकाश परीक्षा' पृष्ठ ११८ में निम्न प्रकार अर्थ किया है:– "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनों वर्ण (आम तौर पर) मुनि दीक्षा के योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधि के द्वारा दीक्षा के योग्य हैं ।"

समीक्षा:—मुख्तार साहब ने जो द्वितीय चरण को बदला है वह निराधार प्रतीत होता है क्योंकि मुद्रित व प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में ऊपर मुजब ही पाठ पाया जाता है । और फिर विधि के द्वारा जो शूद्र को मुनि दीक्षा के योग्य बताया है वह विधि भी किसी जैन शास्त्र में देखने में नहीं आती अतः जो सर्वोदय (?) की भावनावश मनःकल्पित पाठ व अर्थ की योजना की गई है वह समुचित प्रतीत नहीं होती । यह प्रकरण 'दानविधि' नाम के ४३वें कल्प का है अतः मेरे खयाल से इसका ठीक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण दीक्षा के योग्य हैं और सच्छूद्र को सम्मिलित कर चार वर्ण विधोचित आहार (दान) के योग्य हैं ।

प्रश्न—'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' कैसे होता है ?

समाधान—इसी यशस्तिलक के पृष्ठ ४०४ पर "विधा विशुद्धिश्च नवोपचाराः" पद देखिये वहाँ 'विधा' का अर्थ 'आहार' ही किया है। सागार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मामृत में भी 'विधा' शब्द 'आहार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देखो अध्याय ७ श्लोक ३९ की स्वोपज्ञ टीका।

प्रश्न—शूद्र आहारदान कैसे कर सकता है ?

समाधान—सच्छूद्र उत्तम श्रावक (क्षुल्लक) तक हो सकता है अतः अष्टमूल-गुणादि को धारण कर श्रावक संज्ञा को प्राप्त हुए सच्छूद्र के आहार दान देने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

२—अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः ॥ ८५५ ॥

(यशस्तिलक चंपू उत्तरखंड पृष्ठ ४१०)

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अनेकान्त वर्ष १० कि० ११–१२ में 'ऐलक पद कल्पना' शीर्षक लेख में तथा पं० हीरालालजी सिद्धांत शास्त्री ने वसुनन्दि श्रावकाचार की अपनी प्रस्तावना में पृष्ठ ५० पर इसका निम्न प्रकार अर्थ किया है—"पूर्व पूर्व प्रतिमारूप व्रत में स्थित होकर अवधि व्रत पर आरोहण करे। सोमदेव 'अवधि व्रत' पद के द्वारा श्वेतांबर परम्परा के समान प्रतिमाओं के नियत काल रूप अवधि का उल्लेख कर रहे हैं या अन्य कोई अर्थ है ?" (निश्चित नहीं) ॥

समीक्षा—अनेकान्त वर्ष ५ कि० १ में पं० दीपचन्दजी पांड्या ने 'यशस्तिलक का संशोधन' नाम के अपने महत्त्वपूर्ण लेख में आज से कई वर्ष पूर्व 'अवधि' के स्थान पर साधार 'अध्यधि' शुद्ध पाठ को सुझा दिया था पर खेद है कि विद्वान् ध्यान ही नहीं देते, अगर ध्यान दिया जाता तो श्वेतांबरोक्त कल्पना करने की जरूरत ही नहीं होती। पाठ को शुद्ध कर लेने पर अर्थ इस तरह सुसंगत हो जाता है—"पूर्व-पूर्व के व्रतों (प्रतिमाओं) को पालन करते हुए आगे-आगे के व्रतों को धारण करना चाहिये" यही बात कविकुल गुरु आचार्य समन्तभद्र ने कही है देखो रत्नकरण्ड कारिका १३६ "स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रमविवृद्धाः ॥

३—विमोक्षसुख चैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिका
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाऽहेतवः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता किन्तु ता-
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥

(पात्रकेसरी स्तोत्र, ३७)

जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष २, किरण १, पृष्ठ ६ में श्री कामता प्रसाद जी ने, चर्चा सागर समीक्षा पृ० १२४ में पं० परमेष्ठीदास जी ने, सूर्य प्रकाश परीक्षा पृ० ५९ में, युगवीर निबन्धावली पृ० २०२ में पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने, अनेकांत वर्ष १२ किरण १० पृ० ३२१ में पं० परमानन्दजी शास्त्री ने तथा 'जैनमित्र' माघ सुदी ५ वीर सं० २४५८ में सुरेशचन्दजी न्यायतीर्थ ने इस श्लोक का निम्न प्रकार अर्थ किया है—"सर्वज्ञ देव ने मुक्ति-सुख के लिए चैत्य–निर्माण, दान, पूजनादि क्रियाओं का उपदेश नहीं दिया है क्योंकि ये क्रियायें प्राणियों के मरण और पीडन की कारण हैं, किन्तु गुणानुरागी श्रावकों ने स्वयं ही उनका अनुष्ठान कर लिया है।"

समीक्षा—यह अर्थ ग्रन्थसन्दर्भानुकूल और आगम संमत प्रतीत नहीं होता, इससे तो उल्टा मूर्ति-पूजन विरोधी तारणपन्थी और स्थानकवासी संप्रदाय के मंतव्य का समर्थन होता है जो किसी तरह उचित नहीं, अतः मेरे खयाल से इस श्लोक का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—मोक्ष और अभ्युदय की कारणीभूत चैत्य निर्माण, दान, पूजनादि क्रियायें जो अनेक प्राणियों के मरण और पीडन की हेतु हैं उनका आप सर्वज्ञ देवने उपदेश नहीं दिया है 'तो क्या' भक्ति से भरे हुए श्रावकों ने स्वयं ही उनका विधान कर लिया है ?

[1]यहाँ कवि ने "किन्तु (अव्यय)" पद देकर इस श्लोक को प्रश्नात्मक ढंग से बनाया है और उसका उत्तर आगे के श्लोक में दिया है जो निम्न प्रकार है—

---

१. कोई यहाँ 'किम् तु' पाठ माने तो भी उसका अर्थ "तो क्या' (प्रश्नात्मक) ही है, "किन्तु-परन्तु" अर्थ नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वया त्वदुपदेशकारिपुरुषेण वा केनचिद्
कथंचिदुपदिश्यतेस्म जिन ! चैत्यदानक्रिया ॥
अनाशकविधिश्च केशपरिलुंचनं चाथवा ।
श्रुतादनिधनात्मकादधिगतं प्रमाणांतरात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—आपने या आपके धर्म प्रचारक गणधर देवादि ने चैत्य निर्माण, दान, उपवास, केशलोंचादि (प्राणीवधात्मक) क्रियाओं का कथंचिद् उपदेश दिया है अथवा अनादि निधन श्रुत रूप प्रमाणांतर से भक्त लोगों ने यह सब जान लिया है।

ऐसी प्रश्नोत्तरात्मक शैली इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी बहुत पाई जाती है। इस श्लोक के 'त्वया' शब्द से साफ सिद्ध हो जाता है कि—सर्वज्ञ देव ने ही इन क्रियाओं का उपदेश दिया है। आगे के श्लोक में फिर बताया है कि—ऐसा प्राणी पीडात्मक उपदेश देने वाले भगवान् के पाप-बन्ध क्यों नहीं होता ? उत्तर—प्राणी पीड़ा न तो नियमतः पाप की और न सर्वथा पुण्य की ही कारण है, तप-दानादि भी एकांततः पुण्य प्रसाधक नहीं है, इस तरह हे सत्यवाक् ! आपका मत विचित्र नय रूपी भंग-जालों से गहन—दुर्गम है ॥ ३९ ॥

समस्त ब्रह्मांड सूक्ष्म जीवों से भरा हुआ है अतः हिंसा से नहीं बचा जा सकता तथा तप भी स्व और पर जीवों के संताप का कारण होने से हिंसात्मक ठहरता है इस तरह सर्वथा ही पाप बन्ध माना जायगा तो मुक्ति असंभव ही हो जायगी, पर ऐसा नहीं है, प्रमाद रहित प्रवृत्ति करने वाले वीतराग पुरुषों के (द्रव्य) हिंसा होते हुए भी पापबन्ध नहीं होता। देखो श्लोक ४५, ४६।

प्रश्न—तीर्थंकर भगवान् ने गृहस्थावस्था में भले ही जिनपूजा का उपदेश दिया हो, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद उपदेश दिया हो ऐसा कोई उल्लेख अभी तक किसी ग्रन्थ में देखने में नहीं आया। (अनेकान्त वर्ष १२ पृष्ठ १२१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान—तीर्थंकर छद्मस्थावस्था में धर्मोपदेश नहीं देते, केवलज्ञान होने पर ही धर्मदेशना करते हैं। तीर्थंकरों ने द्वादशांग का उपदेश दिया है उसमें प्रथम ही 'आचारांग' और सातवें 'उपासकाध्ययनांग' में मुनि व श्रावकों के आचार का विधान किया है और श्रावकों का मुख्य धर्म कुन्दकुन्दादि आचार्यों के मत से दान और पूजा है तब वह कैसे सर्वज्ञ कथित नहीं है ? अवश्य है। अनेक शास्त्रों में सर्वज्ञ देशना के अन्तर्गत मुनि व श्रावकों के आचार का कथन पाया जाता है, अमितगति ने अपने श्रावकाचार में स्पष्ट लिखा है कि—"दान पूजादि श्रावक धर्म जिनदेव सम्मत हैं" देखो अध्याय ९ श्लोक १। अगर दान पूजा तप-संयमादि का उपदेश दोषास्पद होता तो महाव्रती मुनीश्वर क्यों ऐसे (मूलाचार रत्नकरण्ड श्रावकाचारादि) ग्रन्थों का निर्माण करते ? अनेक शास्त्रों में यह कथन पाया जाता है कि—तीन लोक में ऐसे बहुत से जैन मन्दिर और प्रतिमायें हैं जो श्रावक निर्मित न होकर अकृत्रिम और अनादि निधन हैं। तथा आगम में जिन बिम्ब दर्शन को तिर्यंचों तक के लिये सम्यक्त्व का कारण बताया है, अतः यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि—श्रावकों ने सर्वथा अपने आप ही चैत्य पूजादि क्रियाओं की कल्पना नहीं कर ली है बल्कि वे अनादि निधन, आगम सम्मत और सर्वज्ञ कथित हैं।

प्रश्न—स्वयं भगवान अपने मुँह से अपनी पूजा का उपदेश कैसे दे सकते हैं ? यह तो सभ्यता के विरुद्ध है।

समाधान—भगवान सामान्य तौर से भूत भविष्यतादि के सिद्ध और अरहन्त वगैरह के परिपूजन का उपदेश देते हैं। किसी एक को या अपने को लक्ष्य करके ऐसा उपदेश नहीं देते।

भगवान वस्तुतत्त्व का निरूपण करते हुए वीतरागभाव से चैत्य, पूजा, दान, तप संयमादि सागार अनगार धर्म का उपदेश देते हैं, आदेश नहीं देते। उपदेश और आदेश में बहुत अन्तर है, एक सेवक भी हित की दृष्टि से अपने स्वामी को कर्तव्यज्ञापन (उपदेश) कर सकता है पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदेश—हुकुम नहीं कर सकता अतः उपदेश देना दोषात्मक नहीं है,—आदेश देना दोषात्मक हो सकता है।

४—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः, दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदंति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः॥

(हितोपदेश-प्रस्ताविका श्लोक ३१, पंचतंत्रमित्रसम्प्राप्ति श्लोक १३७)

इस श्लोक का प्रायः सभी विद्वान् यह अर्थ करते हैं कि—उद्योगी पुरुष को ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। कायर पुरुष ही ऐसा कहते हैं कि—'भाग्य से ही सब कुछ मिलता है, अतः भाग्य को ठोकर मारकर आत्मशक्ति के साथ पुरुषार्थ करना चाहिए। यत्न करने पर भी अगर कार्यसिद्धि न हो तो इसमें किसका दोष ?

समीक्षा—इसी अर्थ में जहाँ भाग्य को ठोकर लगाकर पुरुषार्थ चैतन्य करने कराने की बात कही गई है वहीं आगे जाकर यह भी कह दिया गया है कि—यत्न करने पर भी कार्य-सिद्ध न हो तो इसमें किसका दोष ? इस तरह अनुपाय, निराशा और अनुत्साह को प्रश्रय दिया गया है। पर जब हम प्रकरण को देखते हैं तो उसमें अन्य अनेक ऐसे श्लोक हैं जिनमें उद्यम को खूब पुष्ट किया गया है अतः यह अर्थ कवि-संमत प्रतीत नहीं होता। मेरे खयाल से अगर अंतिम चरण का अर्थ इस प्रकार किया जाय तो और भी ज्यादा अच्छा रहे—"यत्न करने पर भी अगर कार्यसिद्धि न हो तो कोऽत्र दोषः = इसमें कोई (अपूर्व) दोष है (यह समझना चाहिए और फिर पुरुषार्थ करना चाहिए, ऐसा कोई कारण नहीं कि—उद्यमी को सिद्धि वरण न करे)

इस लेख का सिर्फ इतना उद्देश्य है कि—विद्वद्गण और भी सावधानी के साथ लेखनी चलायें, तथा अपने किसी अभिलषित मंतव्य की पुष्टि के लिए शास्त्रविपर्यास न करें। जब मंजे हुए विद्वान् ही अन्यथा लिखेंगे तो प्रामाणिक लेखन की किससे उम्मेद की जायेगी।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'विधा' के 'आहार' अर्थ पर पं० फूलचन्द जी का पत्र और उसका उत्तर तथा श्री इन्द्रलाल जी शास्त्री की आपत्तियों का निरसन

श्रीयुक्त पं० रतनलाल जी सा० सप्रेम जयजिनेन्द्र

'जैन-संदेश' ता० २४-४-५८ में आपका लेख देखा। उसमें आपने 'विधा' का अर्थ 'आहार' किया है। यह ठीक नहीं है। सागारधर्मामृत ७-३९ में विध शब्द प्रकारवाची है, आहारवाची नहीं। 'चतुर्विधं उपवासं' इसका अर्थ चार प्रकार के आहार का त्याग जिसमें है ऐसे उपवास को किया है कोई इसका अर्थ चार प्रकार का उपवास न करले इसलिए अपनी टीका में उन्होंने 'चतुर्विधं' का, चतस्रो विधा आहाराः त्याज्या यस्मिन् असौ चतुर्विधः, यह अर्थ कर दिया।

यशस्तिलक चंपू में 'चत्वारश्च विधोचिताः, यह पाठ है यह ठीक है। यह भी संभव है कि हस्तलिखित प्रतियों में यही पाठ मिलता हो पर उसका सम्बन्ध 'दीक्षायोग्याः' पद के साथ है दान के साथ नहीं। अर्थ करते समय जिसको जितना अर्थ इष्ट हो उतना ही करे यह अन्य बात है अस्तु, ये प्रासंगिक सूचनायें हैं। उपयुक्त लगे तो स्वीकार करलें अन्यथा छोड़ दें। मुझे आपसे जो मुख्य बात पूछनी है कि—शूद्र क्षुल्लक तक के व्रत धर सकता है यह आपने किन-किन ग्रन्थों में देखा है। कृपया प्रमाण सहित अवश्य ही लिखने की कृपा करें। व्यक्तिगत जिज्ञासावश ही आपसे यह पृच्छा की है। आशा है, उत्तर यथासंभव शीघ्र देने की कृपा करेंगे।

आपका—फूलचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर

'विघ' नहीं 'विधा' स्त्रीलिंग शब्द है। जैसा कि आशाधर जी के 'चतस्रो' स्त्रीलिंग विशेषण से संसूचित होता है। 'विधा' का अर्थ स्पष्ट रूप से आशाधार जी ने आहार ही किया है, जो कि उन्हें अभिप्रेत था। 'विधा' का अर्थ अगर 'आहार' नहीं होता तो आशाधर जी जैसे बहुश्रुत विद्वान् उसका उस अर्थ में कभी प्रयोग नहीं करते। अमितगति-श्रावकाचार परि० १२ श्लोक १२३—"चतुर्णां तत्र भक्तानां त्यागोवर्ज्य श्चतुर्विधाः" में भी 'चतुर्विधाः' का यही अर्थ किया गया है।

मैंने अपने लेख में यशस्तिलक उत्तरखण्ड पृष्ठ ४०४ का भी एक प्रमाण दिया था, जिस पर फूलचन्द जी सा० का ध्यान गया नहीं दिखता है, किन्तु वहाँ दिये हुए 'विधा-विशुद्धि' शब्द से स्पष्टतया 'विधा' का अर्थ आहार ही सिद्ध होता है और कोई दूसरा अर्थ वहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि 'विधा-विशुद्धि' शब्द नवधा-भक्ति के अन्तर्गत आहार शुद्धि नाम की ९ वीं भक्ति के रूप में वहाँ प्रयुक्त किया गया है।

यशस्तिलक चम्पू से ही एक और प्रमाण देता हूँ। देखो—पूर्व खण्ड, पृष्ठ १३८, श्लोक १२७ की श्रुतसागरी टीका जिसमें साफ तौर से 'विधा-वृत्तिः' का अर्थ 'आहारप्रवृत्तिः' दिया हुआ है।

ये तो हुआ साहित्यिक प्रमाण। अव कोशों से भी इसकी पुष्टि की जाती है। देखो—(क) अमरकोष, काण्ड ३, नानार्थ वर्ग क्षीरस्वामी कृत टीका—च शब्दाद् हस्त्यश्वादि भोजने वेतने च विधा।

(ख) अमरकोष की भानुजी दीक्षित कृत व्याख्या सुधा—"विधा गजान्ने ऋद्धौ च प्रकारे वेतने विधौ" इति विश्वः।

(ग) अनेकार्थ संग्रह (हेमचन्द्र कृत) द्वितीय कांड श्लोक २५२—विद्धं सदृग्वेधितयोः क्षिप्ते विधर्द्धिमूल्ययोः। प्रकारेभान्नविधिषु विधि-र्ब्रह्मविधानयोः॥

२—मुख्तार साहब के कल्पित 'चतुर्थश्च' पाठ को जो फूलचन्द जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सा० ने ठीक न मानकर 'चत्वारश्च' पाठ को ही ठीक माना है वह समुचित है, किन्तु उसका सम्बन्ध जो 'दीक्षायोग्यः' पद के साथ बताया है वह किसी तरह उचित नहीं। क्योंकि जब पूर्व पद में दीक्षा के योग्य तीन वर्ण ही बताये हैं तो फिर आगे के पद में चारों वर्णों को विधि के द्वारा योग्य कैसे बनाया जा सकता है? सम्भवतः इसी आपत्ति को लक्ष्यकर मुख्तार सा० ने 'चतुर्थश्च' पाठ की योजना की है, किन्तु यह सब 'विधा' शब्द के ठीक अर्थ को न समझने का परिणाम है अगर 'विधोचिताः' का अर्थ प्रकरणानुसार 'आहार दान के योग्य' कर लिया जाता है तो फिर कोई असंगति नहीं रहती। यह श्लोक दानविधि नाम के ४३ वें कल्प का है, इसके 'चत्वारश्च विधोचिताः' पद में दान के स्वामी—अधिकारी बताये हैं। यही बात अनगारधर्मामृत अ० ४, श्लोक १६७ की टीका में दिये हुए—"अन्यैः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रैः स्वदातृगृहात्" वाक्य से जानी जाती है। इसके सिवा एक बात और है—भट्टारक सोमदेवाचार्य का वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध लिखना संभव नहीं, इस दृष्टि से भी शूद्र को दीक्षा योग्य बताना उनकी प्रकृति के विरुद्ध ज्ञात होता है अतः यहाँ 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' ही है यह भली-भाँति सिद्ध होता है।

'चत्वारश्च' का अर्थ चार होता है न कि एक, इससे 'जिसको जितना अर्थ इष्ट हो उतना ही करें' यह नहीं हो सकता।

अन्त में फूलचन्द जी सा० ने 'शूद्रक्षुल्लक तक के व्रत धर सकता है, इस विषय में मुझसे प्रमाण पूछे हैं अतः नीचे कुछ प्रमाण दिये जाते हैं।

(१) आदिपुराण पर्व ४०, श्लोक १७०-१७१ सच्छूद्रों को दीक्षा के अयोग्य बताते हुए उन्हें एक शाटकधारी (क्षुल्लक) तक होना बताया है।

(२) पर्व ३९, श्लोक १५८ में कुलगोत्रादि से विशुद्ध को ही दीक्षा-योग्य बताया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) पूज्यपादकृत जैनेन्द्रव्याकरण,–वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानां' सूत्र और उसकी अभयनंदिकृत महावृत्ति।

(४) प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १५४–भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम्।

(५) छेदपिण्ड गाथा २१९ से २५५ तथा प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १०६ से ११३ सटीक।

(६) यशस्तिलकचम्पू—"दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः।"

(७) उत्तरपुराण पर्व ७४, श्लोक ४९३–तीन वर्णों को ही शुक्लध्यान का अधिकारी बताया है शूद्र को नहीं।

(८) ब्राह्मणः क्षत्रियाः वैश्याः योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे।
कुल हीने न दीक्षास्ति जिनेन्द्रोदिष्टशासने ॥१०६॥
न्यक्कुलानामचेलैकदीक्षादायी दिगम्बरः।
जिनाज्ञा कोपतोऽनंतसंसारः समुदाहृतः ॥१०७॥
प्रायश्चित्तचूलिका।

(९) प्रवचनसार अ० ३ गा० २५ की जयसेन कृत टीकान्तर्गत "वण्णेसु तीसु एक्को" गाथा जिसका संस्कृत रूपान्तर प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १०६ की टीका में है, दोनों में देखो।

(१०) ज्ञानानन्द श्रावकाचार पृष्ठ ६३-६४ : स्पर्शशूद्र (क्षुल्लक) लोहे का पात्र राखे हैं। (यह उसका वाह्य चिन्ह है) अरि ऐलक अर्जिकाजी तो क्षत्री, वैश्य, ब्राह्मण ऊँच कुली ही नियम करि उत्कृष्ट श्रावक के व्रत धारे हैं। अर अस्पर्शशूद्र के प्रथम प्रतिमा का धारक जघन्य श्रावक तां को भी व्रत नांही संभवे हैं।

(११) दौलतक्रियाकोश—श्रीगुरु तीनवर्ण विन कदे, नहिं मुनि ऐलितनें व्रत दे। ९२९।

(१२) अन्य भाषा के पंडितों ने भी यही लिखा है। देखो श्रावकधर्म संग्रह (पं० दरयावसिंहजी सोधिया कृत) व पं० टोडलमलकृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्षमार्ग प्रकाशक में 'शूद्रमुक्ति निषेध' प्रकरण एवं अन्य आचार्यों का शूद्रमुक्ति-निषेध विवेचन।[1]

६ मई ५८ के 'जैनदर्शन' पत्र में इन्द्रलाल शास्त्री ने भी यशस्तिलक के पूर्वोक्त श्लोक पर अपने विचार प्रकट किये हैं नीचे उनकी समीक्षा की जाती है।

इन्द्रलालजी—श्री रतनलालजी ने जो 'विधा' का 'आहार' अर्थ किया है वह उचित नहीं है, आहार अर्थ करने से श्लोक की अर्थ संगति भी नहीं बैठती। वास्तव में यहाँ 'विधा' का अर्थ समृद्धि अथवा वेतन (भरण) है। यशस्तिलक और सागारधर्मामृत दोनों में 'विधा' शब्द का अर्थ 'प्रकार' है आहार नहीं। यशस्तिलक में जो 'विधा विशुद्धि' शब्द है उसका अर्थ भी प्रकार (विधि) की विशुद्धि ही है।

समीक्षा—पूर्व में अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है कि—विधा का अर्थ आहार है और वह यहाँ सर्वथा प्रकरण संगत एवं संदर्भानुकूल है। सारे श्लोक का अर्थ इस प्रकार सुसंगत है—"दीक्षा के योग्य तीन वर्ण हैं और आहारदान के योग्य चार वर्ण हैं एवं मनवचनकाय से धर्म करने के अधिकारी सभी प्राणी हैं।"

इन्द्रलाल जी द्वारा किये गए 'विधा' शब्द के समृद्धि, वेतन अर्थ के साथ इस श्लोक की कोई संगति नहीं बैठती वह सब प्रकरण विरुद्ध और असंबद्ध है। इसी तरह 'विधाविशुद्धि' का अर्थ जो 'प्रकार की विशुद्ध' गया है वह और भी इन्द्रलालजी के संस्कृतज्ञान की तथा दुराग्रह की अच्छी तरह कलई खोल देता है। पूरा श्लोक इस तरह है—

---

१. निम्न ग्रन्थों को भी देखिये—

भावसंग्रह गाथा १००। मेधावीकृत धर्म संग्रह श्रावकाचार अ० ९ श्लोक २५२ से २५५। अनगार धर्मामृत अध्याय ९ श्लोक ८८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिग्रहोच्चासनपाद्यपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।
विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥

इसमें बताया है कि—"प्रतिग्रह, उच्चासन, पाद्य = पादोदक, पूजा, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और विधा (आहार) शुद्धि ये ९ उपचार-भक्तियाँ मुनियों की गृहस्थों को करना चाहिये। इससे साफ सिद्ध है कि—विधाविशुद्धि शब्द यहाँ आहार शुद्धि नाम की ९ वीं भक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसी हालत में इन्द्रलालजी सा० बताने का कष्ट करें कि प्रकार (विधि) की शुद्धि क्या चीज है! इसी तरह सागार-धर्मामृत में भी विधा का साफ साफ आहार अर्थ दिया गया है, देखो अध्याय ७ श्लोक ३९ की टीका।

अब मैं इस विषय में एक प्राचीन प्रमाण पेश करता हूँ—अनगार-धर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ६६ की टीका में पं० आशाधरजी ने यशस्तिलक के २ श्लोकों को निम्न-प्रकार उद्धृत किया है—दत्तं। केन ? गृहिणा गृहस्थेन ब्राह्मणाद्यन्यतमेन न शिल्प्यादिना तदुक्तं—(यशस्तिलक उत्तरार्ध पृष्ठ ४०५) शिल्पिकारुकवाक्पण्यसंभली पतितादिषु। देहस्थितिं न कुर्वीत लिंगिलिंगोपजीविषु॥ दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः। मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जंतवः॥

इसमें बताया गया है कि "शिल्पी, कारू, भाट कुटनी, पतित-भ्रष्ट, पाखंडी और साधुवेश से आजीविका करनेवाले के यहाँ मुनि देहस्थिति (आहार) न करे। दीक्षा योग्य तीन वर्ण हैं और आहार योग्य (जिनके यहाँ मुनि आहार कर सके या जो मुनि को आहार दे सकें) चार वर्ण हैं एवं मनवचनकाय से-धर्म-साधन के लिये सभी प्राणी अधिकारी हैं।" प्रथम श्लोक में उन शूद्रादि का निषेध किया है जो अभोज्य हैं और दूसरे श्लोक में वे शूद्रादि ग्रहण किये गये हैं जो भोज्य हैं। प्रायश्चित्त-चूलिका श्लोक १५४ की टीका में भोज्य का अर्थ इस प्रकार किया है—यदन्नपानं ब्राह्मण-क्षत्रियविट्शूद्राः भुञ्जन्ते। अर्थात् भोज्यशूद्र उन्हें कहते हैं जिनके यहाँ चारों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णवाले आहार कर सकते हैं। धर्मसंग्रह श्रा० अध्याय ९, श्लोक २२६ में भी शूद्र को दानादि का अधिकारी बताया है। अनगार धर्मामृत अ० ४, श्लोक १६७ की टीका में भी यही लिखा है। इस तरह चारों वर्णों को आहारदान का अधिकारी बताना सोमदेव का उचित ही है। इन श्लोकों को उद्धृत कर आशाधरजी ने भी अपना समर्थन जाहिर किया है—इसके सिवा इससे एक बात का और पता चलता है कि–"चत्वारश्च विधोचिताः" पाठ ही प्रामाणिक और सही है 'चतुर्थश्च विधोचितः' जो मुख्तार सा० का कल्पित पाठ है वह ठीक नहीं है। आशाधरजी ने आहारदाता के प्रकरण में इन श्लोकों को उद्धृत कर यह सिद्ध कर दिया है कि—'विधोचिताः' में विधा का अर्थ आहार ही है।

इद्रलालजी—यदि आज कोई वीतरागी आचार्य भी असंगतपाठ को संगत कर देता है तो उसे गिराने के लिये कितना होहल्ला मचाया जाता है जिसका उदाहरण संजद पद की चर्चा है। आचार्य श्री शान्तिसागरजी को भी लोगों ने भला-बुरा कहने में संकोच न किया।

समीक्षा—संजद पाठ को असंगत बताना भगवन्त पुष्पदन्तभूतबलि तथा आचार्य वीरसेन के साथ भी अनौचित्य करना है। आचार्य शान्तिसागरजी ने संजदपाठ को संगत नहीं किया बल्कि उसे निकाल दिया है जो एक प्रकार की अनधिकार चेष्टा कही जानी चाहिए। अगर लोगों ने इसका विरोध किया तो वह समुचित ही था, अपनी तुच्छबुद्धि से जिनवाणी का अङ्गच्छेद करना और समझाने पर भी निजाग्रह नहीं छोड़ना श्रुत का महान् अनादर है, जो भाई किसी व्यामोहवश गलत बातों का भी समर्थन करते कराते हैं वे भी श्रुतापराधी हैं। ऐसी ही प्रवृत्तियों से हीन आदेशों की परम्परा पड़ती है।

इस पर २६ जून के 'जैन दर्शन' में इन्द्रलाल जी शास्त्री, जयपुर वालों ने एक लेख और लिखा है, नीचे उसकी भी समीक्षा की जाती है।

इस लेख में इन्द्रलाल जी ने मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी सा० पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर छींटाकशी की है और उनकी ग्रंथपरीक्षाओं को अयुक्त कहा है किंतु आजतक इन्द्रलाल जी ने या उनकी मंडली ने ग्रंथपरीक्षाओं का जरा भी प्रतिवाद करने की हिम्मत तक नहीं की है, सोमसेन त्रिवर्णाचार के पं० पन्नालाल जी सोनी कृत अनुवाद की जो ग्रंथपरीक्षा के तीसरे भाग में समालोचना की गई है उसका भी जवाब आजतक नहीं लग पाया है, हिम्मत क्या करें और जवाब क्या लगे ! वे परीक्षायें लिखी ही बड़ी सावधानी और अकाट्य प्रमाणों के साथ गई हैं। बड़े-बड़े पुरुषों ने उन परीक्षाओं का लोहा माना है। जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा के बाद से ही पंडितों के पंडित श्री गोपालदास जी वरैया ने त्रिवर्णाचारों को विद्यालयों के पाठ्यक्रम से निकाल दिया था एवं इन परीक्षालेखों से प्रसन्न होकर दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् सेठ हीराचन्द जी नेमीचन्द जी सोलापुर वालों ने इनको मराठी में प्रकाशित कराया था।

इसमें कोई शक नहीं कि इन परीक्षालेखों ने जनता की स्वाभाविक बुद्धि को काफी प्रभावित किया है, और कूटलेखकों का अच्छी तरह पर्दाफाश कर दिया है—जब ४ पैसे की हांडी को भी भली प्रकार ठोक-बजाकर खरीदा जाता है तो जिसके साथ इस लोक और परलोक का हित सन्निहित हो उसे आँख मूँदकर कैसे मान्य किया जा सकता है—इस तथ्य को अब लोग बहुत कुछ समझने लग गये हैं। ग्रंथों के विषय में जो यह सम्यग्दर्शन लोगों में पैदा हुआ है इसका बहुत बड़ा श्रेय प्रायः इन परीक्षालेखों को ही है, इस समय अत्यन्त आवश्यकता है कि इनके परिवर्धित नूतन भव्य संस्करण सभी भाषाओं में प्रकाशित कराये जायें। अगर इस पुनीत कार्य को सिद्धान्त संरक्षिणी सभा व शास्त्री परिषद् अपने हाथ में ले ले तो वह बहुत हद तक अपना नाम सार्थक कर सकती है।

इन्द्रलाल जी:—'विधोचिताः' में 'विधा' का अर्थ भोजन भी माना जाय तो उसकी पूर्व वाक्य से संगति बिठाते हुए यही अर्थ हो सकता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि—जिनदीक्षा देने के योग्य तो तीन वर्ण हैं और चारों वर्ण आहारदान के योग्य हैं। तीन वर्ण को दीक्षा देने के योग्य बतलाया है उसी प्रकार चारों वर्णों को भोजन देने के योग्य बताया है, जब तीन वर्णों से दीक्षा लेने की बात नहीं किन्तु उन्हें देने की बात है तो चारों वर्णों के हाथ से यहाँ आहार लेने की बात कैसे टपक पड़ी ? परन्तु इन्हें तो यह सिद्ध करना है कि शूद्र के यहाँ भी खाया पीया जा सकता है और न खाना पीना शास्त्रप्रतिकूल है।"

समीक्षा—दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः चत्वारश्च विधोचिताः (दीक्षा-योग्य तीन वर्ण हैं और आहार-योग्य चार वर्ण हैं) इन मूल वाक्यों में कहीं भी सोमदेव ने 'देने' या 'लेने' की बात नहीं जोड़ी है, पर आपने इनके साथ सिर्फ 'देने' का ही संबंध जोड़कर जहाँ मुनि को तीन वर्णों के लिए दीक्षा देने का अधिकारी बताया है वहाँ मुनि को ही चार वर्ण के लिए आहार देने का भी अधिकारी बता दिया है सो क्या मुनि भी आहार देते हैं ? बताने का कष्ट करें। अगर नहीं देते हैं तो स्पष्टतः वे चारों वर्णों से आहार लेने के ही तो अधिकारी ठहरते हैं फिर आप इसे टपकना कैसे बताते हैं ? इसके सिवा "चारों वर्णों को भोजन देने के योग्य बताया है" आपके इन वाक्यों से भी तो यह अर्थ निकलता है कि—चारों वर्ण वाले मुनि आदि को आहार देने के योग्य हैं फिर आप इसका निषेध कैसे करते हैं ? अतः जो कुछ अर्थ घटित किया जाय वह शास्त्र संमत और प्रकरणानुसार होना चाहिये। इस अपेक्षा को ध्यान में लेने पर मूलवाक्यों से 'देने' और 'लेने' की दोनों बातें निम्न प्रकार सुघटित होती है, इससे श्रावक और साधु दोनों का एतद्विषयक कर्त्तव्यकर्म भी स्पष्ट हो जाता है:—

१—तीन वर्णों को ही मुनि दीक्षा दें = तीन वर्ण वाले ही मुनि-दीक्षा लें।

२—चारों वर्ण वाले आहार दे सकते हैं = मुनि चारों वर्णों से आहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ले सकते हैं। अर्थात्–जहाँ एक पक्ष के लिए देने की बात होती है वहाँ दूसरे पक्ष के लिए स्वतः ही लेने की बात घटित हो जाती है। इस साधारण बात को भी आप नहीं जानते दिखते हैं।

प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १५४ की टीका में कारु शूद्र के भेद भोज्य शूद्र के विषय में इस प्रकार लिखा है: "तदन्नपानं ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते" अर्थात्–जिनका भोजनपान चारों वर्णवाले करते हैं वे 'भोज्य शूद्र' हैं ऐसे शूद्रों को ही क्षुल्लक दीक्षा दी जानी चाहिए। इससे साफ फलित होता है कि–भोज्य शूद्र (कारु) जो क्षुल्लक दीक्षा का अधिकारी है वह मुनि को आहार देने के योग्य है–फिर आप कैसे इसका निषेध करते हैं? या तो आप इस ग्रंथ को मानने से इन्कार कीजिये या फिर अपनी मान्यता में संशोधन कीजिये।

यह प्रमाण मैंने अपने पूर्व लेख में भी दिया है पर आप उस पर क्यों ध्यान देने लगे, आप तो 'सत्' का अर्थ 'त्रिवर्ण' करके 'सच्छूद्र' को तीन वर्णमें से मानते हैं जब कि यह प्रमाण आपकी उस निर्मूल मान्यता का स्पष्ट खंडन करता है क्योंकि इसमें 'भोज्यशूद्र' को कारुशूद्र के भेद में दिया है इससे आप जो 'सत्' का विचित्र अर्थ करते हैं वह भी निरस्त हो जाता है

सोचने की बात है 'सच्छूद्र' में साफ 'शूद्र' शब्द पड़ा हुआ है जो चौथे शूद्र वर्ण को द्योतित कर रहा है, फिर भी न जाने किस व्यामोहवश उसका गलत अर्थ किया जा रहा है। मैं पूछना चाहता हूँ कि–क्या क्षुल्लक दीक्षा भी त्रिवर्ण को ही दी जाती है? भोज्यशूद्र (चौथे वर्ण) को नहीं? प्रायाश्चित्तचूलिका के उपर्युक्त प्रमाण पर ध्यान देने की कृपा करें।

ता० ६-५-५८ के 'जैनदर्शन' में आपने लिखा है—जो जाति वर्ण से सत् (त्रैवर्णिक) होते हुए भी शूद्रवृत्ति करे वह 'सच्छूद्र' है। सो ऐसी व्याख्या किस ग्रंथ में दी हुई है? इस वक्त ऐसे शूद्र कौन हैं? बताने का कष्ट करें। शास्त्रकारों ने तो 'सच्छूद्र' को स्पृश्यभोज्य और शोभन शूद्र ही लिखा है कहीं भी त्रैवर्णिक नहीं लिखा है। क्या आपका यह 'सच्छूद्र'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शूद्रवृत्ति बदलने पर शूद्रसंज्ञा से मुक्त हो जायेगा ? और फिर त्रिवर्ण में से कौनसे वर्ण को प्राप्त होगा ? और क्या यह मुनि दीक्षा भी ले सकेगा ? वृत्ति से वर्ण बदलने की बात आपको मान्य है क्या ? इन सब बातों का स्पष्ट उत्तर देने का कष्ट करें। इन्द्रनन्दिसहिता में शूद्र के कारु-अकारु भेद में सच्छूद्र असच्छूद्र भेद किये हैं और सच्छूद्र को पात्रदान का अधिकारी बताया है इससे स्पष्टतः 'सच्छूद्र' चौथा शूद्रवर्ण सिद्ध होता है। इन्द्रनंदि-संहिता का वह उल्लेख इस प्रकार है:—

सकृद्विवाहनियताः व्रतशीलादिसद्गुणाः ।
गर्भाधानाद्युपेता ये सच्छूद्राः कृषिजीविकाः ॥
पात्रदानं तु सच्छूद्रैः क्रियते विधिपूर्वकम् ।
शीलोपवासदानार्चाः सच्छूद्राणां क्रियाव्रतैः ॥

इन्द्रलालजी—'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' जो अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये निकाला जा रहा है वह सर्वथा अनुचित है। यदि 'देहस्थिति' से सोमदेवाचार्य का प्रयोजन 'आहार' होता तो वे सीधा योंही क्यों न लिख देते कि–'आहारं नैव कुर्वीत।' परन्तु 'देहस्थिति' का अर्थ यह है कि—ऐसे लोगों के घर पर खड़े भी न रहे। 'स्थिति' का अर्थ चलते-चलते ठहर जाना होता है.....।

समीक्षा—आपको हर सही अर्थ में भी अभिप्राय की पुष्टि नजर आती है पर वह क्या है यह आपने नहीं बताया। बतावें क्या, कोई हो तब न। कविगण एक अर्थ के लिये अनेक विशिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं अगर सोमदेव सीधा ही लिख देते तो श्रुतसागर को इस ग्रंथ की टीका करने की जरूरत ही क्या थी ? सोमदेव ने अनेक ऐसे जटिल प्रयोग किये हैं कि–अच्छे-अच्छे साहित्यशास्त्री भी उनका अर्थ नहीं लगा पाते हैं। उदाहरणार्थ—यशस्तिलकचंपू उत्तरखंड पृष्ठ ३८३ देखिये। वहाँ सिंहासन के विशेषण में लिखा है—'लक्ष्मीश्रुतागमनबीजविदर्भगर्भे' अर्थात्—'लक्ष्मी' कहिये शास्त्रज्ञान का कारण—'अक्षर' की 'विदर्भगर्भे' कहिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचना है गर्भ में जिसके यानी जिस पर 'श्री' अक्षर लिखा गया है ऐसा सिंहासन। कैसा शब्द पाण्डित्य है।

इसी तरह 'देहस्थिति' शब्द है जिसका अर्थ है—जिससे देह बनी रहे यानी 'आहार'। सागारधर्मामृत अ० ६, श्लोक १७ में भी ऐसा ही 'तनु-स्थिति' शब्द है जिसका देवकीनन्दन जी सा० ने और लालारामजी ने 'आहार' अर्थ किया है। मुनिसुव्रत काव्य (अर्हद्दासकृत) सर्ग ८ श्लोक २३ में 'तनुस्थिति' तथा उत्तर पुराण पर्व ७३ श्लोक १३२ व पर्व ६८ श्लोक ३७५ में 'कायस्थिति' शब्द का प्रयोग आहार अर्थ में ही है।

देहस्थिति या तनुस्थिति शब्द का प्रयोग और भी अनेक ग्रंथों में पाया जाता है पर कहीं भी 'चलते-चलते ठहर जाना' उसका अर्थ नहीं किया गया है। इसी तरह कोशों के अन्दर 'भोजन' के नामों में एक 'देह-यात्रा' शब्द है उसका भी यही अर्थ है कि—जिससे देह चले यानी 'आहार'।

अगर सोमदेव को ठहरना अर्थ ही अभीष्ट होता तो वे केवल 'स्थिति' शब्द ही देते जो पर्याप्त था, उनके जैसे महान् शब्दशास्त्री कभी उसके 'देह' शब्द का गलत और व्यर्थ पुछल्ला नहीं लगाते, इससे साफ जाना जाता है कि—'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' ही है जो प्रकरण सङ्गत भी है उसका अर्थ ठहरना नहीं है। आशाधर ने भी अनगार-धर्मामृत अ० ५, श्लोक ६६ की टीका में इस श्लोक को आहार के प्रकरण में उद्धृत किया है। इस 'शिल्पीकारुकवाक्पण्य' श्लोक के आधार पर ही इन्द्रनन्दि ने 'नीतिसारसमुच्चय' में लिखा है—

गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः.....मद्यविक्रयिणो मद्यपान-संसर्गिणश्च न। क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना, एवमादिकमप्य-न्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥ ३८ से ४० ॥

यहाँ 'देहस्थिति' की जगह 'भोजनं' पद का प्रयोग किया गया है। इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि 'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिल्पी वेश्या आदि के घर पर मुनि न रुके ऐसा जो आपने लिखा है वह अयुक्त है। परिस्थितिवश या धर्मोपदेश के कारण ऐसे स्थानों पर मुनि के रुकने में कोई अयुक्तता नहीं है, देखो उत्तरपुराण पर्व ५९, श्लोक २५९ से २६१।

आपने जो 'पतित' शब्द के व्यापक अर्थ 'भ्रष्ट' की जगह संकुचित अर्थ 'जातिपतित' किया है वह भी समुचित नहीं है।

इन्द्रलालजी—'विधा' शब्द का सीधा अर्थ आहार नहीं है, कटारिया जी द्वारा शब्दकोशों के जो प्रमाण दिये गये हैं उनसे भी सिद्ध नहीं होता। इन प्रमाणों में 'विधा' का अर्थ हाथी घोड़ों का खाद्य अवश्य किया गया है। 'विधा' शब्द 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से बना है—विशेषेण धीयते इति 'विधा'। इससे विधा का अर्थ भोजन भी हो सकता है पर यह प्रकरणोपात्त लक्षित और व्यंजित ही है शक्त नहीं। 'विधाविशुद्धि' का शक्त अर्थ विधि की विशुद्धि ही है, आहार के प्रकरण में जब विधि की विशुद्धि होगी तो भोजन की शुद्धि बिना कैसे होगी? इसलिये विधि की विशुद्धि से भोजन की शुद्धि व्यंजित है।

समीक्षा—एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं कौन-से सीधे होते हैं और कौन-से बाँके-टेढ़े यह आपकी विलक्षणबुद्धि ही जाने। चीरस्वामी टीका-गत—'हस्त्यश्वादिभोजने विधा' वाक्य में 'आदि' शब्द से यह सूचित होता है कि—विशेषरूपेण 'विधा' शब्द हाथी और घोड़ों के भोजन में प्रयुक्त होता है पर सामान्यतया वह सभी के 'आहार' का वाची है 'विशेषरूपेण—जिसके द्वारा शरीरपुष्टि होती है' (विशेषेण धीयतेऽनया इति विधा) इस आपकी व्युत्पत्ति से भी 'विधा' शब्द केवल गज, अश्व के भोजन का द्योतक नहीं है किन्तु वह सभी के भोजन का द्योतक सिद्ध होता है इसलिए यशस्तिलक पूर्वखण्ड पृ० १३८ में 'विधावृत्ति' का अर्थ श्रुतसागर ने 'आहारप्रवृत्ति' किया है। इसके सिवा और क्या स्पष्ट प्रमाण होगा पर आप न जाने किस दुराग्रह के वशीभूत होकर इस पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान देने का कष्ट नहीं करते, अस्तु। एक और स्पष्ट प्रमाण आप ही की मण्डली के विद्वान् का प्रस्तुत करता हूँ—पण्डित खूबचंदजी शास्त्री, वीरसागरजी महाराज की पूजा में लिखते हैं—विरसभुक्तिरसस्य तपस्विनो, रसवतीषु विधासु न ते स्पृहा। तदपि भक्तिवशेन समर्प्यते बहुविधः सघृतः सरसश्चरुः ॥ इति नैवेद्यम् ॥ इसमें स्फुटतया 'विधा' शब्द भोजन के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मैं पूछना चाहता हूँ कि—इन प्रमाणों के अर्थ को आप शक्त मानेंगे या रूढ़? अथवा व्यंजित? कुछ भी मानिये 'विधा' का आहार अर्थ दिनकर की तरह स्पष्ट है। आपने जो 'विधा' के आहार अर्थ को लक्षित और व्यंजित ही बताया है, अभ्युपगमसिद्धांत से उसे मान भी लिया जाय तो लक्षित और व्यंजित अर्थ भी तो साहित्यशास्त्र में उपादेय ही बताये हैं मुख्यार्थ बाधित होने पर वे ही तो वास्तविक अर्थ के द्योतक होते हैं फिर आप उनकी अवहेलना कैसे करते हैं? अभी तो आपको यह पाठ बनारस के श्री मुकुन्दजी और महादेवजी शास्त्री ने पढ़ाया ही है और आप अभी से उसे भूल रहे हैं? यशस्तिलकचंपू में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जो किसी कोश में नहीं पाये जाते यह भी ध्यान में रखने योग्य है।

'विधाविशुद्धि' नवधा भक्ति का भेद है (विधाविशुधिश्च नवोपचाराः) आहार का भेद नहीं है। अगर विधि की विशुद्धि उसका अर्थ किया जायेगा तो विधि तो सारी ९ ही भक्तियों में हैं फिर आहारशुद्धि नाम की ९ वीं भक्ति के लिये ही विधि की विशुद्धि कैसे? किसी भी शास्त्रकार ने ९ वीं भक्ति का नाम विधि की विशुद्धि नहीं दिया है। सभी ने आहारशुद्धि ही दिया है फिर आप सोमदेव जैसे कवि के शब्दों का क्यों गलत और बेतुका अर्थ करके उनके गौरव को विनष्ट करते हैं?

'विधा' शब्द का प्रकरणानुसार और कवि सम्मत अर्थ 'आहार' ही है आप जो कभी 'वेतन' कभी 'समृद्धि' और कभी 'प्रकार' करते हैं वह सर्वथा असङ्गत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रलालजी—पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री ने भी जो कटारियाजी के ही हैं 'विधा' का अर्थ 'आहार' नहीं माना है।

समीक्षा—ता० १५-६-५८ को श्री पंडितवर्य फूलचन्दजी सा० का पत्र आया है वे लिखते हैं—श्रीयुत पं० रतनलालजी सा० ! सप्रेम जय-जिनेन्द्र, हमारे पत्र के उत्तर में आपके लेख को पढ़ा। सागारधर्मामृत में 'विधा' शब्द का जो अर्थ आपने किया है वह उचित है, उस ओर सचमुच में हमारा ध्यान नहीं गया था। जिस प्रयोजन से हमने पत्र लिखा था उसका उत्तर मिल जाने से प्रसन्नता है। आपका फूलचन्द्र शास्त्री। मैं यहाँ पाठकों को यह बताना चाहता हूँ कि—एक ओर तो बहुश्रुत विद्वान् श्री फूलचन्दजी सा० की भद्रता देखिये जो सही अर्थ का निर्देश करने पर अपनी समझ में संशोधन कर लेते हैं और दूसरी तरफ श्रीमान् इन्द्रलालजी सा० को देखिये जो विशद विवेचन किये जाने पर भी अपने असद् आग्रह को नहीं छोड़ना चाहते, खैर ! अपनी-अपनी परिणति है।

अब मैं समाज के दो और प्रख्यात विद्वानों का इस विषय में मत प्रस्तुत करता हूँ—

१—ता० २२-६-५८ के पत्र में सागर से पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य लिखते हैं—श्री पं० रतनचन्दजी कटारिया ! सादर जयजिनेन्द्र, आपका 'चत्वारश्च विधोचिताः' वाला लेख उत्तम है। आपने इस पर अच्छा विचार किया है। भवदीय—पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।

२—ता० ३ जुलाई ५८ के 'वीरवाणी' पत्र में पूज्य पं० चैनसुखदासजी सा० लिखते हैं—दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः' इत्यादि श्लोक में 'विधा' शब्द का आहार अर्थ जो केकड़ी के अध्ययनशील विद्वान् श्री रतनलालजी कटारिया ने किया है वह सर्वथा संगत है यहाँ इसके अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ हो ही नहीं सकता।'

इन्द्रलालजी—'चतुर्विध' शब्द में यदि 'विधा' शब्द का अर्थ आहार किया जाय तो 'चारआहार' यह अर्थ होगा, चार प्रकार का आहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह अर्थ कैसे होगा ? 'प्रकार' फिर किस शब्द का अर्थ होगा ? जब कि उपवास में चार प्रकार के आहार का त्याग अपेक्षित है चार आहार का अर्थ अपेक्षित नहीं ।

समीक्षा—सागारधर्मामृत अ० ७, श्लोक ३९ के 'चतुर्विध' शब्द में 'चतुर' का अर्थ ४ प्रकार का उसी तरह है जिस तरह निम्नांकित कारिकाओं में है—

१—चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०६ ।

२—चतुराहारविसर्जनमुपवासः ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०९ ।

३—चतुराहारहानं यन्निरारम्भस्य पर्वसु ॥ हरिवंशपुराण सर्ग ५८, श्लोक १५४ ।

४—प्रोषधः पर्ववाचीह चतुराहारवर्जनम् ॥ धर्मसंग्रहश्रावकाचार ।

५—चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥—सागारधर्मामृत अ० ५, श्लोक ३५ ।

समास में 'चतुर्' का अर्थ चार प्रकार का, चार बार, या चार जैसा सङ्गत तथा इष्ट हो किया जा सकता है इसमें कोई बाधा नहीं है । यह बात 'चतुर्गति' 'चतुर्वर्ण' 'चतुर्निकाय' चतुरावर्त्त (चार बार आवर्त्त—चतुरावर्त्तत्रितय—रत्नकरण्डश्रावकाचारे) आदि शब्दों से भी समझी जा सकती है । हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में 'चार' से 'चार प्रकार' का अभिप्राय भी लिया जाता है इसमें कोई आपत्ति नहीं है ।

सागारधर्मामृत के उक्त 'चतुर्विध' शब्द का अर्थ अगर 'चार प्रकार' का किया जायेगा तो वह 'उपवास' शब्द का विशेषण होने से उसका अर्थ 'चार प्रकार का उपवास' हो जायेगा जो असंगत होगा अतः आशाधर ने जो 'चतस्रो विधा आहारास्त्याज्या यस्मिन्नसौ चतुर्विधस्तं' (चतुर्विधं पद की) इस व्युत्पत्ति में 'विधा' का 'आहार' अर्थ दिया है वह समुचित है । ऐसा ही उन्होने अ० ७, श्लोक ४५ के 'प्रत्याख्यानं चतुविधम्' पद में किया है । इसी बात को अमितगति ने—'चतुर्णां तत्र भुक्तानां त्यागो वर्ज्यश्चतुर्विधः' के रूप में कहा है । संस्कृत भाषा की ये सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खूबियाँ हैं। शब्दसिद्ध कवि, शब्दों का अनेक प्रकार से प्रयोग करते हैं, हमें उनकी शैलियों और विशिष्टताओं को भली प्रकार समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि—यशस्तिलकचंपू के 'चत्वारश्च विधोचिताः' और 'विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः' एवं सागारधर्मामृत के 'उपवासं चतुर्विधं' पद में प्रयुक्त 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' ही है।

अन्त में मैं इन्द्रलालजी सा० से आशा करता हूँ कि वे इस लेख को सदाशयता से ग्रहण करेंगे और 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' की उक्ति को सार्थक करेंगे।

मैं यहाँ यह और बताना चाहता हूँ कि—मुख्तार सा० ने जो यशस्तिलक चंपू के 'चत्वारश्च विधोचिताः' पाठ को बदला है उसका कारण यह प्रतीत होता है कि—उन्हें 'विधोचिताः' का ठीक अर्थ भान नहीं हो सका पर पं० पन्नालालजी सोनी ने तो यशस्तिलकचम्पू उत्तरखण्ड पृ० ३९७ के 'ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे' इस श्लोक में 'कल्पिताः' के स्थान पर जान-बूझकर 'मानिताः' पाठ बदल दिया है देखो 'शासनदेवपूजा के अनुकूल अभिप्राय' नाम का ट्रेक्ट पृष्ठ ३२। सोमदेव ने 'कल्पिताः' शब्द देकर व्यंतरादि शासनदेवों को कल्पित ठहराया है—इससे अपनी मान्यता में खलल पड़ती देखकर श्री सोनीजी ने 'मानिताः' पाठ बदला है ऐसा प्रतीत होता है। आशा है इन्द्रलालजी सा० सोनीजी के इस पाठपरिवर्तन पर भी अपना मत जाहिर कर कुछ निष्पक्षता का परिचय देंगे।

एक रहस्य की बात और बताना चाहता हूँ—वासुपूज्यकृत 'दानशासन' पृ० १२० में भी यशस्तिलक का यह "विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः, श्लोक पाया जाता है उसके हिन्दी अनुवादक श्री वर्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री ने भी वहाँ 'विधाविशुद्धि' का अर्थ आहार की शुद्धि ही किया है। आगे पृ० १२२ में भी ऐसा ही किया है। ये वर्धमानजी शास्त्री उस जैनदर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के प्रवन्ध सम्पादक और सर्वेसर्वा थे जिसमें इन्द्रलालजी शास्त्री के ये लेख छपे हैं किन्तु उन्होंने न तो इन्द्रलालजी के लेखों पर कोई नोट दिया और न कोई अपनी सम्मति इस विषय में प्रकट की बल्कि इन्द्रलालजी के उन व्यर्थ के लेखों को छापते रहे यह गुट्टबाजी का एक जीवन्त प्रमाण है। विद्वानों के लिए यह शोभाजनक नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलसंघ में पंचामृताभिषेक का अभाव

श्री जिन भगवान की प्रतिमा का अभिषेक घृत-दुग्धादि पंचामृत से करने की रीति मूलसंघ-आम्नाय की नहीं है। मूलसंघ के प्रसिद्ध ग्रंथ आदिपुराण और उत्तरपुराण में कहीं पर भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख नजर नहीं आता है। भगवज्जिनसेन के आदिपुराण में अनेक जगह पूजाओं का प्रसंग तथा श्रावकों के क्रियाकांड का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। इतना होते भी जिनसेनाचार्य ने उसमें कहीं पर भी पंचामृत से अभिषेक करने का कथन नहीं किया है। इससे स्पष्टतः यही तथ्य प्रगट होता है कि इन जिनसेन महर्षि की गुरु परम्परा में भगवान् का अभिषेक पंचामृत से किये जाने की पद्धति कतई नहीं थी।

राजा भरत को अशुभ स्वप्न आये थे। भगवान् से उनका अशुभ फल जानकर भरत ने शांतिकर्म किया था। इसका वर्णन करते हुये आदिपुराण पर्व ४१ में ऐसा लिखा है--

शांतिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नारिष्टशांतये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥
गोदोहैः प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः।
महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयीजनः ॥८६॥

अर्थात्--भरत ने खोटे स्वप्नोंरूप अरिष्ट (अशुभ सूचक उत्पात) की शांति के लिये जिनेन्द्र का अभिषेक, सत्पात्रों को दान इत्यादि पुण्य कार्यों से शान्ति कर्म किया। तथा गायों को दुहाकर भूमि का सिंचन कराया, महर्षियों की पूजा की, बड़े बड़े दान दिये और प्रेमीजनों को संतुष्ट किया।

कुछ लोग यहाँ के ८६वें श्लोक के प्रथम चरण--'गोदोहैः प्लाविता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धात्री' से गायों के दुग्ध से भगवान् का अभिषेक किया—अर्थ निकालते हैं, वह ठीक नहीं है। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट 'धात्री' शब्द लिखकर यह व्यक्त किया है कि पृथ्वी पर दूध दुहाया गया था। साथ का 'गोदोहैः' वाक्य भी ध्यान देने योग्य है। इस वाक्य से ग्रंथकार का आशय यह है कि—गायों का दूध बर्तनों में नहीं दोहा गया था किन्तु गायों को जमीन पर ही दोहा गया था। इसीलिये उन्होंने 'गोदुग्धैः' वाक्य प्रयोग न करके 'गोदोहैः' प्रयोग किया है। बात दरअसल यह है कि—अरिष्ट की शान्ति के लिये इस प्रकार की क्रिया की जाती है। यह क्रिया भरतजी ने उस वक्त जैनविधि के अनुसार की थी। ऐसी क्रिया वैदिकधर्म में भी वैदिक विधि से की जाती है। इसके लिये वाराही संहिता अध्याय ४६ का यह श्लोक देखिये—

दिव्यमपि शममुपैति प्रभूतकनकान्नगोमहीदानैः।
रुद्रायतने भूमौ गोदोहात् कोटिहोमाच्च ॥ ६ ॥

अर्थ—शिवालय की भूमि में गोदोहन और कोटि होम करने से, बहुत सा सुवर्ण, अन्न, गौ और पृथ्वी का दान करने से दिव्य उत्पात भी शांत हो जाते हैं।

श्वेतांबराचार्य हेमचंद्र अपने योगशास्त्रस्वोपज्ञ टीका के पृष्ठ ३२० पर लिखते हैं—

"भूमिगोदोह-करणाद् रिष्ट शांतिकमानिनाम्।"

पुष्पदंतकृत अपभ्रंशमहापुराण के पृष्ठ ४३१ में भी आदिपुराण के इसी कथन का छायानुवाद करते हुये लिखा है कि—

"भूमि दोहकय गोदुहसत्थहिं।" (सत्थहिं—सार्थैः समूहैः)

बहुत से ग्वालों ने भूमि पर गायों को दोहा यह इसका अर्थ हुआ। यहाँ के 'गोदुह' शब्द का अर्थ टिप्पणी में "गोदोहकाः" किया है। जिसका मतलब होता है गायों को दोहने वाले गुवाले। ("गोप गोदुह वल्लवाः" त्रिकांड शेषे)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन उद्धरणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि—रिष्ट शांति के अर्थ ऐसी भी क्रिया होती है जिसमें गायों को जमीन पर दोहकर दूध से जमीन तर की जाती है। इसी क्रिया का उल्लेख आदिपुराण में किया गया है। उससे जिन प्रतिमा का दुग्धाभिषेक अर्थ निकालना गलत है। आदिपुराण के उक्त दोनों श्लोकों में दो क्रियाओं का वर्णन किया है। श्लोक नं० ८५ में तो शांति क्रिया का कथन किया है। जिसमें 'भगवान् का अभिषेक करने और सुपात्रों को दान देना' आदि पुण्य कार्यों के करने को कहा है। और श्लोक नं० ८६ में दूसरी 'भूमि गोदोहन क्रिया' का कथन किया है। इस किया में भूमि पर गोदूहन करने के साथ ही साथ महर्षियों की पूजा का पाठ करने, साधर्मियों को ठाड़े-ठाड़े दान देने और बांधवों को भोजनादि से तृप्त करने को कहा है। इस क्रिया के विषय में पुष्पदंत ने बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। अतः अब किसी शंका को स्थान ही नहीं रहा है।

आदिपुराण पर्व ४४ में जन्म संस्कार के मंत्रों का कथन करते हुये निम्न श्लोक लिखा है—

जन्मसंस्कारमंत्रोऽयं एतेनार्भकमादितः।
सिद्धाभिषेकगंधाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्पृशेत् ॥११०॥

अर्थ—प्रथम ही सिद्ध प्रतिमा के अभिषेक के गंधोदक से सिंचन किये हुये बालक के शिर पर जन्म संस्कार के मंत्रों से स्पर्श करे।

इस श्लोक में आये "सिद्धाभिषेकगंधांबु" वाक्य से कोई-कोई कहते हैं कि—जिनसेन ने जिनप्रतिमा का अभिषेक सुगंधित जल से करना बताया है। किन्तु इस वाक्य से गंधाभिषेक अर्थ प्रगट नहीं होता है। क्योंकि यहाँ गन्ध शब्द अभिषेक के पूर्व में नहीं है; बाद में है। इसलिये यहाँ इसका फलितार्थ ऐसा है कि—जिस स्वाभाविक जल से भगवान् का अभिषेक किया गया है उस जलको यहाँ गन्धोदक नाम से बताया है। इसी के पर्व ३८ श्लोक ९९ में भी केशवाप क्रिया का वर्णन करते हुये लिखा है कि—"केशों को गंधोदक से गीला कर उनका मुण्डन करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये।" भगवान् के शरीर में स्वाभाविक सुगन्ध होती है। अतः अभिषेक में उनके शरीर से स्पर्शित जल भी सुगन्धित बन जाता है। इस भावना को लेकर अभिषेक में काम आया स्वच्छ स्वाभाविक जल भी भक्तों द्वारा गन्धोदक नाम से कहा जाता है। आचार्य जिनसेन ने भी इसी दृष्टि से यहाँ 'गन्धांबु' शब्द का प्रयोग किया है।

कोई कहे कि—"जिनसेन ने पंचामृत से अभिषेक करना नहीं बताया तो शुद्ध जल से अभिषेक करना भी तो उन्होंने नहीं लिखा है।" इसका उत्तर यह है कि—अभिषेक का अर्थ है स्नान। स्नान जल से ही किया जाता है यह आबाल गोपाल प्रसिद्ध है। यही प्रसिद्ध अर्थ जिनसेन को इष्ट था इसीलिये उन्होंने यत्र-तत्र सामान्य अभिषेक शब्द का प्रयोग किया है। यदि उन्हें अभिषेकार्थ दधि-दुग्धादि इष्ट होते तो वे विशेष शब्दों का प्रयोग कर सकते थे। और सर्वथा यह भी बात नहीं उन्होंने आदिपुराण में समवशरण के वर्णन में अभिषेक का कथन करते हुए जल का नाम भी दिया है—

हिरण्मयी जिनेन्द्रार्चास्तेषां बुध्नप्रतिष्ठिताः।
देवेन्द्राः पूजयन्ति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥९८॥ पर्व २२

अर्थ—उन मानस्तंभों के मूल में स्थित सुवर्णमयी जिन प्रतिमाओं को इन्द्रलोग क्षीरसागर के जल के अभिषेकों के साथ पूजते थे।

यहाँ कृत्रिम जिनबिंबों का जल से अभिषेक करना लिखा है।

इस प्रकार आदिपुराण में न तो दुग्धाभिषेक लिखा है और न गंधाभिषेक लिखा है बल्कि जलाभिषेक लिखा है यह सुस्पष्ट है।

वरांगचरित

जटासिंहनंदि कृत यह वरांगचरित, जिनसेन के आदिपुराण से भी पहिले का कथा ग्रन्थ है। उसमें राजा वरांग ने एक नूतन जिन मन्दिर का निर्माण कराके जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराई थी। उसके महोत्सव का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णन करते हुए पर्व २३ में लिखा है कि—प्रतिष्ठामें काम आने वाली विविध सामग्री को लेकर अपनी रानियों और श्रावकों के साथ राजा वरांग बड़े जुलूस से जिनमन्दिर को गया। वहाँ जिनप्रतिमाका अभिषेकादि विधान किया गया उसी प्रसंग में जिनप्रतिमा को आभूषण पहिनाना भी लिखा है। यथा—

सुवर्णपुष्पैर्विविधप्रकारै रत्नावलीभिस्तडिदुज्जवलाभिः।
विभूषणानि प्रतिभूषयन्ती विभूषयामास तदा जिनार्चाम् ॥६७॥ पर्व २३

अर्थ—नाना प्रकार के सोने के बने पुष्पों से और बिजली की तरह चमकते हुए रत्नमयी हारों से उस समय जिनप्रतिमाको भूषित किया गया था। उन आभूषणों से वह प्रतिमा भूषित न हुई। किन्तु प्रतिमा से उल्टे वे आभूषण ही भूषित हो उठे थे।

फिर आगे लिखा है कि राजा ने बहुत काल तक मन्दिर की स्थिति बनी रहने के लिये उस मन्दिर को १०८ गाँव आदि भेट में दिये। इसी पर्व के श्लोक ७ में नांदीमुख का भी उल्लेख है। इत्यदि कथनों से यही ज्ञात है कि यह प्रकरण प्रतिष्ठा विषय का है। मार्के की बात फिर भी यहाँ यह है कि इस प्रकरण में भी जिनप्रतिमा का अभिषेक स्वच्छ जल से ही करने का विधान किया है। इसके लिये इस पर्व के निम्न दो श्लोक देखिये—

पयोदधिक्षीरघृतादिपूर्णा, फलाग्रपुष्पस्तवकाऽपिधाना।
घटावली दामनिबद्धकण्ठा सुवर्णकारैर्लिखिता रराज ॥२५॥

अर्थ—जिनके मुख फलों और पुष्पों के गुच्छों से ढके हुये हैं। मालाओंसे जिनके गले बँधे हुए हैं और सुवर्णकारों के द्वारा जिन पर नक्कासी का काम किया हुआ है। ऐसे जल-दही-दूध-घृत से भरे कलश वहाँ शोभायमान हो रहे थे।

अष्टोत्तराः शीतजलैः प्रपूर्णाः सहस्रमात्राः कलशाः विशालाः।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्याः ॥२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—वहाँ बड़े-बड़े एक हजार आठ कलश ऐसे भी थे जो शीतल जलों से भरे हुए थे और जिनके मुख फूले हुए नील कमलों से ढके हुए थे। वे कलश एकमात्र जिनप्रतिमा के अभिषेक के ही काम में आने के लिये थे।

इस कथन से साफ जाहिर होता है कि ग्रन्थकार ने यहाँ जिनप्रतिमा के अभिषेक के लिए खासतौर से उन्हीं कलशों को बताया हैं जिनमें शीतल जल भरा हुआ था। और जो दुग्धादि से भरे कलश थे वे किसी अन्य ही काम के वास्ते थे। फिर आगे जब अभिषेक किया गया तो श्लोक ६५ में साफ लिख दिया है कि—"स्वच्छ जल से भरे कलशों से भगवान् का अभिषेक किया।" इस प्रकार जटासिंहनन्दि कृत वरांग चरित से पंचामृताभिषेक की कुछ भी सिद्धि नहीं होकर उल्टे जलाभिषेक की ही सिद्धि होती है।

पद्मपुराण

रविषेण का बनाया हुआ संस्कृत का पद्मपुराण एक प्राचीन कथा ग्रंथ है। इसमें पंचामृताभिषेक का विधान है। किन्तु यह पुराण मूलसंघ का नहीं है। क्योंकि जिस प्राकृत पउमचरिय के आधार पर इसकी रचना हुई है वह पउमचरिय मूलसंघ का नहीं है तो उसकी प्रायः छायाको लेकर बना यह पद्मपुराण भी मूलसंघ का कैसे हो सकता है? इसीलिये इसके बहुत से वृत्तान्त मूलसंघ के ग्रन्थों से नहीं मिलते हैं। पउमचरिय के विषय में चर्चा इस लेख में आगे की गई है।

यह तो विदित ही है कि—मूलसंघ के प्रसिद्ध आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण में लिखी रामकथा से रविषेण की रामकथा नहीं मिलती है। इसे भी छोड़िये, अन्य भी त्रेषठशलाकापुरुषों की कथायें जो जिनसेन गुणभद्र ने लिखी हैं, उनमें की कितनी ही कथाओं से भी रविषेण की लिखी कथायें भिन्न रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के तौर पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ हम पद्मपुराण और उत्तरपुराण की भिन्न कथाओं के कुछ नमूने पेश करते हैं—

दोनों ही पुराणों में सगर चक्रवर्ती के पूर्व भव लिखे हैं किन्तु वे एक दूसरे से बिल्कुल ही नहीं मिलते हैं। इसके अलावा पद्मपुराण में सगर के ६० हजार पुत्रों में से दो को छोड़ बाकी सबों का नागकुमार देव के कोप से भस्म हो जाना लिखा है। किन्तु उत्तरपुराण में इन सब पुत्रों का मोक्षगमन बताया है।

संजयंत मुनि की कथा भी दोनों पुराणों में एक समान नहीं है। पद्मपुराण में यह कथा ५ वें पर्व में और उत्तर पुराण में ५९ वें पर्व में लिखी है वहाँ देखिये।

पद्मपुराण पर्व ८ में हरिषेण चक्रवर्ती को कांपिल्यनगर के राजा सिंह-ध्वज और राणी वप्रा का पुत्र बताया है और उसकी मोक्षगति लिखी है। जबकि उत्तरपुराण पर्व ६७ में हरिषेण को भोगपुर के राजा पद्मनाभ और राणी ऐरा का पुत्र लिखा है और उसे सर्वार्थसिद्धि गया बताया है।

पद्मपुराण पर्व २० में मघवा चक्रवर्ती को सौधर्म स्वर्ग गया बताया है। जबकि उत्तरपुराण में उसकी मोक्षगति लिखी है। इसी तरह सन-त्कुमार चक्री की गति पद्मपुराण में तीसरा स्वर्ग लिखी है और उत्तर-पुराण में उसकी मोक्षगति लिखी है। उत्तरपुराण में सुभौमचक्री को महाशुक्र स्वर्ग से आया लिखा है जबकि पद्मपुराण पर्व २० में उसे जयंत विमान से आंया लिखा है। सुभौम चक्री नरक गया है। जयंत विमान से आने वाला नरक नहीं जा सकता है। अतः पद्मपुराण का कथन अयुक्त है। विष्णुकुमार मुनि की कथा में हस्तिनापुर के राजा महापद्म ने अपने पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा ली थी। इस महापद्म को पद्मपुराण पर्व २० में चक्रवर्ती लिखा है। उत्तरपुराण में इसे चक्रवर्ती नहीं बताया है। इसके अलावा पद्मपुराण में एक मजेदार बात यह लिखी है कि—

"एक बार भरतचक्री मुनियों के अर्थ बनाया भोजन लेकर समव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरण में गया और वहाँ मुनियों को भोजन जीमने के लिये प्रार्थना करने लगा। तब भगवान् ऋषभदेव ने कहा—"हे भरत ! मुनि लोग उद्दिष्ट भोजन नहीं लेते हैं। और न तेरी ऐसी रीति ही मुनियों को आहार देने की है।" यह वर्णन पद्मपुराण पर्व ४ श्लो० ९१ आदि में है। पद्मपुराण के इस कथन के पढ़ने वालों को हँसी आये बिना न रहेगी कि क्या भरत जी को इतना भी बोध नहीं था जो वे मुनियों को जिमाने के लिये भोजन सामग्री लेकर भगवान् के समवशरण में ही पहुँच जावें। जब कि श्रेयांस के द्वारा दिये गये मुनिदान को वे अच्छी तरह जान चुके थे। बात वास्तव में कुछ ऐसी जँचती है कि जिस पउमचरिय से यह वृत्तांत नकल किया गया है उस पउमचरिय के बनानेवाले का ऐसा संप्रदाय होगा जिसमें केवली भगवान् आहार ग्रहण करते हैं। आहार वे समवशरण में भी जीमते होंगे इस कथा से यही संभावना प्रगट होती है। और इसीलिये भरतजी के सम्बन्ध में ऐसी कथा लिखी गई है कि वे भोजन लेकर समवशरण में पहुँच गये।

इसी तरह निर्वासित अंजना जब सखी के साथ वनमें घूमती हुई गुफा में पहुँची। उस प्रसंग में पद्मपुराण पर्व १७ श्लो० २६८ में "गंधर्व देव ने मद्यपान किया" लिखा है। देव तो मद्यपान क्या दूसरा पेय भी नही पी सकते हैं। क्योंकि उनके मानसिक आहार होता है। फिर यहाँ ऐसा कैसे लिखा ?

इसी प्रकार भगवान् महावीर का सौधर्मेन्द्र की शंका निवारणार्थ अपने अंगूठे से मेरु को कंपित करना। (पर्व २ श्लो० ७६) युगलिया से हरिवंश की उत्पत्ति बताना (पर्व २१ वाँ) देशभूषण कुलभूषण केवलीद्वयका साथ-साथ चलना, दोनों का एक ही स्थान पर बैठना, दोनों के साथ ही केवलज्ञान होना। राम और कृष्ण के ६४ हजार वर्षों का अन्तर बतलाना (पर्व १०९ श्लो० २८) श्री रामचन्द्रजी के शरीर का न्यग्रोधपरिमंडल नाम का संस्थान बताना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्यादि अनेक अमान्य कथनों के देखने से कहना पड़ता है कि रविषेण कृत पद्मपुराण ग्रन्थ मूलसंघ का नहीं है। आधुनिक भट्टारक इन्द्रनन्दि तक ने रविषेण को प्रामाणिक आचार्य नहीं माना है। उन्होंने नीतिसार ग्रन्थ में जहाँ प्रामाणिक आचार्यों की सूची लिखी है उसमें रविषेण का नाम नहीं दिया है। तथा आशाधरजी ने भी अपने ग्रन्थों की स्वोपज्ञ टीकाओं में ग्रन्थान्तरों के प्रचुर पद्य 'उक्तं च' रूप से प्रस्तुत किये हैं उनमें वे जिनसेन के आदिपुराण के तो अनेक उद्धरण देते हैं परन्तु पद्मपुराण का एक भी उद्धरण नहीं देते हैं। और प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय २ में आशाधरजी ने "महर्षिपर्युपासन" लिखा है उसमें वे वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्रादि अनेक आचार्यों के तो नाम लिखते हैं किन्तु रविषेण का उल्लेख नहीं करते हैं। इससे साफ विदित होता है कि पं० आशाधरजी की दृष्टि में भी रविषेण की गणना मान्य आचार्यों में नहीं थी। ऐसी हालत में पद्मपुराण में पंचामृताभिषेक का विधान पाया जाना मानने योग्य नहीं है।

हरिवंशपुराण

इस पुराण के कर्ता जिनसेन हैं। ये जिनसेन आदिपुराण के कर्ता जिनसेन से भिन्न हैं। और उनके समय में ये भी हुए हैं। इस हरिवंश पुराण में भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख है। ये जिनसेन भी मूलसंघी नहीं हैं। ये तो खुद ही अपने को पुन्नाटसंघी लिखते हैं। पुन्नाटसंघ काष्ठासंघ का ही एक उपभेद है। काष्ठासंघ की गणना जैनाभासों में की जाती है। काष्ठासंघ में चार गच्छ हैं—माथुरगच्छ, बागड़गच्छ, लाड-बागड़गच्छ, और नंदीतट गच्छ। 'भट्टारक संप्रदाय' पुस्तक के पृ० २५७ में लिखा है कि—"लाडबागड़ गच्छ के आचार्य पहिले पुन्नाट अर्थात् कर्णाटक प्रदेश में विहार करते थे इसलिये इसका नाम पुन्नाट था। बाद में उनका प्रमुख कार्य क्षेत्र लाडबागड़ अर्थात् गुजरात प्रदेश हुआ इसलिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका नाम लाडवागड़ गच्छ पड़ा। इसी का संस्कृत रूप लाटवर्गट है।" भट्टारक संप्रदाय के लेखांक नं० ६३१ में जो पट्टावली का संस्कृत उद्धरण दिया है उससे प्रकट होता है कि पुन्नाटगच्छ का ही नामांतर लाटवर्गट गच्छ है। "सूरत और उसके जिले के मूर्तिलेख संग्रह" नाम की पुस्तक के पृ० ७४ पर नंदीतटगच्छ की पट्टावली छपी है उसमें भी काष्ठासंघ के चार गच्छों में पुन्नाट गच्छ का नाम लिखा है। जैनशिलालेखसंग्रह भाग २ पृ० १३७ में जिन अर्ककीर्ति मुनि को शक सं० ७३५ में ग्राम, दान में दिया है उनको यापनीय—नन्दिसंघ पुंनागवृक्ष मूलगणका बताया है। संभवतः पुंनागवृक्ष मूलगण का ही रूपांतर पुन्नाट संघ है। इस उल्लेख से पुन्नाटसंघ यापनीय संघ का कोई उपभेद भी हो सकता है। यह तो सब जानते ही हैं कि—यापनीय संघ, काष्ठासंघ, द्राविड़संघ आदि जैनाभास माने जाते हैं। हरिवंश पुराण में जिनसेन ने इन तीनों ही संघों के आचार्यों का स्मरण किया है। द्राविड़संघ के स्थापक वज्रसूरि, काष्ठासंघ के प्रवर्तक कुमारसेन और यापनीय संघ के आचार्य विशेषवादी इन तीनों ही का स्मरण हरिवंश पुराण में किया है। यापनीयसंघ के आचार्य शाकटायन अपने एक सूत्र में कहते हैं कि—

"उपविशेषवादिनं कवयः" सारे कवि विशेषवादी से नीचे हैं। शाकटायन के इस कथन से सिद्ध होता है कि "विशेषवादी" यापनीय थे जिनका स्मरण हरिवंशपुराण में किया गया है। इन जैनाभासों का स्मरण करने से यही फलितार्थ निकलता है कि हरिवंशपुराण के कर्ता को ये आचार्य मान्य थे। और स्वयं भी वे इन जैनाभासों में से कोई थे। ऐसी हालत में हरिवंश पुराण में लिखा पंचामृताभिषेक का कथन मूलसंघ आम्नाय का नहीं हो सकता है। यही नहीं अन्य भी कई एक वर्णन हरिवंशपुराण के मानने योग्य नहीं हैं। जैसे पउमचरिय और और पद्मपुराण में भगवान् के गर्भकल्याणक में देवों का आगमन नहीं लिखा है। ऐसे ही हरिवंशपुराण में भी महावीर ऋषभदेव, मुनिसुव्रत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और नेमिनाथ का चरित्र लिखते हुए कहीं भी गर्भकल्याणक में देवों का आगमन नहीं लिखा है। हरिवंशपुराण सर्ग ६५ में लिखा है कि—"बलदेव मरकर ब्रह्मस्वर्ग गया वहाँ अवधिज्ञान से उसने जाना कि मेरा भाई कृष्ण नरक में गया है। अतः उसे लाने के लिये वह नरक में जाकर कृष्ण के जीव को वहाँ से उठा लाने लगा पर वह उसे ला न सका। तब कृष्ण के जीव के कहने से बलदेव के जीव ने भरतक्षेत्र में अपनी और कृष्ण की मूर्तिको पूजा का प्रचार लोगों में करवाया।" हरिवंशपुराणका यह कथन कुछ ठीक मालूम नहीं देता है। जिसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो रखा है ऐसा कृष्ण का जीव भी सम्यग्दृष्टि था और ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र बलदेव का जीव भी सम्यग्दृष्टि था। ऐसे दोनों ही सम्यग्दृष्टियों ने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने को ऐसे मिथ्यातत्त्व का प्रचार किया यह बात बुद्धि में बैठने जैसी नहीं है।

इसी पुराण के सर्ग १८ श्लोक १६४ आदि में वसुदेव के पूर्व भवों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"सौधर्मेन्द्र ने नंदिषेण मुनि के वैय्यावृत्य की बहुत प्रशंसा की जिसे सुनकर उनकी परीक्षा के लिये एक देव रोगी मुनिका वेष बनाकर नंदिषेण मुनि के पास आया। नंदिषेण ने उस मुनिको देखकर उससे पूछा कि तुम्हारी इच्छा कौन सा भोजन करने की है? उत्तर में मुनिरूप धारी देवने कहा कि—पूर्व देश के चावलों का सुगंधित भात, पांचाल देश की मूंग की स्वादिष्ट दाल, पश्चिम देश की गायों का तपाया हुआ घृत, कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यंजन इन सब के खाने की मेरी इच्छा है। यह सुन नंदिषेण मुनि ने वह सब उक्त आहार लाकर गोचरी वेला में उस कृत्रिम मुनि को दे दिया।" इसी सर्ग के श्लोक १३८ में लिखा है कि—उन नन्दिषेण मुनि को बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन सिद्धियों के प्रभाव से वैयावृत्त्य में काम आनेवाली वस्तुयें जो चाहते वे उन्हें प्राप्त हो जाया करती थीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुनियों के आचार शास्त्रों में निर्ग्रंथ मुनियों की जैसी कुछ चर्या लिखी है उसकी संगति इस कथा से कैसे बैठ सकेगी यह एक सोचने की चीज है। नवकोटि से विशुद्ध आहार लेनेवाले जैन मुनि के लिए क्या ऐसा करना योग्य कहा जा सकता है? क्या इसमें उद्दिष्ट दोष नहीं आता? और क्या कोई जैन मुनि इच्छानुसार भोजन पाने की बात कह सकते हैं? इस कथा से तो ऐसा जाहिर होता है कि रोगी मुनि चाहे कितना ही आचारहीन क्यों न हो तब भी उसकी वैयावृत्य करनी। और वैय्यावृत्य करनेवाले मुनि को भी यह छूट हो जाती है कि वह भी इस वैय्यावृत्य के काम में जो चाहे सो कर ले—उसे आचारशास्त्र के नियमों के पालने की भी जरूरत नहीं है। चाहिये तो यह कि रोगी मुनि अपना चरित्र अधिक से अधिक निर्दोष बनावे ताकि रुग्णावस्था में न जाने कब प्राण छूट जावें तो उसका असंयम अवस्था में मरण न होने पावे। किंतु हरिवंश पुराण में इस कथा के द्वारा उल्टा उपदेश दिया गया है।

यह एक शास्त्रप्रसिद्ध बात है कि—पदवीधारी नारद सब नरकमें जाते हैं। किन्तु इसके पर्व ६५ श्लो० २४ में नारद को मोक्ष गया लिखा है। श्वेतांबरमत में भी नारद की मोक्षगति लिखी है।

हरिवंशपुराण में यह भी लिखा है कि—बाहुबली केवलज्ञानी हुये बाद भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में जा वहाँ के सभासद हुये। देखो सर्ग ११ श्लोक १०२ वाँ और सर्ग १२ श्लोक ३८ वाँ।

इत्यादि कथनों से हरिवंशपुराण मूलसंघ का ग्रंथ मालूम नहीं होता है इसीसे भट्टारक इंद्रनंदि ने रविषेण की तरह इन जिनसेन का भी नाम प्रामाणिक आचार्यों की लिस्ट में नहीं दिया है। और आशाधर ने भी इनका कहीं कोई उद्धरण नहीं दिया है।

यशस्तिलक चंपू

श्री सोमदेव का बनाया यह एक चंपूग्रंथ है। यह ग्रंथ वि० सं० १०१६ में बना है। इसके उत्तर खंड में श्रावकाचार का कथन है। उसमें जिना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिषेक की विधिका वर्णन करते हुये पंचामृत से अभिषेक करना बताया है। इसके कर्ता सोमदेव भी मूलसंघ के मालूम नहीं होते हैं। परमार्थतः वे कोई शायद यथार्थ मुनि भी नहीं थे। हमारे यहाँ मध्यकाल में ऐसे कुछ गृहत्यागी साधुओं का समुदाय हो चुका है जो भट्टारक कहलाते थे। वे चादर ओढ़ते थे, पालकी छत्र चामरादि का उपयोग करते थे। कूवाँ खेत आदि जागीरें रखते थे, मंत्रतंत्र चिकित्सा आदि करते थे, मठमंदिर में रहते थे और प्रतिष्ठा आदि कार्य करते थे। वे राजाओं की तरह श्रावक–गृहस्थों पर शासन करते हुये बड़े ठाठ-बाट से रहते थे। वे सब ठाठ-बाट उनके बाद उनके पट्टाधिकारी शिष्यों को मिलता था। इसलिये राज्यसिंहासन की तरह उनकी गद्दियों के भी उत्तराधिकारी बनते थे। इतना होते भी ये भट्टारक अपने को मूलसंघी कहते हुये मुनि, यति, मुनींद्र, आचार्य आदि नामों से पुकारे जाते थे। क्योंकि इस पद को ग्रहण करते हुये प्रारम्भ में ये नग्न होकर ही दीक्षा लेते थे। उपरांत हीन संहनन और तत्काल पंचों की आज्ञा की आड़ लेकर वस्त्रादि धारण कर लेते थे। सुनते हैं आहार भी वे नग्न होकर ही लेते थे। पीछी कमंडलु रखकर श्वेतांबर यतियों से अपनी भिन्नता व्यक्त करते थे। इनमें से कोई कोई भट्टारक नग्न भी रहते थे। और नग्न रहकर भी पालकी आदि का उपयोग करते हुए दूसरे 'सब ठाठ उनके सवस्त्र भट्टारकों जैसे ही रहते थे। यह बात श्वेताम्बरों के साथ जो कुमुदचन्द्र का शास्त्रार्थ हुआ था उससे प्रकट होती है। यह शास्त्रार्थ वि० सं० ११८१ में गुजरात के राजा सिद्धराज की सभा में श्वेताम्बर यति देवसूरि के साथ दिगम्बर भट्टारक कुमुदचन्द्र ने किया था। उस शास्त्रार्थ का हाल बताते हुए श्वेताम्बरों ने कुमुदचन्द्र के बाबत लिखा है कि—"वे पालकी पर बैठे थे, उनपर छत्र लगा हुआ था, और वे नग्न थे।" पहले पहले इस प्रकार के भट्टारक नग्न ही रहते होंगे। वस्त्रधारण संभवतः बाद में चला हो। इसके भी पहले कुछ ऐसे मुनि भी विचरते थे जो वस्त्र, पालकी, छत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चामरादि का उपयोग तो अपने लिये नहीं करते थे। किन्तु जागीरी रखना, मंत्र-तंत्र चिकित्सा करना, मठ-मन्दिर में आराम से रहना और उनका प्रबन्ध करना, राजसभाओं में जाना और राजाओं द्वारा सन्मान पाने की आशा से उनको प्रभावित करना आदि चरित्र उनका भी था। ये साधु महर्षि कुंदकुंद की बताई हुई मुनिचर्या का पालन पूर्णरूप से नहीं करते हुये भी उनके अन्य सिद्धान्तों को प्रायः मान्यता देनेसे अपने को मूलसंघी ही कहते थे। ऐसे साधुओंने मुनिचर्या के साथ साथ श्रावकों की पूजापद्धतिको भी विकृत किया है। जो पूजा पद्धति अल्पसावद्यमय, वीतरागता की द्योतक, और निरर्थक आडम्बरों से मुक्त होनी चाहिये थी उनके स्थान में इन्होंने उसे बहुसावद्यमय व सरागताकी पोषक बनाकर उसमें व्यर्थके आडम्बर भर दिये। दही, दूध घृतादि खानेके पदार्थों को स्नान के काम में लेना, मिट्टी गोबर राख से भगवान् की आरती करना, ये व्यर्थ के आडंबर नहीं तो क्या हैं? जब से मंदिरोंपर इन भट्टारकों के अधिकार हुए हैं तभी से पूजापद्धति में ये आडंबर बढ़े हैं। इस प्रकारके विधान सोमदेवने भी यशस्तिलक में लिखे हैं। अतः इन सोमदेव की गणना भी ऐसे ही नग्न भट्टारकों में की जा सकती है। इनको जैन मन्दिर की स्थिति बनाये रखने के लिए राजा अरिकेसरी ने एक ग्राम भी दान दिया था। इस दान के ताम्रपत्र की प्रतिलिपि श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी कृत "जैन-साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ के पृ० १९३ पर छपी है। अगर ये सोमदेव शास्त्रोक्त जैनमुनि होते तो न तो इनको ग्राम दान में दिया जाता और न ये उसे स्वीकार ही करते। तिलतुष मात्र का भी प्रसंग न रखनेवाले और अहर्निश ज्ञान ध्यान तपमें लवलीन रहनेवाले दिगम्बर जैन ऋषियोंको इस प्रकार के दानों से कोई प्रयोजन नहीं है। इन्हीं सोमदेव ने एक नीति-वाक्यामृत नामक ग्रन्थ भी बनाया है। वह ग्रन्थ संस्कृत-गद्यसूत्रों में रचा गया है। उसकी टीका में अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं। जो बातें सूत्रों में कहीं गयी हैं वे ही बातें टीका में दिये उद्धरणों में हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे सहज ही ज्ञात होता है कि–सोमदेव ने यह ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर बनाया है। जैनधर्मसे इस ग्रन्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे जैन ग्रन्थ कहना ही नहीं चाहिए। इसीलिए इसकी टीका भी किसी अजैन विद्वान्ने की है। मूल ग्रन्थ के कुछ नमूने देखिये—

"औरसः क्षेत्रजो दत्तः कृत्रिमो गूढोत्पन्नोऽपविद्ध ऐते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ॥४१॥" प्रकीर्णक समुद्देश।

इसमें लिखा है कि औरस आदि ६ पुत्र पैत्रिक धन के और पिण्डदान के अधिकारी होते हैं। (यहाँ पिण्डदान वैदिक रीति को बताता है।)

सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं यायात् ॥७३॥"

"दिवसानुष्ठान समुद्देश"

अर्थ—बछड़ेवाली गाय की परिक्रमा देकर धर्मोपासन को जावे।

(यहाँ गाय की पूज्यता बताई है।)

"यः खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥२२॥"

"विवाहसमुद्देश"

अर्थ—जो विधिपूर्वक ग्राम्य भोजन और सांसारिक व्यवहारको त्याग-कर स्त्रीसहित या स्त्रीरहित वन में रहता है वह वानप्रस्थ कहलाता है। बन में वहाँ वह ग्राम्य भोजन को छोड़ जंगली फलफूल खाता है।

(वानप्रस्थ का यह स्वरूप जैनशास्त्र सम्मत नहीं है)

इस प्रकार के कथन एक मान्य जैनाचार्य की कलम से लिखे जाने के योग्य नहीं हैं। क्योंकि सत्य महाव्रत का धारी जैनमुनि जिसके लिये जैनशास्त्रों में अनुवीचिभाषण यानी सूत्रानुसार बोलने की आज्ञा दी है वह–इस प्रकार का सूत्रविरुद्ध वचन मुँह से भी नहीं बोल सकता है तब ऐसी साहित्यिक रचना तो भला वह कर ही कैसे सकता है? यहाँ यह बात ध्यानमें रखने की है कि सोमदेव ने इस नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ की प्रशस्ति में यशस्तिलक का उल्लेख किया है। इसलिए यशस्तिलक की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचना के बाद नीतिवाक्यामृत की रचना हुई है। अतः सोमदेव की प्रामाणिकता जब नीतिवाक्यामृत के निर्माण के वक्त ही नहीं रही तो उसके पहिले यशस्तिलक के निर्माण के वक्त कैसे हो सकती है ?

सोमदेव ने आधुनिक मुनियों के बावत जो उद्गार प्रकट किये हैं वे भी विचारणीय हैं। वे लिखते हैं—

यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥१॥
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्तः संत्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥२॥
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः ।
बहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥३॥

अर्थ—जैसे लेप पाषाणादि में बनाया हुआ अर्हंतो का रूप पूज्य है वैसे ही वर्तमान काल के मुनि भी पूजनीय हैं। (चाहे वे आचार भ्रष्ट ही हों) क्योंकि बाहर में उनका रूप भी वही है जो प्राचीनकाल के मुनियों का था।

भोजनमात्र देने में तपस्वियों की क्या परीक्षा करनी ? वे अच्छे हों या बुरे, गृहस्थ तो दान देने से ही शुद्ध हो जाता है।

गृहस्थ लोग अनेक आरम्भ करते रहते हैं जिनमें उनका बहुत प्रकार से धन खर्च होता रहता है। अतः साधुओं को आहार देने में उन्हें सोच विचार नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार सोमदेव ने आचारहीन मुनियों को मानने की प्रेरणा की है। सोमदेव के वक्त भी ऐसे सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ श्रावक थे जो परीक्षा करके देव शास्त्र गुरुओं को मानते-पूजते थे, यहाँ तक कि शिथिलाचारी जैन मुनियों को आहारादि देने में भी संकोच करते थे। उन्हीं को लक्ष्य में रख कर सोमदेव ने ऐसी बातें कही हैं। सोमदेव ने जो इस विषय में दलीलें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दी हैं वे सब निःसार हैं। प्रथम श्लोक में हेतु दिया है कि—"जैसे पाषाणादि में अंकित जिनेन्द्र की आकृति पूजनीय है उसी तरह वर्तमान के मुनियों की आकृति भी पूर्व मुनियों जैसी होने से वह भी पूजनीय है" सोमदेव का ऐसा लिखना ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ जो दृष्टान्त दिया है वह विषम है। पाषाणादि में अंकित जिनेन्द्र की आकृति की तरह पाषाणादि में अंकित मुनि की आकृति भी पूजनीय है ऐसा लिखा जाता तो दृष्टान्त बराबर बन जाता और वह ठीक माना जा सकता था। किन्तु यहाँ अचेतन से चेतन की तुलना की गई है इसलिये दृष्टान्त मिलता नहीं है। प्रत्युत उल्टे यह कहा जा सकता है कि—जैसे सचेतन किसी पुरुष विशेष को जिनेन्द्र की आकृति का बनाकर उसे पूजना अनुचित है। उसी तरह सचेतन पुरुषविशेष में केवल मुनि की आकृति देखकर—मुनि जैसे उसमें गुण न हो तब भी उसे पूजना अनुचित है। प्रथा भी ऐसी ही है कि—जैनी लोग पार्श्वनाथ जी की मूर्त्ति को तो पूजेंगे परन्तु किसी आदमी को पार्श्वनाथ मानकर नहीं पूजेंगे। लोक में भी यह देखा जाता है कि—किसी देश के राजा की मूर्ति बनाकर सम्मान करे तो राजा उसपर खुश होता है। किन्तु किसी अन्य ही पुरुष को उस देश का राजा मानकर उसका सम्मान करे तो वे राजा द्वारा दंडनीय होते हैं। इस तथ्य के विपरीत लिखकर सचमुच ही सोमदेव ने बड़ा अनर्थ किया है। इन्हीं सोमदेव ने इसी ग्रन्थ के "शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः।" इस श्लोक ४८१ में कहा है कि—किसी शुद्ध वस्तु में परवस्तु का संकल्प होता है। जैसे कन्या में पत्नी का संकल्प। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान के अशुद्ध मुनियों में पूर्व मुनियों का संकल्प भी नहीं हो सकता है। इस तरह सोमदेव का कथन पूर्वापर विरुद्ध है।

दूसरे श्लोक में सोमदेव ने कहा है कि—"अच्छा हो या बुरा कैसा भी साधु हो गृहस्थ को तो दान देने से मतलब है। दान का फल तो अच्छा ही लगेगा गृहस्थ तो दान देने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा लिखना भी ठीक नहीं है। अगर ऐसा ही हो तो अन्य जैन शास्त्रों में सदसत् पात्र का विचार क्यों किया गया है? और क्यों कुपात्र को दान देने का निषेध किया है? अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद १० में लिखा है कि—

जैसे कच्चे घड़े में जल का भरना वेकार है उसी तरह कुपात्र को दान देना निष्फल है। (श्लो० ५१) जैसे सर्प को दूध पिलाना विष का उत्पादक है उसी तरह कुपात्र को दान देना दोषों का उत्पादक है। (श्लो० ५३) असंयमी को दान देकर पुण्य चाहना वैसा ही है जैसे जलती अग्नि में बीज डालकर धान्य होने की वांछा करना। (श्लो० ५४) कड़वी तूम्बी में रक्खे दूध की तरह कुपात्र में दिया दान किसी काम का नही रहता है। (श्लो० ५६) लोहे की बनी नाव की तरह कुपात्रदानी संसार समुद्र से नहीं तिर सकता है। (श्लो० ५७) जो अविवेकी फल की इच्छा से कुपात्रों को दान देता है वह मानों वन में चोरों के हाथों में धन देकर उनसे उस धन के पुनः मिलने की आशा करता है। (श्लो० ६०) अपात्र दान का फल पाप के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। बालू रेत के पेलने से खेद के सिवा और क्या फल मिल सकता है? (११ वां परिच्छेद श्लो० ९०)

तत्त्वार्थसूत्र में भी "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः" इस सूत्र में बताया है कि—जैसा-जैसा द्रव्य, विधि, दाता, और पात्र होगा वैसा-वैसा ही उसका फल मिलेगा।

श्लो० ३ में सोमदेव ने लिखा है कि—"यों भी गृहस्थ के अनेक खर्च होते रहते हैं। तब साधु को भोजन जिमाने में क्यों सोच विचार करना?" ऐसा लिखना भी योग्य नहीं है। साधारण आदमी को भोजन जिमाने और जैनमुनि को भोजन जिमाने में बड़ा अन्तर है। जैनमुनि को पूज्य गुरु मानकर जिमाया जाता है और जिमाने के पूर्व नवधा भक्ति की जाती है। इसलिये यहाँ सवाल आर्थिक खर्च का नहीं आता पूज्य-अपूज्य का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आता है। एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आचारहीन मुनि की पूजा-वंदना कैसे कर सकता है? क्योंकि आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने दर्शन पाहुड़ में ऐसा कहा है—

अस्संजदं ण वंदे तत्थविहीणो वि सो ण वंदिज्जो।
दोण्णिवि होंति समाणा रागोवि ण संजदो होदि ॥२६॥

अर्थ—जो सकल संयमी नहीं है गृहस्थ है उसकी वंदना न करे। और जो वस्त्र त्याग कर नग्न साधु बन गया है परन्तु सकल संयम का पालन नहीं करता है वह भी वंदने योग्य नहीं है। दोनों ही यानी गृहस्थ और मुनिवेषी एक समान हैं। दोनों में एक भी संयमी—महाव्रती नहीं है। भावार्थ—गृहस्थ तो वैसे ही वंदना योग्य नहीं है किन्तु वह मुनि भी वंदना योग्य नहीं है जो नग्नलिंग धारण करके सकल संयम की विराधना करता है।

यहाँ पर आचार्य श्री कुंदकुंद ने शिथिलाचारी मुनियों की वंदना तक न करने का आदेश दिया है। तब एक सम्यग्दृष्टि ऐसे श्रमणाभासों की नवधा भक्ति तो कर ही कैसे सकता है? नवधा भक्ति में तो वंदना के साथ पूजा भी करनी होती है। और चरण धोकर उनका चरणोदक भी मस्तक पर चढ़ाना पड़ता है।

जहाँ सोमदेव ने "यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां" श्लोक कहकर केवल मुनि के वेषमात्र को ही पूजनीय बताया है वहाँ कुंदकुंद ने उसका निषेध किया है। कुंदकुंद का कहना है कि—मुनिजन उसी हालत में पूजनीय हैं जबकि वे मुनि के चरित्र का यथावत् पालन करते हों। इस तरह सोमदेव और कुंदकुंद के उपदेश में बहुत बड़ा अन्तर है। सोमदेव ने तो जो नाम निक्षेप से मुनि हो उसे भी मानने को कहा है।

उन्होंने यशस्तिलक में लिखा है कि—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो, न लभ्यो वा यथागमम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—चित्त जहाँ चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। ऐसे कलिकाल में आज जिर्मलिंग के धारी मुनियों का दिखाई देना आश्चर्य है। इस काल में शास्त्रोक्त चरित्र के धारी मुनि कोई एक हो तो हो वर्ना नहीं ही हैं।

सोमदेव ने ऐसा लिखकर अपने समय में यथार्थ मुनियों को अलभ्य बताया है इसलिये इस कलिकाल में जैसा भी जैन मुनि मिल जावे उसी को मान लेना चाहिये ऐसा आदेश दिया है। मतलब कि किसी देश में हंस नहीं हो तो काग को ही हंस मान लेना चाहिये ऐसा सोमदेव का कथन है किन्तु इस काल में यथार्थ मुनियों का मिलना अलभ्य ही हो ऐसा भी सर्वथा नहीं है। सोमदेव के वक्त भी श्रेष्ठ मुनियों का सद्भाव था। देवसेन ने वि० सं० ९९० में दर्शनसार ग्रंथ बनाया और सोमदेव ने वि० सं० १०१६ में यशस्तिलक बनाया। इससे देवसेन भी सोमदेव के वक्त हुये हैं। और इसी काल में गोम्मटसार के कर्ता नेमिचंद्र और उनके सहवर्ती वीरनंदी, इंद्रनंदी, कनकनंदी और माधवचंद्र हुये हैं। ये सब माननीय आचार्य सोमदेव के समय के लगभग ही हुये हैं। इतना होते भी सोमदेव ने जो उस वक्त के मुनियों के अस्तित्व में आश्चर्य प्रगट किया है और यथार्थ मुनियों को अलभ्य बताया है। उससे ऐसा झलकता है कि—सोमदेव स्वयं यथार्थ मुनि नहीं थे और न उनमें इतना साहस था जो वे यथार्थ मुनि बन सकें इसीलिये उन्होंने ऐसा लिखा है सो ठीक ही है जो जैसा होता है वैसा ही बलबूते को प्ररूपणा करता है।

यशस्तिलक में राजा यशोधर का चरित वर्णन करते हुये चंडमारी देवी के अनेक पशु युगल और मनुष्य युगल को बलि चढ़ाने का वृत्तांत लिखा है। यह चंडमारी देवी कोई धातुपाषाण की बनी देवी की मूर्ति नहीं थी। किन्तु देवलोक की कोई देवी थी। ऐसा यशस्तिलक चंपू उत्तरार्द्ध पृष्ठ ४१८ (निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित) के निम्न श्लोक से प्रगट होता है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नद्वयेन समलंकृतचित्तवृत्तिः सा देवतापि गणिनो महमारचय्य ।
द्वीपान्तर-द्युनग-जातजिनेन्द्रसद्मवंदारुताऽनुमतकामपरायणाऽभूत् ॥

अर्थ—उस समय वह चण्डमारी देवी भी सुदत्ताचार्य गणी की पूजा करके रत्नद्वय कहिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से जिसकी चित्तवृत्ति अलंकृत हो गई है ऐसी वह देवी द्वीपान्तरों, स्वर्गों और पर्वतों पर स्थित जिन-चैत्यालयों की वन्दना में प्रवृत्त हुई।

दिगम्बर जैनागम के अनुसार देवलोक की कोई भी देवी मदिरा मांस का सेवन करती नहीं। तब फिर उक्त चंडमारी देवी अपने लिये जीवों की बलि किस अर्थ चढ़वाती थी। ऐसा करने का उसका अन्य कारण क्या था? जिसका स्पष्टीकरण सोमदेव ने कथा भर में कहीं भी क्यों नहीं किया? कथा पढनेवाले को तो यही प्रतिभासित होता है कि—जैनधर्म में भी देवलोक की देवी मांस खाती है और तदर्थ जीवोंकी बलि चढ़वाती है।

इत्यादि बातों से सोमदेव मूलसंघ के ऋषि मालूम नहीं होते हैं। अतः उनका पंचामृताभिषेक लिखना मानने योग्य नहीं है।

वसुनन्दि

इनका बनाया हुआ प्राकृत में श्रावकाचार ग्रन्थ है। जिसका प्रचलित नाम वसुनन्दिश्रावकाचार है। उसमें भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख है। ये वसुनन्दि भी मूलसंघ के नहीं हैं। इन्होंने इस श्रावकाचार की प्रशस्ति में अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—श्रीनन्दि-नयनन्दी-नेमिचन्द्र और वसुनन्दी। इस परम्परा में वसुनन्दी ने अपने दादा गुरु का नाम नयनन्दी लिखा है। एक नयनन्दी वे भी हुये हैं जिन्होंने अपभ्रंश भाषा में सुदर्शन चरित रचा है। उसमें वे अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार देते हैं—नन्दनन्दी-रामनन्दी-माणिक्यनन्दी-नयनन्दी। इस परम्परा में नयनन्दी ने अपने गुरु का नाम माणिक्यनन्दी लिखा है। और श्रीनन्दी का परम्परा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में कहीं कोई नाम ही नहीं है। जब कि वसुनन्दी ने नयनन्दी के गुरु का नाम श्रीनन्दि लिखा है। अतः सुदर्शन चरित के कर्ता नयनन्दी वसुनन्दी के दादा गुरु नहीं हो सकते हैं। एक श्रीनन्दि वे हुये हैं जिनके शिष्य श्रीचन्द्र ने पुराणसार ग्रन्थ और उत्तरपुराण तथा पद्मचरित पर टिप्पण लिखा है। पद्मचरित पर टिप्पण श्रीचन्द्र ने वि० सं० १०८७ में धारा नगरी के राजा भोजदेव के राज्य में लिखा है। इस टिप्पण की प्रशस्ति में श्रीचन्द्र ने अपने गुरु श्रीनन्दि को बलात्कारगण का आचार्य बताया है। (देखो भट्टारक संप्रदाय पुस्तक पृ० ३९) वसुनन्दी ने अपनी गुरु परम्परा में जिन श्रीनन्दि का नाम लिखा है संभवतः वे श्रीनन्दी और श्रीचन्द्र के गुरु श्रीनन्दी दोनों अभिन्न हो सकते हैं। बलात्कारगण के भट्टारक अपने को कुन्दकुन्द की परम्परा के बतलाया करते हैं। वसुनन्दी ने भी श्राचकाचार की प्रशस्ति में ऐसा ही लिखा है। बलात्कारगण यह नाम भट्टारकों का चलाया हुआ है। पूर्वाचार्यों ने कहीं भी अपने को बलात्कारगण का नहीं लिखा है। इस गण का उल्लेख विक्रम की ११-१२ वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता है। इस गण के साधु ११-१२ वीं शताब्दी में ही भूमिदान लेने लग गये थे। जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृ० २२० में बलात्कारगण के आचार्य केशवनन्दी को वि० सं०११०५ में दिये भूमिदान का उल्लेख है। उसी दूसरे भाग के पृ० ३३६ में बलात्कारगण के आचार्य पद्मप्रभ को वि० सं० ११४४ में दिये गए दान का उल्लेख है। विक्रम की १४ वीं सदी से इस गण के साथ "सरस्वती-गच्छ" नाम भी जुड़ने लगा है। इसी बलात्कारगण में कारंजा शाखा, लातूर शाखा के भट्टारक हुये हैं तथा उत्तर शाखा के भट्टारक हुये हैं। उत्तर शाखा के भट्टारकों में वि० सं० १३८५ के लगभग पद्मनन्दि भट्टारक हुए। जिनके तीन शिष्य—शुभचन्द्र, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति हुये। शुभचन्द्र से दिल्ली जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चली। सकलकीर्ति से ईडर की गद्दी चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की गद्दी चली। इस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये भट्टारक जो अपने को मूलसंघी और कुन्दकुन्द के अन्वय के बतलाते हैं ये सब बलात्कारगण में हुए हैं। इसी बलात्कारगण में लगभग विक्रम की १२ वीं शताब्दी में श्रावकाचार के कर्त्ता वसुनन्दी हुये हैं ये भी भट्टारक ही थे। अतः इन्होंने जो पंचामृताभिषेक लिखा है वह मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

इस वसुनन्दि ने श्रावकाचार में कुछ अन्य भी कथन विलक्षण किये हैं। जैसे दूसरे गुणव्रत स्वरूप (गाथा २१५ में) ऐसा बताया है—"जिस देश में जाने से व्रतों का भंग होता हो उस देश में जाने का त्याग करना इसे देशव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत कहते हैं।" यह कथन अन्य पूर्ववर्ती सभी जैन शास्त्रों से विलक्षण है। उनमें "दिग्व्रत में की हुई मर्यादा के भीतर किसी काल प्रमाण से अल्पक्षेत्र की मर्यादा करके उससे बाहर न जाने को देशव्रत कहा है।" यह त्याग उत्कृष्ट है, ऐसा त्यागी सीमा के बाहर महाव्रती के तुल्य हो जाता है और इसका किसी अन्य व्रतों में अन्तर्भाव भी नहीं होता है। यह जुदा ही एक स्वतंत्र व्रत है किन्तु वसुनन्दि ने देशव्रत का जैसा स्वरूप लिखा है उससे वह एक स्वतंत्र व्रत सिद्ध नहीं होता है। जहाँ जाने से अहिंसादि व्रतों की विराधना होती हो ऐसे स्थान में नहीं जाना यह तो अणुव्रतों का ही पालन हुआ ऐसा प्रयास तो अणुव्रती हरदम करेगा ही उसे ही एक जुदा देशव्रत बतलाना निरर्थक है, स्वकल्पित है और पूर्वाचार्यों की परिपाटी से भिन्न है।

इसी तरह वसुनन्दी ने (गाथा ३१२ में) देशव्रती को सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने का अनधिकारी बताया है। इनका कथन भी ठीक नहीं है। लौकांतिक देवों को शास्त्रों में द्वादशांग के ज्ञाता बताये हैं और ये सब देव चतुर्थ गुणस्थानी होते हैं। जब कि चौथे गुणस्थान के धारी अंगपूर्वों के पाठी हो सकते हैं तो पंचम गुणस्थानी देशव्रती क्यों नहीं हो सकते हैं? आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण पर्व ३९ में श्रावकीय क्रियाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि—पाँचवीं पूजाराध्य क्रिया में श्रावक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंगों के अर्थ समूह को सुनता है। और छठवीं पुण्ययज्ञ क्रिया में पूर्वों के अर्थको सुनता है। (श्लोक ४९-५०) ऐसी अवस्था में वसुनन्दी का यह लिखना कि "देशव्रती श्रावक को सिद्धान्ताध्ययन का अधिकार नहीं है।"—उचित नहीं है। उसका समर्थन पूर्वाचार्यों के शास्त्रों से नहीं होता है।

वसुनंदि ने उक्त श्रावकाचार की गाथा २३४ में तीनों पात्रों को नवधा भक्ति से आहार देने का आदेश दिया है। और इन्हों ने ही गाथा २२२ में अविरत सम्यग्दृष्टि को पात्र का तीसरा भेद—जघन्य पात्र बताया है। तो क्या आहार देते समय जघन्य पात्र की भी नवधा भक्ति की जावे? नवधा भक्ति में वसुनंदी ने गाथा २२६ आदि में प्रणाम-अर्चन और पात्र के पादोदक, को मस्तक पर चढ़ाना भी बताया है। तो क्या जघन्य पात्र का भी अर्चनादि किया जावे? वसुनंदि का ऐसा कथन बिल्कुल अयुक्त है। कहाँ तो आचार्य श्री कुन्दकुन्द की यह आज्ञा कि "एक मुनि-लिङ्ग ही वंदने योग्य है। इसके सिवा अन्य लिङ्ग जो दर्शन ज्ञान से सहित हो पर वस्त्रधारी हो ऐसे क्षुल्लकादि भी वंदना योग्य नहीं हैं—इच्छाकार योग्य हैं।" (सूत्रपाहुड़ गाथा १३) और कहाँ वसुनंदीका उक्त कथन। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में वसुनंदि की तरह कथन है परन्तु वहाँ संक्षिप्त कथन होने से ऐसा लिखा गया है। वसुनंदी ने तो दान का ५० गाथाओं में विस्तार से कथन किया है फिर उन्होंने यहाँ ऐसा सामान्य कथन क्यों किया? बात यहाँ कुछ ऐसी ज्ञात होती है कि भट्टारक साधुओं की गणना उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्रों में से किस भेद में की जावे? ये भट्टारक न तो पूरी मुनि की क्रियायें पालते हैं और न प्रतिमाधारी श्रावकों की ही। फिर भी ये अपना आदर सम्मान मुनियों जैसा ही चाहते हैं इसी अभिप्राय से वसुनंदी ने यहाँ गोलमाल उपदेश दे दिया है और भी कथन इनके विलक्षण हैं। जैसे इन्होंने श्रावक के बारह व्रतों के अतीचार ही नहीं लिखे हैं। जब कि इनसे पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने अतीचार लिखे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। इन वसुनंदी का समय १२ वीं शताब्दी है। जो श्रीनंदी श्रीचन्द्र के गुरु हुए वे ही नयनंदी के गुरु हुए। श्रीचन्द्र का समय ऊपर वि० सं० १०८७ बता आये हैं। और चूँकि वसुनंदी के नयनंदी दादागुरु होते हैं इस हिसाब से वसुनंदी का समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भी हो सकता है।

अभयनन्दी

इनका बनाया संस्कृत में लघुस्नपन अपर नाम श्रेयो विधान नाम का अभिषेक पाठ है। यह अभिषेक पाठ संग्रह में छपा है। इसमें पंचामृत से अभिषेक करने की विधि लिखी है। ये कब हुए व इनकी गुरु परिपाटी क्या थी इसका कोई पता इस पाठ पर से नहीं लगता है। जैनेन्द्र व्याकरण की महावृत्ति के कर्त्ता भी अभयनंदी हुए हैं जिनका समय वि० की ८-९ वीं शताब्दी के बाद और १२ वीं शताब्दी से पूर्व का माना जाता है। लघुस्नपन के टीकाकार भावशर्मा ने इन्हीं महावृत्तिकार अभयनंदी को लघुस्नपन का कर्त्ता माना है। परन्तु ऐसा मानने में कोई आधार नहीं लिखा है। लघुस्नपन की टीका का रचना काल राजस्थान ग्रंथ सूची द्वि० भाग के पृ० १४ में वि० सं० १५६० लिखा है। महावृत्तिकार अभयनंदी से लगभग पाँचसौ से भी अधिक वर्षों बाद होने वाले भावशर्मा के बिना आधार लिख देने मात्र से ही ऐसा कैसे मान लें कि महावृत्तिकार अभयनंदी ही इस लघुस्नपन के निर्माता हैं। गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र के गुरु का नाम भी अभयनंदी है। सेठ माणिकचन्दजी जौहरी का जीवन चरित्र पृ० २८ में प्रतिमा लेख छपा है उसमें भी वि० सं० १३८७ के समय के एक अभयनंदी का उल्लेख हुआ है। और भी अभयनंदी हुए होंगे। इन सब में कौन अभयनंदी लघुस्नपन के कर्त्ता हैं ऐसा कोई निश्चित नहीं है। ऐसी अवस्था में बिना पुष्ट प्रमाण के नेमिचन्द्र के गुरु अभयनंदी को या महावृत्ति के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्त्ता अभयनंदी को लघुस्नपन का कर्त्ता कह देना उच्छृंखलता है। इसलिए जब तक लघुस्नपन के कर्त्ता अभयनंदी का समय पूर्ण निश्चय न हो जाये तबतक वह ग्रंथ और उसमें लिखा पंचामृत का विधान मूलसंघ का नहीं माना जा सकता है।

पूज्यपाद और गुणभद्र

अभिषेक पाठसंग्रह में इन दोनों के बनाये प्रतिष्ठापाठ भी छाप रक्खे हैं। इन दोनों पाठों में भी पंचामृत से अभिषेक करने का विधान लिखा है। ये पूज्यपाद और गुणभद्र वे आचार्य नहीं हैं जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि और उत्तरपुराण ग्रंथ रचे हैं। किन्तु ये दूसरे ही पूज्यपाद-गुणभद्र हुए हैं जो भट्टारक थे और आशाधर के बाद हुए हैं। इस सम्बन्ध में हम ने इसी पुस्तक में जुदे लेखों में विस्तृत विचार किये हैं, उन्हें देखें।

देवसेन

इनका बनाया प्राकृत में भावसंग्रह नाम का ग्रंथ है। उसमें भी पंचामृत का उल्लेख है। ये देवसेन वे प्राचीन देवसेन नहीं हैं जिन्हों ने दर्शनसार, आराधनासार आदि ग्रंथ लिखे हैं। भावसंग्रहकार देवसेन तो आशाधर के बाद हुए हैं। इनके सम्बन्ध में भी हम ने अपने विस्तृत विचार इसी पुस्तक में अन्यत्र प्रकट किये हैं, वहाँ देखें।

मल्लिषेण

इनका बनाया संस्कृत में नागकुमार चरित है। जिसमें पंचामृत का उल्लेख है। ये मल्लिषेण मन्त्रवादी मठपति साधु थे। इन्होंने "भैरव पद्मावती कल्प" नाम का मन्त्र शास्त्र लिखा है जो छप चुका है। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण आदि के प्रयोग लिखे हैं। कई प्रयोग बड़े घृणित हैं। एक यथार्थ जैनमुनि अपनी कलम से ऐसा नहीं लिख सकता है। ये विक्रम की १२ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। इनके गुरु का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम जिनसेन था। एक दूसरे मल्लिषेण वे हुए हैं जो 'मलधारि' पद के धारी थे और जिनकी समाधि श्रवणबेलगोल में वि० सं० ११८५ में हुई थीं। ऐसा मल्लिषेणप्रशस्ति में लिखा है। ये अजितसेन के शिष्य थे और बड़े भारी योगी जितेन्द्रिय थे। इस तरह दोनों मल्लिषेण भिन्न-भिन्न थे। एक अजितसेन के शिष्य थे और दूसरे जिनसेन के शिष्य थे। इस प्रकार नागकुमार चरित के कर्त्ता मल्लिषेण मूलसंघ के नहीं हैं।

वर्द्धमान कवि

इनका बनाया हुआ संस्कृत में वरांग चरित्र है। उसमें भी पंचामृत का विधान है। इनके शिष्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका ग्रंथ बनाया है। इनके समय वि० सं० १४४२ में विजयनगर में एक जिनमन्दिर बनाया गया था। उसके शिलालेख में धर्मभूषण की गुरुपरंपरा (भट्टारक संप्रदाय पृ०–४२) इस प्रकार लिखी है—धर्मभूषण-अमरकीर्ति, अमरकीर्ति के दो शिष्य सिंहनंदि और धर्मभूषण। सिंहनंदि के वर्द्धमान और वर्द्धमान के धर्मभूषण। ये ही धर्मभूषण न्यायदीपिका के कर्ता हैं। इन्होंने अपने गुरु का नाम वर्द्धमान लिखा है और अपने को अभिनव-धर्मभूषण लिखा है। इनकी गुरु परंपरा में दो धर्मभूषण और हुए हैं इसलिये उनसे पृथक् बोध कराने के लिये इन्होंने अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण दिया है। इनके विषय में विशेष जानना चाहें तो वीरसेवामंदिर से प्रकाशित न्यायदीपिका की प्रस्तावना देखना चाहिये। इनका समय उक्त शिलालेख में वि० सं०१४४२ लिखा है। इन धर्मभूषण के गुरु वर्द्धमान का विंध्यगिरि के शिलालेख में उल्लेख हुआ है। (देखो भट्टारक संप्रदाय पृ०–४२) वहाँ इनका समय वि० सं० १४२० लिखा है। उक्त विजयनगर के शिलालेख में इन वर्द्धमान को बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ का लिखा है। और वरांगचरित के कर्ता वर्द्धमान भी अपनेको बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ का लिखते हैं अतः शिलालेख वाले वर्द्धमान और वरांगचरित के कर्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्द्धमान दोनों एक ही हैं जिनका समय वि० सं० १४२० है। इनको हरिवंशपुराणकार जिनसेन से पूर्व का बताना भारी ऐतिहासिक अज्ञानता है और दूसरों को धोखा देना है। हम ऊपर लिख आये हैं कि बलात्कार-गण और सरस्वती गच्छ का नामोल्लेख भट्टारकों के साथ होता है। अतः ये वर्द्धमान भी भट्टारक ही हुये हैं। उक्त विंध्यगिरि के शिलालेख में इन वर्द्धमान की गुरु परम्परा में वसंतकीर्ति का नाम आया है। इन वसंत-कीर्ति के बावत श्रुतसागर ने षट्पाहुड़ की टीका पृ० २१ में लिखा है कि—"इन्होंने नग्न मुनियों को यह आदेश दिया है कि—चर्यादि के लिये जब वे बस्ती में आवें तो तट्टीसारादि (आवरणविशेष) से शरीर को ढक कर आवें यह अपवाद वेष है।" ऐसा शिथिलाचार का उपदेश देने वाले वसंतकीर्ति की शिष्यपरम्परा में वर्द्धमान कवि हुये हैं जिन्होंने वरांग-चरित्र बनाया है। अतः ये मूलसंघ के ऋषि नहीं थे; भट्टारक थे।

पंचामृताभिषेक के समर्थन में और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उनमें से कितने ही तो स्पष्टतः भट्टारकीय ही हैं और कुछ गृहस्थ या ब्रह्मचारी विद्वानों के हैं अतः सब अमान्य हैं। उनका कुछ इतिहास यहाँ बता देते हैं—

(१) ब्रह्मसूरि—ये १६ वीं शताब्दी में हुये हैं। गृहस्थ विद्वान् हैं। नेमिचंद्रकृत प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ की प्रशस्ति के अनुसार इन नेमिचंद्र के ब्रह्मसूरि मामा लगते हैं।

(२) एकसंधि—ये भट्टारक थे। इनका समय १४ वीं शताब्दी है। इनके विषय में इस पुस्तक में अन्यत्र भी लिखा गया है।

(३) सोमसेन—त्रिवर्णाचार के कर्ता। ये सेनगण के भट्टारक थे। इनका समय १७ वीं शताब्दी है। इनके त्रिवर्णाचार की परीक्षा श्री मान-नीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'ग्रंथ परीक्षा, भाग ३' में की है उसमें इनका विशेष हाल देखें।

(४) सावयधम्म दोहा—इसे योगींद्रदेवकृत श्रावकाचार बताया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। कोई इसे देवसेन कृत बताते हैं। ये सब मिथ्या कल्पनायें हैं। दरअसल यह भट्टारक लक्ष्मीचंद्र की १६ वीं शताब्दी की रचना है। यह ग्रंथ हमारे केकड़ी नगर से प्रकाशित हुआ है। जिसका संपादन और हिन्दी अनुवाद स्थानीय विद्वान् पं० दीपचंद जी पांडया शास्त्री ने किया है। इस ग्रंथ के कर्ता के विषय में विशेष हाल उसकी प्रस्तावना में देखें।

(५) सकलकीर्ति—श्रीपाल चरित और रत्नत्रयाद्यभिषेक पाठ के कर्ता। एक प्रसिद्ध सकलकीर्ति ये हुये जो भट्टारक पद्मनंदि के शिष्य थे। और ईडर की गद्दी के भट्टारक थे। ये वि० की १५ वीं शताब्दी में हुये हैं। जिस श्रीपाल चरित में पंचामृत का अभिषेक लिखा है उसके कर्ता ये ही सकलकीर्ति हैं या दूसरे? एक दूसरे सकलकीर्ति वि० सं० १६०५ में भी हुये हैं। (देखो भट्टारक संप्रदाय में लेखांक ४७१) क्या पता उक्त दोनों ग्रन्थों के कर्ता ये दूसरे सकलकीर्ति ही हों?

(६) उमास्वामी श्रावकाचार। इस श्रावकाचार में पंचामृत का विधान है। इसे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रसिद्ध आचार्य उमास्वामी का रचा हुआ कहते हैं जो सरासर गलत है और अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये धोखा देते हैं। इस ग्रंथ में यशस्तिलक, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, आदि-पुराण, पं० मेधावी, पं० आशाधर के श्लोक पाये जाते हैं। अतः यह हरगिज भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता आचार्य उमास्वामी की कृति नहीं है। किसी ने उमास्वामी के नाम पर यह ग्रंथ रचकर अपना कुत्सित आम्नाय चलाने का प्रयत्न किया है। कुन्दकुन्द श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार, भद्रबाहुसंहिता आदि और भी ग्रंथ इस किस्म के दिगंबर जैनधर्म में मिलते हैं जिनकी श्री मुख्तार सा० पं० जुगलकिशोर जी ने ग्रंथ-परीक्षा के भागों में अच्छी कलई खोली है उन्हें देखना चाहिये।

(७) मंडलाचार्य धर्मचन्द्र और कवि दामोदर :—

धर्मचन्द्र ने गौतमचरित्र लिखा और कवि दामोदर ने संवत् १७२७ में चंद्रप्रभचरित्र लिखा। इन दोनों ग्रंथों में पंचामृत का विधान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गौतमचरित्र की प्रशस्ति के अनुसार धर्मचंद्र जी मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती-गच्छ के भट्टारक थे और अपने गुरु श्रीभूषण की मारौठ की भट्टारकीय गद्दी पर बैठे थे। इन्होंने वि० सं० १७२६ में गौतम चरित्र की रचना की थी। कवि दामोदर इन्हीं के शिष्य थे किन्तु पट्टधर शिष्य नहीं थे। संभवतः वे गृहस्थ-विद्वान् ही मालूम पड़ते हैं।

(८) वामदेव—संस्कृत-भाव-संग्रह के कर्ता। इन्होंने पंचामृत का उल्लेख किया है। ये संभवतः कायस्थ माने जाते हैं। इनके बनाये भाव-संग्रह में संहिता का अर्द्ध-श्लोक उद्धृत हुआ है। वह श्लोकार्द्ध इन्द्रनंदि संहिता का है। संहिताकार इन्द्रनन्दि पं० आशाधर जी के बाद हुये हैं। यह निश्चित है। अर्थात् आशाधर के बाद इन्द्रनन्दि हुये और इन्द्रनन्दि के बाद वामदेव हुये अतः वामदेव पंद्रहवीं सदी के विद्वान् माने जा सकते हैं।

(९) अर्यपार्य्य :—जिनेंद्र कल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठा शास्त्र के कर्ता। इन्होंने भी पंचामृत लिखा है। उक्त प्रतिष्ठाशास्त्र विक्रम सं० १३७६ में बना है। इसकी प्रशस्ति के अनुसार अर्यपार्य्य करुणाकर श्रावक के पुत्र थे। माता का नाम अर्काम्बा था। अर्यपार्य्य ने अपने को कहीं मुनि नहीं लिखा है। अतः ये गृहस्थ विद्वान् थे।

(१०) इन्द्रनन्दि :—अभिषेक पाठ के कर्ता। इस पाठ में पंचामृत से अभिषेक करना लिखा है। इन ही इन्द्रनन्दि ने जिनसंहिता ग्रन्थ बनाया है जिसमें आचमन, तर्पण, गोदान और पिण्डदान आदि कई विधि-विधान लिखे हैं। इससे यह स्पष्टतः भट्टारक मालूम पड़ते हैं। ब्रह्मसूरि, सोमसेन आदिकों ने जो त्रिवर्णाचार ग्रन्थ बनाये हैं उन सबका आधार प्रायः यही जिनसंहिता रही है। ये १४वीं शताब्दी में हुये हैं। इनके विषय में इसी पुस्तक में "त्रिवर्णाचारों और संहिता ग्रन्थों का इतिहास" शीर्षक लेख में भी बहुत कुछ लिखा गया है, उसे पढ़ें।

(११) नेमिचन्द्र कृत अभिषेक पाठ में भी पंचामृत का विधान है। ये वे ही नेमिचन्द्र हैं जिन्होंने प्रतिष्ठा-तिलक ग्रन्थ बनाया है। ये ब्रह्मसूरि के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भानजे लगते हैं। ऊपर ब्रह्मसूरि का समय १६वीं शताब्दी बताया है। वही समय इनका भी है। ये स्थिरकदंब नगर के निवासी थे। उक्त प्रतिष्ठा ग्रन्थ की प्रशस्ति में इन्होंने अपना बहुत सा कौटुम्बिक परिचय दिया है। इनको राजा द्वारा चँवर, छत्र, पालकी भेंट में मिली थी अतः ये भट्टारकीय पण्डित मालूम पड़ते हैं।

(१२) पं० उदयलाल जी काशलीवाल ने "संशयतिमिरप्रदीप" नामक एक पुस्तक लिखी है। उसके पृष्ठ ५८ पर नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती कृत त्रिलोकसार ग्रन्थ की गाथा देकर भगवान् का चन्दन से अभिषेक करना सिद्ध किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

चन्दणाहिसेयणच्चणसंगीयवलोय मंडवेहिं जुदा।
कीडण-गुणण गिहेहिं य विसाल वरपट्ट सालाहिं ॥१००९॥

इसका अर्थ उदयलाल जी ने ऐसा किया है—

"चन्दन करके जिन-भगवान का अभिषेक, नृत्य, संगीत का अवलोकन, मन्दिरों में योग्य क्रीड़ा का करना और विशाल पट्टशाला करके।"

इस प्रकार उदयलालजी ने इस गाथा का प्रमाण देकर त्रिलोकसार द्वारा चन्दन से अभिषेक करने का विधान बताया है परन्तु इस गाथा में "चन्दणाहिसेय" वाक्य गलत है। उसकी जगह "वंदणाहिसेय" वाक्य चाहिये। यही वाक्य टोडरमलजी कृत वचनिका में है और माधवचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका में भी यही वाक्य है। पं० टोडरमलजी ने इस गाथा का अर्थ ऐसा किया है—

"बहुरि ते चैत्यालय वन्दना मंडप कहिये, सामायिकादि करने के स्थान, स्नान करने के स्थान, नृत्य करने के स्थान, संगीत साधने के स्थान अवलोकन करने के साथ तिनकरि संयुक्त हैं.....।"

संस्कृत टीकाकार ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। इतना स्पष्ट होते भी और त्रिलोकसार की संस्कृत टीका और वचनिका मौजूद होते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी पंडित उदयचन्दालजी ने वंदना की जगह चन्दना पाठ क्यों लिखा ? कारण स्पष्ट है। अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये जब उन्हें भट्टारकीय ग्रन्थों के सिवा अन्य कोई मान्य आचार्यों का प्रमाण नहीं मिला तो इसके सिवा वे और क्या करते ? यही रवैय्या आज के विपक्षी पण्डितों का भी है। वे भी मान्य आचार्यों के प्रमाण नहीं मिलने से इन भट्टारकों को ही मूलसंघ के महान् आचार्य बतला-बतला कर उनके ही ग्रन्थों के प्रमाण दिया करते हैं और कभी-कभी तो ये पण्डित लोग किन्हीं भट्टारकों के नाम पूर्वाचार्यों के नाम जैसे हों तो उन्हें प्राचीन आचार्य बतला कर भोले लोगों को धोखा दिया करते हैं॥ जैसा कि ये उमास्वामिश्रावकाचार, शिवकोटि की रत्नमाला, पूज्यपादश्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार, देवनन्दि-गुणभद्र के अभिषेक पाठ आदि ग्रन्थों के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये सब ग्रन्थ उन्हीं प्राचीन आचार्य उमास्वामि, पूज्यपाद, शिवकोटि आदि के बनाये हुए हैं। इसी तरह ब्रह्म० सूरजमलजी जो श्रीशिवसागरजी महाराज के कृपापात्र ब्रह्मचारी हैं उन्होंने स्वरचित "स्त्री द्वारा जिनाभिषेक" पुस्तक में अपभ्रंश-महापुराण के कर्ता कवि पुष्पदंत को महासिद्धांत के कर्ता भूतबलि पुष्पदंत बतला कर धोखा दिया है। इस तरह की चालाकी से किसी विषय का निर्णय करना योग्य नहीं है। ये पण्डित तो जो हैं सो हैं ही 'किन्तु आजकल के कतिपय नग्नभेषी जैन-साधु भी पन्थ-व्यामोह में पड़कर बिना पंचामृताभिषेक के देखे गोचरी पर ही नहीं उतरते हैं। उनको जानना चाहिये कि उनकी ऐसी पद्धति से समाज में अशांति का वातावरण बनता है। वीतराग मार्ग के पथिक होकर श्रावकीय क्रियाओं में भाग लेकर समाज में विद्रोह पैदा करना मुनियों का काम नहीं है। कलिकाल न करे सो थोड़ा है। ऐसों को ही लक्ष्य करके शास्त्रों में एक पुरातन श्लोक लिखा मिलता है—

पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :—चरित्र-भ्रष्ट पंडितों ने और वठर (ज्ञान शून्य) साधुओं ने भगवान् जिनचन्द्र के निर्मल शासन को मलिन कर दिया है।

(१३) गजांकुशः—इनका बनाया अभिषेक पाठ 'अभिषेक पाठ संग्रह' में छपा है। इनकी इस कृति पर से कुछ पता नहीं लगता है कि ये कब हुये और इनकी गुरु परम्परा क्या थी ? ऐसा लगता है कि शायद हस्तिमल्ल का ही अपरनाम गजांकुश हो। ये हस्तिमल्ल वे ही हैं जो १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुये हैं जिन्होंने संस्कृत में 'विक्रान्त-कौरव' आदि नाटकों की रचना की है। इन्होंने प्रतिष्ठा ग्रन्थ भी लिखा है इससे ये क्रियाकांडी विद्वान् भी जान पड़ते हैं। ये गृहस्थ पण्डित थे। अर्यपार्य्यकृत प्रतिष्ठा-शास्त्र की प्रशस्ति में लिखा है कि पांडच राजा के मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के कारण इनका 'हस्तिमल्ल' नाम पड़ा। इसका पर्याय नाम गजांकुश भी हो सकता है।

प्रभाचन्द्राचार्य कृत एक क्रियाकलाप ग्रन्थ है। कहते हैं कि उसके तीसरे अध्याय में गजांकुश का उक्त अभिषेक पाठ संगृहीत है किन्तु जैन-सन्देश शोधांक १ जून १९६१ में क्रियाकलाप का परिचय लेख छपा है उसमें इसके दो अध्याय ही बताये हैं। सामायिक पाठ की टीका प्रभाचन्द्र कृत है उसमें अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत के पद्य पाये जाते हैं। इससे ये प्रभाचन्द्र पं० आशाधर के बाद हुये हैं। सम्भवतः गजांकुश-अभिषेक पाठ के टीकाकार प्रभाचन्द्र भी आशाधर के उत्तरकाल के ही होंगे।

(१४) अभिषेक पाठ ग्रंग्रह में एक अभिषेक क्रम नाम का पाठ छपा है उसमें गजांकुश आदि कुछ ग्रन्थकारों के इस विषय के श्लोकों का संकलन किया गया है। यह संकलन पं० आशाधर ने किया है ऐसा कहना गलत है क्योंकि इस संकलन में पं० आशाधर जी के नित्यमहोद्योत के भी कुछ पद्य संगृहीत हैं। इसलिये इस पाठ का संकलन आशाधर जी के बाद किसी अन्य विद्वान् ने किया है। पं० आशाधरजी तो स्वतन्त्र ग्रन्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचने की योग्यता रखते थे। उनके द्वारा इस तरह के संकलन की संभावना नहीं की जा सकती है। और जब कि उन्होंने इस विषय का नित्यमहोद्योत नामका एक स्वतंत्र ग्रंथ बना दिया है तो फिर उनको ऐसे पाठों के संकलन की क्यों जरूरत हुई ?

(१५) शुभचन्द्रकृत सिद्धचक्राभिषेक अभिषेक पाठ संग्रह में छपा है। ये ईडर गद्दी के भट्टारक सकलचन्द्र की शिष्य परम्परा में हुये हैं। धुलेव के श्री ऋषभदेव जी के मंदिर में सं० १६१२ में इन शुभचंद्र द्वारा प्रतिष्ठित कई मूर्तियाँ हैं अतः ये भट्टारक थे। यथार्थ दिगंबर ऋषि मूर्तियों की प्रतिष्ठा नहीं कराया करते हैं।

(१६) सकलभूषण—षट्कर्मोपदेश रत्नमाला ग्रन्थ के कर्ता। इस ग्रन्थ में पंचामृत लिखा है। यह ग्रन्थ वि० सं० १६२७ में बना है। उक्त शुभचंद्र भट्टारक के शिष्य सुमतिकीर्ति के ये सकलभूषण गुरुभाई लगते हैं।

(१७) सिंहनन्दि—णमोकार कल्प (पंचनमस्कारदीपिका) के कर्ता। इस ग्रन्थ में पंचामृत लिखा है। इसकी रचना वि० सं० १६६७ में हुई है। इनके गुरु भट्टारक शुभचन्द्र थे। ऊपर लिखे शुभचंद्र से ये शुभचन्द्र जुदा हैं। वे शुभचन्द्र बलात्कारगण में हुये और ये सेनगण में हुये हैं। (देखो जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह प्रथम भाग पृ० २४)

(१८) ब्रह्म० नेमिदत्त—नेमिपुराण, श्रीपालचरित्रादि ग्रन्थों के कर्ता। ये अग्रवाल जाति के थे। गोयल इनका गोत्र था। मालव देश के आशानगर के रहने वाले थे। भट्टारक मल्लिभूषण इनके गुरु थे। सं० १५८५ में इन्होंने श्रीपाल चरित्र की रचना की थी। ये ब्रह्मचारी थे। न भट्टारक थे और न मुनि। (देखो राजस्थान प्रशस्ति संग्रह की प्रस्तावना पृष्ठ ११)

(१९) अलंकदेव—प्रतिष्ठापाठ के कर्ता। ये अकलंक देव वे प्राचीन आचार्य अकलंकदेव नहीं है जो राजवार्तिक आदि के कर्ता थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठापाठ के कर्ता अकलंकदेव ने नेमिचंद्र प्रतिष्ठापाठ का उल्लेख किया है अतः ये नेमिचंद्र के बाद १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुये हैं। इनका विशेष परिचय श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के ग्रन्थ-परीक्षा में देखें।

(२०) श्रुतसागर सूरि—षटपाहुड़ आदि ग्रन्थों के टीकाकार। इनका समय १६वीं शताब्दी है। सूरत की भट्टारकीय गद्दी के भट्टारक विद्यानन्दि के शिष्य थे। किन्तु विद्यानन्दि के ये पट्टधर शिष्य नहीं थे। पट्टधर शिष्य मल्लिभूषण थे। श्रुतसागर ने अपने बनाये मुकुटसप्तमी कथा, षोड़शकारण कथा, सुगन्धदशमी कथा, तपोलक्षणपंक्ति कथा, विमानपंक्ति कथा, पल्यविधान कथा और महाभिषेक टीका इन ग्रन्थों में अपने को 'देशव्रती' लिखा है।

षट्पाहुड़ की टीका के वक्त ये साधु भी हो गये हों तो भी ये भट्टारक ही हुये होंगे, क्योंकि षट्पाहुड़ की टीका में प्रतिपक्षियों के प्रति जो उद्गार इन्होंने प्रकट किये हैं वे श्रेष्ठ मुनि के योग्य नहीं हैं। इन्होंने दर्शन पाहुड़ की गाथा की टीका में लिखा है कि—"यदि ते मिथ्यादृष्टयः जिनसूत्र-मुल्लंघंते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीयाः। तथापि यदि कदाग्रहं न मुंचंति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिर्गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः तत्र पापं नास्ति।" इसमें बताया है कि अगर वे मिथ्यादृष्टि जिनसूत्र का उल्लंघन करते हैं तो आस्तिकों को चाहिये कि वे युक्ति से समझा कर उन्हें मना करें। इतने पर भी यदि वे कदाग्रह को न छोड़ें तो समर्थ आस्तिकों को विष्टा से भरे जूते उनके मुँह पर मारने चाहिये, इसमें पाप नहीं है।

शत्रु-मित्र पर समदृष्टि रखनेवाले और "मध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ" की भावना रखने वाले एक उत्तम जैन मुनि इतना कठोर और असभ्य आदेश नहीं दे सकते हैं। श्रुतसागर ने इस कथन के समर्थन के लिए गुणभद्र कृत उत्तर-पुराण का यहाँ हवाला दिया है सो ठीक नहीं हैं क्योंकि गुणभद्र का कथन जैनधर्म पर अत्याचार करने वालों के निवारण के लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। जबकि श्रुतसागर का कथन जबरदस्ती अजैनों को जैन सिद्धान्त मनाने के लिये हैं। इस तरह गुणभद्र और श्रुतसागर के कथन में बड़ा अंतर है। इन श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति में कुछ कथन सिद्धान्तविरुद्ध भी किया है जिसका दिग्दर्शन उसकी प्रस्तावना में किया गया है। जैसे—एकेन्द्रिय जीवों के असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन बताना। प्रथमोपशम सम्यक्त्वी के पाँच के बजाय सात प्रकृतियों का उपशम बताना आदि। इसके अलावा इस वृत्ति में हमारी नजर में भी विरुद्ध कथन आया है कि इसके तीसरे अध्याय के पैंतीसवें सूत्र में लिखा है कि—"पुष्करार्द्ध द्वीप की नदियाँ मानुषोत्तर पर्वत के बाहर नहीं जाती हैं" जबकि हरिवंश पुराण अध्याय ५ श्लोक ५९६, त्रिलोकसार गाथा ९३७, त्रिलोक प्रज्ञप्ति गाथा २७५२ में १४ गुफाओं द्वारा १४ नदियों का मानुषोत्तर पर्वत से बाहर जाना बताया है। नदियों के बाहर जाने पर ही वे पुष्करवर समुद्र में प्रवेश कर सकेंगी। बाहर नहीं जायेंगी तो उनका जल कहाँ समायेगा ? इस वृत्ति के अध्याय ९ सूत्र ४७ में द्रव्यलिंग की व्याख्या करते हुये श्रुतसागर ने "असमर्थ और दोषयुक्त शरीर वाले साधुओं के लिये अपवाद-रूप से वस्त्र ग्रहण का, कम्बल ओढने का विधान किया है और लिखा है कि शीत काल निकल जाने पर असमर्थ साधु कम्बलादिक छोड़ दें।"

किन्तु यहाँ श्रुतसागर ने यह स्पष्ट नहीं किया कि जो दोषयुक्त शरीर वाले साधु हैं और लज्जा निवारण के लिये ही जिन्होंने वस्त्र ग्रहण किया है वे भी कभी वस्त्र छोड़े या नहीं और ऐसे साधु के फिर लज्जा परीषह का जीतना भी कैसे हो सकेगा ? श्रुतसागर ने बोध पाहुड़ की १७ वीं गाथा की टीका में मुनियों के शरीर में तैल मलने का भी उपदेश दिया है इत्यादि शिथिलाचार का पोषक व्याख्यान श्रुतसागर ने किया है। मुनिवृत्ति को विकृत करने के साथ ही श्रावकों की पूजा-पद्धति को भी श्रुतसागर ने विकृत किया है। उसके भी नमूने देखिये—

व्रतकथाकोष में श्रुतसागर ने मुकुटसप्तमीव्रत की विधि बताते हुये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिखा है कि जिन प्रतिमा के गले में फूलों की माला पहनावे और प्रतिमा के सिर पर फूलों का मुकुट रखे और आकाशपंचमीव्रत की विधि में बताया है कि भाद्रपद शुक्ला पंचमी को उपवास कर रात्रि में जिनमन्दिर में खुले आकाश में सिंहासन पर चार जिनप्रतिमाओं को विराजमान कर प्रहर-प्रहर में उनका अभिषेकादिक करे एवं चंदनषष्ठीव्रत की विधि में लिखा है कि भाद्रपदकृष्णा षष्ठी के दिन उपवास करके रात्रि में चंद्रोदय होने पर चंद्रप्रभु भगवान् का पंचामृत से अभिषेक करके कूष्मांड आदि का अर्घ देवे तथा दुग्धद्वादशीव्रत की विधि में लिखा है कि एक तपेला में दुग्ध भर कर उसमें जिनप्रतिमा को रात भर डुबोई रखे, बाद में निकाल ले।

इन कथनों से जान पड़ता है कि इन भट्टारकों ने कैसे-कैसे विचित्र कथन किये हैं।

इस प्रकार पंचामृताभिषेक की सिद्धि के लिये अब तक जितने भी आगमप्रमाण दिये गये हैं उन सब पर हमने यहाँ ऊहापोह किया है और इतिहासादि की दृष्टि से यह बताया है कि उनमें एक प्रमाण भी मूल संघ के मान्य आचार्य का नहीं है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि हमारे यहाँ मूलसंघ में बहुत पहले तो ऐसे मुनियों का समुदाय था जो शास्त्रोक्त मुनिचारित्र का पालन करता था। इस समुदाय में धरसेन, भूतबलि, पुष्पदंत, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि मुनीश्वर हुये। तदुपरान्त कालदोष से मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनि विरले रह गये। और उनके साथ शिथिलाचारी मठवासी नग्न भेषी साधुओं का प्रादुर्भाव हो गया, ये जागीरें रखने लगे। मठ-मन्दिरों में रहने लगे। राजसभाओं में जाने लगे। ये भी अपने को मूलसंघी ही बताते रहे। होते-होते आगे चलकर तो दिगंबर सम्प्रदाय में साधुओं में वस्त्र धारण भी शुरू होगया। ये वस्त्रधारी होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी मुनि कहलाते थे और अपने आपको मूलसंघी बताते थे। इस प्रकार दिगंबर मत में मूलसंघ में तीन प्रकार के मुनि हुये हैं—

(१) यथार्थ श्रेष्ठमुनि (२) शिथिलाचारी नग्नमुनि (३) सवस्त्र मुनि। इनमें से पिछले दो भेदों को हम 'भट्टारक' नाम से कहते हैं अर्थात् नग्न भट्टारक और सवस्त्र भट्टारक। मूलसंघ के इन दोनों भट्टारकों की गणना पूर्वाचार्यों के मत अनुसार पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियों में होती है और यापनीय, द्राविड़ काष्ठा संघ आदि साधुओं की गणना उन्होंने जैनाभासों में की है। भट्टारकीय उल्लेखों से पता लगता है कि दिगम्बर जैनधर्म में मूलसंघ में भट्टारकों की दो परम्परा रही हैं—एक सेनगण की और दूसरी बलात्कारगण की। सेनगण वाले भट्टारक अपने को पुष्कर-गच्छ के कहते हैं और वृषभसेनान्वय लिखकर अपनी बुनियाद वृषभसेन (ऋषभदेव के गणधर) से शुरू करते हैं। इस परम्परा में त्रिवर्णाचार के कर्ता सोमसेन आदि भट्टारक हुये हैं। दूसरी परम्परा के बलात्कार-गणवाले भट्टारक अपने को सरस्वती गच्छ का कहते हैं। और कुन्द-कुन्दान्वय लिखकर अपनी बुनियाद कुन्दकुन्दाचार्य से शुरू करते हैं। इस परम्परा में बहुत भट्टारक हुये हैं और उनके अच्छे-अच्छे विद्वान् शिष्य हुये हैं। इन भट्टारकों व शिष्यों ने बहुत सा जैन साहित्य निर्माण किया है। साथ ही इन्होंने बहुत सी जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएँ भी की हैं। बलात्कारगण में कारंजा शाखा, लातूर शाखा, दिल्ली-जैपुर शाखा, नागौर-शाखा, अटेर-शाखा, ईडर-शाखा, भानपुरा-शाखा, सूरत-शाखा और जेरहट-शाखा में बहुत भट्टारक हुए हैं। इनमें उत्तरप्रदेश की शाखाओं के मूल आधार भट्टारक पद्मनन्दि हुये हैं। उनका समय वि० सं० १३८५ से १४५० तक का है। उनके तीन प्रमुख शिष्य—(१) शुभचन्द्र (२) सकलकीर्ति और (३) देवेन्द्रकीर्ति हुये। शुभचंद्र से दिल्ली-जयपुर की शाखा चली। सकलकीर्ति से ईडर की शाखा चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की शाखा चली। अन्य शाखायें इन्हीं के शिष्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रशिष्यों से चली हैं। सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, श्रुतसागर और ब्रह्मनेमिदत्त आदि प्रचुर साहित्यकार इसी बलात्कारगण के भट्टारकों में हुये हैं। सेनगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसंघ, पुष्करगच्छ वृषभसेनान्वय का प्रयोग करते हैं और बलात्कारगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसंघ सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दान्वय का प्रयोग करते हैं। भूमिदान लेने, मूर्तियों पर प्रतिष्ठा लेख लिखने और ग्रन्थ प्रशस्तियों में ऐसे शब्द प्रयोगों का इन्होंने उपयोग किया है। हमारा अपना ऐसा खयाल है कि इस प्रकार के शब्दप्रयोग शिथिलाचारी नग्न भट्टारकों या सवस्त्र भट्टारकों ने ही किये हैं। मूलसंघ के मान्य प्राचीन आचार्यों ने नहीं किये हैं। इन भट्टारकों ने अपने को जो मूलसंघ के बताये हैं वह इस अपेक्षा से बताये हैं कि उनके समय में काष्ठासंघादि अन्य संघों के भट्टारकों का भी अस्तित्व था उनसे पृथक् करने के लिये अपने को इन्होंने मूलसंघी लिखा है। मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनियों की जैसी चर्या लिखी है उस दृष्टि से इन्होंने अपने को मूलसंघी नहीं लिखा है क्योंकि इन्होंने स्वरचित ग्रन्थों में मुनियों की चर्या प्रायः वैसी लिखी है जो प्राचीन मूलसंघ के आचार्यों ने प्रतिपादन की है। हाँ, श्रुतसागरादि किन्हीं-किन्हीं ने शिथिलाचार का भी कहीं-कहीं पोषण कर दिया है और ये भट्टारक यह जानते हुए भी कि अपने से शास्त्रोक्त मुनिचर्या का पालन नहीं होता है तब भी ये अपने को मुनि, यति, गणी, सूरि आदि नामों से उल्लेखित करते रहे हैं। इसका कारण यह था कि मुनि या श्रावक ये दो ही तो श्रेणी हैं तो ये अपने को मुनि नहीं लिखते तो क्या श्रावक लिखते? श्रावक लिखने पर इनका दर्जा ऊँचा कैसे होता? और पालकी में बैठकर अपने ऊपर चँवर कैसे ढुलवाते? राजाओं द्वारा मान्यता कैसे प्राप्त करते? और श्रावकों पर शासन भी कैसे करते? इसलिये इन्होंने अपने आपको मुनि कहलाना ही उचित समझा। इसके लिये ये शुरू में दीक्षा लेते वक्त नग्नलिंग धारण करके मुनि बनने की रस्म भी पूरी कर लेते थे। बाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में काल दोष का बहाना लेकर तत्कालीन पंचों के आग्रह से वस्त्र ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार की प्रवृत्ति चाहे इन्होंने किसी भी परिस्थितिवश की हो तथापि हम उसे 'उत्सूत्र प्रवृत्ति' ही कहेंगे और उनके ऐसे मार्ग को हम भट्टारक-पंथ के नाम से पुकारेंगे। जिस प्रकार श्वेतांबर मत में वस्त्रधारी मुनि माने जाते हैं उसी तरह दिगंबर मत में वस्त्रधारी भट्टारक मुनि माने जाते हैं और जिस प्रकार श्वेतांबर मत में जिन प्रतिमा की पूजा पद्धति में पंचामृत से अभिषेक करना, शासन देवों की उपासना करना आदि विधान हैं उसी तरह दिगम्बर मत के भट्टारक पंथ में भी ऐसे विधान हैं। इसलिये यापनीय, द्राविड़ आदि की तरह भट्टारक पंथ भी अप्रमाण है जिसे यथार्थ मे मूलसंघ कहना चाहिये उसके शास्त्रों में पंचामृताभिषेक का विधान कतई नहीं है। तिलोयपण्णत्ति आदि में भी पंचामृताभिषेक नहीं है। माथुर संघी अमितगति के श्रावकाचारादि ग्रंथों में भी पंचामृताभिषेक का नितांत अभाव है।

जैनधर्म में सबसे प्रथम पंचामृताभिषेक का विधान श्वेतांबर मत में था दिगम्बर मत में नहीं था। आगे चलकर इसका प्रवेश दिगंबर मत में अनुमानतः ऐसे हुआ कि विमलसूरि ने प्राकृत भाषा में एक पउमचरिय नामक कथा ग्रन्थ बनाया है यह ग्रन्थ पूर्णतः श्वेतांबर आम्नाय का न होकर भी बहुत सी बातें इसमें दिगम्बर मूलसंघ सम्मत नहीं हैं। और तो क्या इसमें एक जगह मुनि का विशेषण श्वेतांबर भी लिखा मिलता है। प्रायः इसी ग्रन्थ की छाया को लेकर दिगम्बरमत के रविषेण आचार्य ने संस्कृत में पद्मचरित ग्रन्थ का निर्माण किया है। दोनों ग्रन्थों का आपस में मिलान करने से पता लगता है कि रविषेण ने विमलसूरि के पउमचरिय की अधिकांश में नकल की है। इस नकल से जाना जाता है कि कितनी ही बातें रविषेण ने विमलसूरि की मानी हैं और कितनी ही नहीं भी मानी हैं। जितनी रविषेण ने मानी है उनमें से भी कितनी ही मूलसंघ के अनुकूल नहीं हैं इससे हम कह सकते हैं कि एक ओर रविषेण की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आम्नाय पूर्णतः विमलसूरि के मत से नहीं मिलती है तो दूसरी ओर रविषेण की आम्नाय पूर्णतः मूलसंघ से भी नहीं मिलती है। ऐसी हालत में रविषेण ने पउमचरिय की नकल करते हुये अपने संस्कृत ग्रन्थ पद्मचरित में पंचामृताभिषेक का कथन किया है उसे मूलसंघ के अनुकूल नहीं कह सकते हैं। दिगम्बरमत में पंचामृताभिषेक की सिद्धि में यही सबसे प्रथम आगमप्रमाण पेश किया जाता है उसीका यह हाल है। इसी के अनुसार हरिवंश पुराण में जिनसेन ने लिख दिया है। उसी को मूलसंघ के कहलाने वाले भट्टारकों ने भी अपना लिया है। इसीके फलस्वरूप आज दिगम्बर सम्प्रदाय में दो दल दिखाई देते हैं—तेरापंथ और बीसपंथ। इसमें तेरापंथ प्राचीन मूलसंघ का पक्षपाती है और बीसपंथ अर्वाचीन मूलसंघ का।

इस लेख में की हुई छान-बीन के आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि—वस्तुतः जो मूलसंघ के ग्रन्थ हैं उनमें किसी एक में भी पंचामृताभिषेक का विधान नहीं है। ऊपर जिन ग्रन्थों के विषय में चर्चा की गई है उनके अलावा भी कितने ही ग्रन्थ और भी मिल सकते हैं जिनमें पंचामृताभिषेक का विधान हो। किन्तु जाँच पड़ताल करने पर वे भी या तो भट्टारक प्रणीत निकलेंगे या किन्हीं गृहस्थ विद्वानों द्वारा रचे हुये। जैसे कि पं० आशाधर, पं० मेधावी आदि ने रचे हैं। अपभ्रंश महापुराण के कर्ता पुष्पदंत ने भी पंचामृताभिषेक लिखा है। पर वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे। इसी तरह 'पउमचरिउ' आदि अपभ्रंश ग्रन्थों के कर्त्ता स्वयंभू ने भी पंचामृताभिषेक लिखा है वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे, वे यापनीय संघीय थे।

इसलिये विवेकी श्रावकों का कर्तव्य है कि वे भगवान् का अभिषेक स्वच्छ जल से ही करें, करावें। यही निर्दोष मूलसंघ सम्मत सनातन की रीति है और इसी में कल्याण है। इतना सा ज्ञान तो मंद बुद्धियों को भी है कि—दही दूध घृत ये खाने की चीजें हैं—स्नान करने की चीजें नहीं हैं। स्नान तो जल से ही होता है और यही आबालगोपाल प्रसिद्ध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थंकरों के चरित्रों में भी उनका जन्माभिषेक राज्याभिषेक और दीक्षाभिषेक जल से ही किया गया है तो फिर उन तीर्थंकरों की मूर्तियों का अभिषेक भी जल से ही करना चाहिये। अभिषेक का प्रयोजन भक्ति के साथ-साथ मूर्ति की सफाई होना भी है इस सफाई के लिए जल से स्नान कराना ही उत्तम कहा जा सकता है घृत दुग्धादि से स्नान कराने से मूर्त्तियों की सफाई तो नहीं होगी उल्टी वे चपचपी व समल होकर बिगड़ जायेंगी और उनपर चींटियाँ आदि जन्तुओं का भी संचार होने लगेगा एवं मक्खियाँ भी भिनभिनाने लगेंगी तथा अभिषेक हुए बाद पंचामृत को जहाँ भी डाला जायगा वहाँ ही जीवों का प्रचुर संचार और जीवों की उत्पत्ति होगी उससे जीवहिंसा का प्रसंग आवेगा। इस तरह पंचामृताभिषक अप्रयोजनभूत और सावद्यमय सिद्ध होता है। इसलिए आगम और युक्ति दोनों ही से पंचामृताभिषेक करना योग्य नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट

१—["प्राकृत भाषा के प्रति हमारी उपेक्षा" पृ०४]

'प्रपद्यामि' का प्राकृत नियमानुसार 'पवज्जामि' (दो जकार) रूप बनता है और 'प्रव्रजामि' का 'पव्वजामि' (दो वकार) बनता है किन्तु प्राकृत में विकल्प से 'पव्वज्जामि, (दो वकार तथा दो जकार) रूप भी बन जाता है।

संसकिरत कूप-जल कबीरा भाषा बहता नीर।
जब चाहो तब ही बूड़ो शांत होय शरीर॥

—श्री कबीरदास जी

जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषें जिन हरिचरित बखाने।
भये जे अहहिं जे होंहहिं आगे, प्रणवउँ सबहि कपट सब त्यागे॥

—श्री तुलसीदासजी (रामचरितमानस)

२—["मंगलोत्तमशरण पाठ" पृ० १११]

जिनसहस्रनाम (आशाधर कृत) के अंत में—

(१६) इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुल्वणम्।
इदं मंगलमग्रीयमिदं परमपावनम् ॥१४१॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार (मेधावीकृत)

(१७) लोकोत्तमाः शरणमंगलमंगभाजामर्हद्विमुक्तमुनयो जिनधर्मकश्च।
ये तान्नमामि च दधामि हृदम्बुजेऽहं संसारवारिधिसमुत्तरणैकसेतून्॥

३—["दर्शन का अर्थ मिलना" पृ० २२०]

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के श्लोक १३२ में जो 'दृष्ट्वा' पद है, उसका अर्थ 'देखकर' करना गलत है। उसका अर्थ 'मिलकर' करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, पर्व ६२ श्लोक १२८ "नापूर्वो नः स पश्यताम्" का अर्थ ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० १४६ में इस प्रकार किया है—

"हमारे लिये यह अपूर्व आदमी नहीं, जिससे कि देखा जावे"।

समीक्षा—यहाँ 'पश्यतां' का अर्थ जो 'देखा जावे' किया है, वह ठीक नहीं है, उसकी जगह 'मिला जावे' करना समुचित होगा।

इसी तरह आगें श्लोक १३०—"नाहमेष्यामि तं द्रष्टुमिति प्रत्यब्रवीदसौ" का अर्थ इस प्रकार किया है—

"त्रिपृष्ठ ने कहा कि—मैं उसे देखने के लिए नहीं जाऊँगा।"

समीक्षा—यहाँ भी 'द्रष्टुम्' का अर्थ 'देखने के लिए' किया गया है किन्तु वह ठीक नहीं है। 'मिलने के लिए' अर्थ होना चाहिए।

इस तरह उपर्युक्त प्रकरणों में दर्शनार्थक क्रियाओं का 'मिलना' अर्थ करना ही सुसंगत है।

दर्शनार्थक धातुओंका 'देखना' अर्थ शाब्दिक है और 'मिलना' अर्थ भावात्मक है, जहाँ जैसा संगत हो वैसा ही अर्थ करना चाहिए तभी वह फबता है और ठीक अभिव्यक्ति होती है।

४—["चमर" पृ० २२१]

दर्शनसार की गाथा ३४ में–चमरी गाय की पिच्छी रखने से काष्ठा संघ को उन्मार्गगामी, मिथ्यात्वी बताया है।

'स्याह' का अर्थ 'काला रंग' होता है और उसीसे 'स्याही' शब्द बना है किन्तु दूसरे रंगों से बनी भी 'स्याही' ही कहलाती है। इसी तरह 'तिल' से 'तैल' बना है किन्तु सरसों, मूंगफली आदि से निकला भी 'तैल' ही कहलाता है। अक्षत (चावल) से 'आखा' बना है किन्तु जौ गेहूँ आदि धान्यों को भी 'आखा' कहा जाता है।

उसी तरह गोटे आदि से बना तदाकृतिमान् भी 'चमर' ही कहलाता है इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इसी को तो 'निक्षेप' कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५—["पंचोपचारी पूजा" पृ० २६५]

संस्कृत पंचपरमेष्ठी पूजा दूधगाँव से प्रकाशित हुई है इसमें साधु-पूजा तक का अंश ही छपा है—अभिषेक और प्रशस्ति भाग छपने से रह गया है जो ब्यावर के ए० पन्नालाल सरस्वती भवन की प्रतियों में उपलब्ध है। प्रशस्ति से ये यशोनन्दि भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य ज्ञात होते हैं। यह रचना १६वीं शती की है और इसमें पंचोपचार है।

६—['तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है' पृ० ३५५]

यशोनन्द्याचार्यकृत—'पंचपरमेष्ठी पूजा' (संस्कृत)

क्रोशांस्छताष्टकमितानसुमद्रुजाधि-
दौर्भिक्ष्यदुर्गतिहराय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२१॥ (पृष्ठ ५)
शताष्टकक्रोशमितप्रदेशे, सौभिक्षमक्षीणमनीतिनीति।
यतः प्रजायेत शमङ्गिनां तत्, सुभिक्षताकारि जिनं यजामि ॥१२॥
—ओंह्रीं गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षक्षेमकारिणे श्रीजिनाय अर्घम् ॥
(पृ० २१)

इसमें आठसौ कोश तक सुभिक्ष होने की बात कही है। जबकि 'नन्दीश्वर भक्ति' के 'गव्यूतिशतचतुष्टय' पदमें 'गव्यूति' का अर्थ प्रभाचन्द्र ने एक कोश करके चारसौ कोश तक सुभिक्ष होना सूचित किया है। यशोनन्दिने गव्यूति का अर्थ दो कोश करके आठसौ कोश सुभिक्ष बताया है इससे स्पष्ट फलित होता है कि यह एकसौ योजन (चारसौ कोश) और दोसौ योजन (आठसौ कोश) की मान्यता का भेद गव्यूति शब्द के एक कोश और दो कोश अर्थ से ही उत्पन्न हुआ है।

७—["विधा के आहार अर्थ पर" पृ० ३८८]

कलौ कष्टं तपस्विनः (आत्मानुशासन) के पं० टोडरमलजी कृतभाषा अनुवाद पर इन्द्रलालजी शास्त्री ने बनारस के उक्त शास्त्रीद्वय से निर्णय माँगा था उन्होंने पं० टोडरमलजी सा० के अर्थ को बिल्कुल ठीक बताया था।

८—["भक्तामर स्तोत्र" पृ० ३४१]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विष्वग्विभो सुमनसः किल वर्षयन्ति,
न्यग्-बन्धनाः सुमनसः किमुताऽऽवहन्ति ।
सत्सङ्गाताविह सतां जगती समस्ता,
मामोदनां विहसतामुदयेन धाम्ना ॥ १ ॥
द्वेधाऽपि दुस्तरतमःश्रम-विप्रणाशा-
दुद्यत्सहस्रकर-मण्डल-सम्भ्रमेण ।
वक्षे प्रभोर्वपुषि काञ्चन काञ्चनानां
प्रोद्धोद्धतं भवति कस्य न मानसानाम् ॥ २ ॥
दिव्यध्वनिर्ध्वनितदिग्वलयस्तवाऽऽर्हन्
व्याख्यातरुत्सुकय तेल्लशिवाध्वनोनात् ।
तत्त्वार्थदेशनविधौ ननु सर्वजन्तु-
र्भाषा विशेषमधुरः सुरसार्थ ये ह्य ॥ ३ ॥
विश्वेक यत्र भटमोह महीमहेन्द्रं
सद्यो जिगाय भगवान् निगदन्निवेयम् ।
सन्तर्पयन् युगपदे मव यानि पुंसां
मन्द्रध्वनिर्नदति दुन्दुभिरुच्चकैस्ते ॥ ४ ॥

नोट—ये भिन्न चार अतिरिक्त श्लोक और मिलते हैं। भक्तामर स्तोत्र के ३२–३३–३४–३५ श्लोक में जिन ४ प्रातिहार्यों का वर्णन है वही इनमें हैं, ये अर्थकी दृष्टि से काफी सदोष हैं अतः कविकृत ज्ञात नहीं होते। इस प्रकार के २–३ तरह के श्लोक मिलने से किसी ने निर्णयाभाव में सबको ही छोड़ दिया हो (जिससे ४ प्रातिहार्य छूट गये) और एक बार यह परंपरा चल पड़ी तो फिर श्वे० समाज में रूढ़ ही हो गई जो आज श्वे० समाज के ३२ से३५ तक के चार श्लोक न मानने का कारण प्रतीत होती है।

बुद्धिमांद्यवशान्किंचिद् यदशुद्धमलेखि तत् ।
द्वेषभावं समुत्सृज्य शोधनीयं मनीषिभिः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ-संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	चत्वारि मंगलानि	चत्वारो मंगलं
२१	७	तटाशु	तटांशु
२१	१८	१३ वाँ	३१ वाँ
३३	१५	पद्मप्रभ	पद्माभ
४०	१०	हत्थ	इत्थ
४२	२५	निजकल्पी	जिनकल्पी
४४	१२	वल्कल	वल्कलंज
४७	१३	जाहा	जाया
४८	२५	पावह	पावइ
५१	४	शुभ	शुद्ध
५८	२५	सहस्र	सवस्त्र
६०	२०	हुआ हो तो	हुआ होता तो
६३	५	उत्तम	सो उत्तम
६६	८	निराकार	नराकार
६९	२६	यह	में यह
७०	१२	पात्र में	के पात्र में
७२	१३	पारण	पारणा
७९	१	तो भेद	दो भेद
७९	१८	म समाधि	समाधि
८१	१६	माना	मानना
८२	१	की	कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१८	पूठा	पूजा
१४४	१८	जिनस्था	जिनस्तथा
१६९	१६	भाग २	भाग २ पृष्ठ ३६३
१७५	२१	९ नाम दिये हैं	९ नाम नहीं दिये हैं
१९७	२६	अपने पूर्व लेख में	पूर्व में
२०४	८	कह जोग	यह जोग
२११	२३	सवर्थान्नान्	सर्वथान्तान्
२१३	९	उन्हीं	उन्होंने
२१४	२५	अहिंसा से	अहिंसा में
२१६	७	हिसाम्	हिंसाम्
२१८	३	न पश्येत्	न वै पश्येत्
२२१	५	चमरुह	चमरीरुह
२२१	११	योग्य नहीं है	योग्य है, केशनि का चमर बनाना योग्य नहीं है
२२३	१	होने हर भी	होने पर भी
२२४	१६	करता मात्र	करना मात्र
२२४	२१	बनाने का	बताने का
२२६	३	साद	सितोदर
२३३	६	वेद	भेंद
२४३	११	वासियहिं	वासिया इहिं
२५२	१७	माना चाहिए	माना जाना चाहिए
२५९	७	सोदम्मो	सोहम्मो
२६०	७	विवह	विविह
२६२	९	गंधीदीन्	गंधादीन्
२६२	२१	एव	एष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६३	१४	हुता	हूता
२६४	९	गृहीध्वं	गृह्णीध्वं
२७३	१७	अमुत्तो	अमुत्ति
२८५	२६	मनुष्यों में वृद्धिह्रास	मनुष्यों का वृद्धिह्रास भरतैरावत क्षेत्र का वृद्धिह्रास
२९२	६	लोक व्युच्छित्ति	लोक विनिश्चय
२९५	१७		
२९२	१०	लोय विछिण्णय	लोय विणिच्छय
३०६	२१	भव, बदल	× ×
३११	५	रतना	रहना
३१३	८	कत्पातीत	कल्पातीत
३१४	१७	कुल एक	कुछ एक
३१९	८	होती हैं।	होती हैं।[1]
३२०	९	यिया	दिया
३२८	१	है	की है
३३८	३	क्रतगतान्	क्रमगतान्
३४०	२४	वहीं	वहीं-४८ नंबर पर ही
३४१	५	पाठक	पाठ
३४४	३	१	२
३४४	२१	२	१
३४५	११	नाशियां	नशियां
३४६	शीर्षक	कों १११ वाँ	की १११ वीं
३५६	२	भोजनं	योजनं
३५७	३	एवं	एकं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५७	४	योजकार्धं	योजनार्धं
३५८	७	योजनां	योजनानां
३५९	१९	सुहासरा	सुहासए
३६१	१०	सन्त	सत्त
३६१	१२	सयिल	सीयल
३६३	४	चिहि	विहि
३७१	२२	किन्तु (अव्यय)	किन्नु (अव्यय)
३७६	७	त्यागो वर्ज्य	त्यागो वर्य्य
३९०	२६		
३७६	८	चतुर्विधाः	चतुर्विधः
३७८	१	हरुपा	रुपा
३७८	२६	टोडलमल	टोडरमल
३७९	१९	प्रकारकी विशुद्ध	प्रकार की विशुद्धि किया
३८५	९	द्युपेता	द्यपेता
३८५	२६	'लक्ष्मी' कहिए	'लक्ष्मी' कहिये 'श्री', 'श्रुतागमन बीज' कहिए
३९०	५	चतुर	चतुर्
२९५	१०	ठाड़े ठाड़े	बड़े बड़े
३९७	७	भूषयन्ती	भूषयन्तीं
३९७	१५	ज्ञात है	ज्ञात होता है
४०५	१४	तत्काल	तत्कालीन
४११	४	तत्थ	वत्थ
४११	५	रागोवि	एगोवि
४१२	२०	वैसा ही	वैसे ही
४१८	६	प्रतिष्ठा पाठ	अभिषेक पाठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	१३	विकलं	विमलं
१६	३	२९ वें	३९ वें
१६	१७	उनकी	उसकी
१८	१६	अपने से	छपने से
२०	१८	निर्वण	निर्व्रण
२८	४	खो	देखो
३२	२१	चाहते	चाहते हैं
४०	२१	"तो तुरुक्त वंदणीया" पाठ जान पड़ता है।	"तो तुरुका वंदणिया" पाठ है।
४९	१४	गुणस्थान ने	गुणस्थान में
५२	२३	साधु हुए	साधे हुए
५८	१४	गण	गणी
६९	९	यहाँ भी	यहाँ यह भी
८५	१	दिया	दिशा
९१	२१	ऐसे है	ऐसे हे
१६४	१४	बात की	बात को
१७४ से १७६		विमल सूरि के पउम चरिउ	विमल सूरि के पउम चरिय

नोट : प्राकृत में "पउम चरिय" होता है और अपभ्रंश में 'पउम चरिउ'

१७९	५	पर्व १७ से	पर्व १७ में
१८१	१६	भवेद्येन न	भवेद्येन
१८४	२३	एक नामं हलिप्रिय	एक नाम हलिप्रिया
१८८	२६	और बाह्य	और एक बाह्य
१८९	७	फिर	फिर भी
२११	२३	सवर्थाभान्	सर्वथान्नान्
२१६	२	विघान	विघात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३४	१	मिलते हैं।	नहीं मिलते हैं।
२३८	२०	वर	पर
२४४	१५	छाया	छाप
२५२	१७	मानना चाहिए था	माना जाना चाहिए था।
२५५	९	पुप्पक	पुष्पक
२५७	१५	धृति	धृति कीर्ति
२६५	२५	अब	जब
२७७	११	क्षपण	क्षेपण
२७९	१	उनमें	उनसे
३०६	२१	बदल	बदल नहीं सकता है।
३०६	२२	नही सकता है	+
३६१	२२	णिसुखाहु	णिसुणहु
३६२	४	मन्थय	मत्थय
३९५	१३	पर्व ४४	पर्व ४०
४०६	१	ये।	थे।
प्रकाशकीय	७ २२	अपने	द्वय ने
निबन्ध सूची	११ २०	वर्ष २	वर्ष १५
आत्म निवेदन	१३ १९	सोना है	सोना नहीं है।
प्राक्कथन	३४ ९	उसके	उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्त्यमंगलम्

जयंति त्रिजगद्व्याप्तमिथ्यात्वध्वान्तनाशिनः ।
श्रीवर्द्धमानतीर्थेशाः केवलज्ञानभास्कराः ॥१॥
प्रमाणनयनिर्णीत - वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।
हितावहं समीचीनं युक्तिमज्जिनशासने ॥२॥
कालदोषादभूत्तत्राऽपसिद्धांतविवेचना ।
युक्त्यागमविरुद्धा च विपरीतक्रियापरा ॥३॥
पक्षव्यामोह–संग्रस्ताः केचित् पण्डितमानिनः ।
यथामत्यार्हतीं वाणीमाहुः श्रद्दधतेऽपि च ॥४॥
अनाकलय्य सत्यार्थं सन्मार्गस्य विडंबनाम् ।
कृत्वैके जैनजनता-मतिं विभ्रमयन्ति च ॥५॥
सत्यासत्य-त्रिवेकायोद्धृत्य सूक्तिसुधारसम् ।
मिलापचन्द्रः शास्त्राब्धेर्व्यतरच्चेत्किमद्भुतम् ॥६॥
सत्पथ-प्रचलनाय किंचना–ऽऽलेखि विज्ञजनसम्मतं मतम् ।
तज्जिनेन्द्रनयनिर्णिनीषवो विज्ञगोष्ठिषु विमृश्य तन्वताम् ॥७॥
शास्त्रार्थ-नवनीतेनाऽनेन नूताऽस्तु भारती ।
सतां दृग्ज्ञानचारित्रदायिनी वरदायिनी ॥८॥
मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं जिनभारती ।
मंगलं साधवो नित्यं, मंगलं धार्मिका जनाः ॥९॥

• • •

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'रत्नावली' के लेखक श्री मिलापचन्द्रजी कटारिया एवं उनके पुत्र श्री रतनलालजी कटारिया केकड़ी, (अजमेर-राजस्थान) में अपने व्यवसाय में व्यस्त रहते हुए भी ज्ञान की आराधना में लगे रहते हैं। दोनों ही विद्वान् शास्त्रीय अध्ययन में तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक पद्धति को प्रमुखता देते हैं उसी अध्ययन का दिग्दर्शन इनके प्रस्तुत निबंधों में मिलता है।

इनके निबंध जनसाधारण एवं विद्वान् दोनों के लिए ज्ञातव्य सामग्री से परिपूर्ण रहते हैं।

—वंशीधर शास्त्री
एम. ए.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

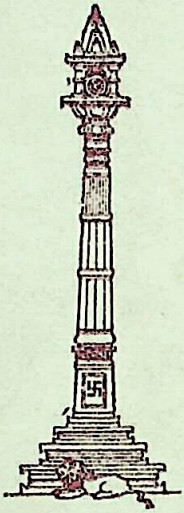

मुद्रक : महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi